UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186296

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 336.20954
M 67 Bh

Accession No. H 3455

Author मिश्र, जालुराम

Title भारतीय कर-व्यवस्था 1962.

This book should be returned on or before the date last marked below.

भारतीय कर-व्यवस्था

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—५५

भारतीय कर-व्यवस्था

लेखक

डा० बाबूराम मिश्र

एम० ए०, पी-एच० डी०, पटना विश्वविद्यालय

हिन्दी समिति

सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण, १९६२

मूल्य ११ रु०

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

जब तक भारत ब्रिटिश शासन के अधीन रहा, तब तक सरकार की वित्तीय नीति सामाजिक विकास के कार्यों को उतना महत्त्व देने की नहीं रही, जितना प्रशासन सम्बन्धी तथा सैनिक रक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं की ओर ध्यान देने की थी। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इस नीति में परिवर्त्तन होना अनिवार्य हो गया। देश की आर्थिक और व्यावसायिक उन्नति के लिए जहाँ एक ओर पंचवर्षीय आयोजनों का प्रारंभ किया गया, वहाँ दूसरी ओर करारोपण नीति एवं कर-व्यवस्था में आवश्यक सुधार करने की दृष्टि से कराधान जाँच आयोग समिति, सीमा-शुल्क पुनर्गठन समिति तथा त्यागी समिति आदि की स्थापना की गयी। इन समितियों द्वारा दिये गये सुझावों के अनुसार अब देश की वित्तीय नीति और कर-व्यवस्था में कायापलट हो गया है।

स्पष्ट है कि आर्थिक विकास की व्यापक योजनाएँ बाहरी सहायता के बल पर पूरी नहीं की जा सकतीं। उनके लिए जनता का घनिष्ठ सहयोग अत्यावश्यक है और यह जनता को कर-व्यवस्था का सही ज्ञान होने पर ही प्राप्त हो सकता है। हिन्दी में अभी तक कोई आधिकारिक पुस्तक इस विषय की नहीं छपी। इसीलिए हिन्दी समिति ने डा० बाबूराम मिश्र द्वारा लिखित इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया है। आप इस विषय के विशेषज्ञ और आधिकारिक विद्वान् हैं। आपने आय-कर, विक्री-कर, उत्पादन-शुल्क, धन-कर, प्रति-कर, सम्पत्ति-कर आदि सभी नये-पुराने करों के इतिहास की पृष्ठभूमि में उनके राष्ट्रीय उपयोग का विवेचन करते हुए उनके प्रावधानों की व्याख्या भी की है जिससे जनसाधारण को उनकी सम्यक् जानकारी हो जा सकती है। अभी तक आय-कर, धन-कर आदि अधिनियम जनता तथा व्यवसायी-व्यापारियों आदि के लिए तद् विषयक विशद सूचना के अभाव में

एक विभीषिका से बने हुए थे। इस पुस्तक की सहायता से उनकी कठिनाई दूर हो जायगी और वे भारतीय कर-व्यवस्था से भली-भाँति अवगत हो कर उसका राष्ट्रीय महत्त्व समझ सकेंगे। आशा है कि वे देश की विकास योजनाओं की पूर्त्ति के लिए करों का अपना अपना हिस्सा जमा कर देने तथा कर-वंचन रोकने में स्वेच्छापूर्वक सहायक हो सकेंगे।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'
सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

प्रस्तावना	१
१. भारतीय आयोजन में करों का स्थान	१
२. संविधान में संघीय अर्थ-प्रबन्धन (सामान्य विवरण) (१)	३२
३. संविधान में संघीय अर्थ-प्रबन्धन (प्रशासनिक विवरण) (२)	६०
४. आय-कर	७२
५. धन-कर (वेल्थ-टैक्स)	९३
६. सम्पत्ति-शुल्क-कर (प्रापर्टी टैक्स)	११०
७. व्यय-कर	१२९
८. उपहार-कर	१४२
९. सीमा शुल्क (आयात-निर्यात कर)	१४९
१०. केन्द्रीय उत्पादन-शुल्क	१६९
११. रेलों से प्राप्त वित्त	१८७
१२. भू-राजस्व	१९७
१३. मादक द्रव्यों पर उत्पादन शुल्क	२१९
१४. विक्री-कर	२२८
१५. उपसंहार	२४१
परिशिष्ट (अ)	२५१
परिशिष्ट (ब)	२६८
परिशिष्ट (स)	२७९
परिशिष्ट (द)	३०९
परिशिष्ट (इ)	३२४
सहायक पुस्तकों की सूची	३२७
पारिभाषिक शब्दावली	३३४

प्रस्तावना

स्वतन्त्रता के पश्चात्, विशेषतः विकासवादी आर्थिक आयोजनों के प्रारम्भ से भारतीय कर-व्यवस्था का विश्लेषण नये दृष्टिकोणों से करना आवश्यक हो गया है। देश की आर्थिक स्थितियों और प्रशुल्क-नीतियों में स्वतन्त्रता के पूर्व की तुलना में विशद परिवर्तन हुए हैं। ब्रिटिश शासन-काल में सुरक्षा और सामान्य प्रशासन सम्बन्धी व्यय ही अधिक महत्त्वपूर्ण थे। जनता के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास से सम्बन्धित सरकारी प्रयत्न बड़े सीमित स्तर पर होते थे। देश में जनोपयोगी कार्यों का प्रारम्भ सरकार की दुर्भिक्ष-निवारण-नीति के अन्तर्गत सिंचाई के साधनों की व्यवस्था और रेलों के निर्माण के रूप में हुआ था। रेलों के निर्माण का मुख्य उद्देश्य सामाजिक हितों में वृद्धि की अपेक्षा प्रशासनिक और सामरिक सुविधा ही रही। लार्ड कर्जन के कार्य-काल में अपनायी गयी नयी आर्थिक नीति के अन्तर्गत देश में अमन-चैन क़ायम रखने के साथ कृषि, उद्योग और सामाजिक स्थिति की उन्नति करना भी सरकार का कर्तव्य समझा जाने लगा। उसके पश्चात् धीरे-धीरे भारत सरकार द्वारा आर्थिक और सामाजिक विकास सम्बन्धी सेवाओं को प्रश्रय दिया जाने लगा, लेकिन सम्पूर्ण ब्रिटिश शासन-काल में इन्हें आवश्यकतानुरूप प्रधानता नहीं दी जा सकी थी।

जनोपयोगी कार्यों पर व्ययों को सीमित रखने की नीति तत्कालीन बजट और करारोपण नीतियों से सम्बन्धित रही। करारोपण केवल इस उद्देश्य से होता था कि सामान्य प्रशासनिक कार्यों को चलाने के लिए पर्याप्त संसाधन सुलभ हो सकें और भारतीय अर्थ-व्यवस्था ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था के सहायक रूप में संचालित होती रहे। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत को राजकोषीय-स्वायत्तता अवश्य प्राप्त हुई, लेकिन भारत की दृष्टि से ही उसका पूर्ण उपयोग किया जाना सम्भव न हो सका। अबन्ध-नीति को प्रश्रय मिलते रहने के कारण हलके कर लगाये जाते थे। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें अपना बजट सन्तुलित रखने के लिए सभी प्रकार से प्रयत्नशील रहती थीं। परिस्थितियों के परिवर्तन से होने वाले असन्तुलन को मिटाने के लिए राजस्व में वृद्धि करने के उपायों को उतना प्रश्रय नहीं मिलता

था जितनी प्रधानता प्रशासनिक और सुरक्षा की दृष्टि से अनावश्यक व्ययों को घटाने के प्रयास को दी जाती थी। १९१९-३९ तक की अवधि में कई प्रान्तों में बजट को सन्तुलित रखने के लिए शिक्षा, सामाजिक सेवाओं और जनोपयोगी कार्यों के व्ययों में कटौती की गयी थी। सामाजिक विकास के व्ययों को गौण रखने की नीति प्रगति के सर्वथा अनुपयुक्त थी।

स्वतन्त्रता के साथ ही भारत-संघ में सैकड़ों देशी रियासतें मिली। ब्रिटिश भारत वाले कुछ प्रान्त पाकिस्तान के रूप में विलग हुए। इससे देश के औद्योगिक और कृषिक्षेत्र में जिस प्रकार का सन्तुलन पहले था वह बहुत कुछ अस्तव्यस्त हो गया। विस्थापितों के पुनःस्थापन की विकट समस्या सुलझानी पड़ी और सम्पूर्ण देश की बिगड़ती खाद्यान्न स्थिति तथा बढ़ती हुई कीमतों को नियन्त्रण में रखना अनिवार्य हुआ। इन विषम परिस्थितियों के मध्य भी करोड़ों को स्वतन्त्रता का प्रत्यक्ष अनुभव कराने के लिए उचित राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति कायम करने के क्रम पर चलना आवश्यक रहा। संविधान की रचना हुई और नागरिकों के मौलिक अधिकारों की व्याख्या तथा राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण से कल्याणमय राज्य की रूपरेखा बनायी गयी। सर्वसाधारण को अपनी इच्छा और शक्ति के अनुरूप जीवन-निर्वाह करने का समान अवसर देने की व्यवस्था प्रारम्भ की गयी। अखिल राष्ट्र के संसाधनों का इष्टतम उपयोग करके सबके लिए उचित सेवा-योजन का क्षेत्र प्रस्तुत करने और विविध उत्पादनों को बढ़ा कर देश को अधिक से अधिक सम्पन्न बनाने के कार्यक्रम पंचवर्षीय आयोजनों के रूप में प्रारम्भ किये गये।

विकास-क्रम में सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को इस ढंग से संचालित करने के प्रयत्न हो रहे हैं कि धन और उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण जनसाधारण के हितों के विरुद्ध न हो, और समाज के भौतिक तथा वित्तीय संसाधनों का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटे जिससे जनसाधारण के हितों में पर्याप्त वृद्धि हो। संक्षेप में, विकास-आयोजनों के संचालन का प्रमुख उद्देश्य आर्थिक उन्नति और सामाजिक सुव्यवस्था लाना है। इनकी सफलता मुख्यतः सरकारी प्रयत्नों और जनता के सहयोग पर निर्भर है। विकास-कार्यक्रमों का कार्यान्वयन विकास-व्ययों के अनुरूप आवश्यक संसाधनों की संग्रह-व्यवस्था से बहुत कुछ प्रभावित हो रहा है। सरकारी क्षेत्र में विकास-कार्यक्रमों को चलाने के लिए पर्याप्त साधन जुट सकें और गैरसरकारी क्षेत्र में किये जाने वाले विनियोग विकास-कार्यक्रमों के अनुरूप हो

सकें; इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सभी सुलभ विधियों का उपयोग किया जा रहा है। सरकार की प्रशुल्क नीति तथा कर-व्यवस्था को इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति का एक प्रमुख साधन बनाया गया है।

इन परिवर्तित परिस्थितियों में देश की कर-व्यवस्था के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रश्न पूर्णतः विचारणीय बन गये हैं—क्या देश की कर-व्यवस्था यहाँ चलाये जाने वाले विकास-कार्यक्रमों के अनुरूप है? विकास के लिए आवश्यक संसाधनों का संग्रह करने में इनका उपयोग किस हद तक किया जा सकता है? देश में पूँजी-निर्माण, उत्पादन संस्थाओं को कायम रखने और विकसित बनाने में चालू कर-ढाँचा कहाँ तक सहायक हो रहा है? कर-व्यवस्था से आय और धन के वितरण में पायी जाने वाली असमानता कम करने में कहाँ तक सहायता ली जा सकती है और देश में आर्थिक स्थिरता रखने तथा मुद्रास्फीति और अवस्फीति को नियन्त्रित करने में करों का क्या योग हो सकता है?

प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर चलाये जाने वाले विकास-आयोजनों के सफल सचालन के लिए कर-व्यवस्था को उपर्युक्त दृष्टिकोणों से उपयुक्त बनाना अनिवार्य होता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए १९५३ में भारत सरकार द्वारा कराधान जाँच-आयोग की स्थापना की गयी। आयोग ने इन सभी दृष्टियों से देश की कर-व्यवस्था का विश्लेषण किया। उसने अपनी रिपोर्ट के प्रथम खण्ड मे प्रस्तुत परिस्थितियों के अनुरूप कर-व्यवस्था में उचित संशोधन करने के सुझाव दिये।[1] इसके अतिरिक्त उसने प्रत्येक प्रकार के प्रमुख प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों का विश्लेषण भी उन्हें इन नये क्रमों के अनुरूप बनाने के उद्देश्य से किया। विकास-काल के अनुरूप कर-नीति के प्रारूप के सम्बन्ध में उनके सुझावों का संक्षिप्त विवरण देना यहाँ उपयोगी होगा।

विकास व्ययों के लिए आवश्यक संसाधनों के संग्रह मे करों का उपयोग करने के सम्बन्ध में आयोग का यह सुझाव रहा कि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों के साथ कर-ढाँचा इस प्रकार का बनाया जाय जिससे राष्ट्र के भौतिक तथा वित्तीय साधन उपभोग से हट कर विकास-कार्यक्रमों के अनुरूप विनियोगों में लग सकें। प्रत्यक्ष

१. देखिए 'कराधान जाँच आयोग' की प्रथम रिपोर्ट, अध्याय ८, पृष्ठ १४४-६९ तक।

करारोपण के अन्तर्गत व्यक्तिगत आयकरों की ऊँची दरें लागू की जायँ तथा बचत अथवा विनियोग में प्रयुक्त होने वाली आयों पर कर-छूट की व्यवस्था की जाय। कराधान के क्रम में यह भी ध्यान रखा जाय कि गैरसरकारी क्षेत्र में होने वाले विनियोगों पर उनका कम से कम अनुचित प्रभाव पड़े। अधिक आय वाले वर्गों के उपभोगों पर कम आय वाले वर्गों के उपभोगों की अपेक्षा अधिक नियन्त्रण लगाये जायँ।

उचित विनियोगों के लिए प्रोत्साहन के उद्देश्य से कर-ढाँचे में परिवर्तन लाना आवश्यक है। यह परिवर्तन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के करों में किया जाय, क्योंकि अप्रत्यक्ष करों से उपभोगों को प्रभावित किया जा सकता है। जनता में करों के प्रति पाये जाने वाले विरोध को कम करने के लिए कर-प्रशासन में कुशलता लायी जाय और कर-वंचन को रोका जाय। इसके साथ ही सरकारी व्ययों को अधिक से अधिक जनोपयोगी बनाया जाय और उनसे सम्बन्धित अपव्ययों को रोका जाय।

करों द्वारा आय तथा धन के वितरण की असमानता कम करने के सम्बन्ध में आयोग ने यह सुझाव दिया कि प्रत्यक्ष करारोपण में वृद्धि करने तथा कर-देय-योग्यता के अनुरूप इसे बनाने का प्रयास किया जाय। समानता लाने के उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूँजी-लाभकर और धनकर लगाने का सुझाव भी आयोग ने दिया था। इनसे विकास-व्यय के लिए उचित राजस्व के संग्रह में भी सहायता हो सकेगी। देश में मुद्रास्फीति के कुप्रभावों को रोकने के लिए आयकर और वस्तुकरों का सफल प्रयोग हो सकता है। स्फीति-काल में जिन क्षेत्रों के अन्तर्गत आय अधिक बढ़े उन्हें अधिक दरों से करारोपित किया जाय। व्यावसायिक क्षेत्रों में अधिक लाभ-कर लगाये जायँ तथा उन वस्तुओं को करारोपित किया जाय जिनकी कीमतें अधिक बढ़ रही हों और जिनका उपभोग अपेक्षाकृत कम आवश्यक हो।

विभिन्न राज्यों के कर-ढाँचे को यथासम्भव समान बनाने का प्रयास किया जाय, लेकिन इस क्रम में राज्य-सरकारों की वित्तीय स्वायत्तता पर अनुचित प्रभाव न पड़े।

आयोग का यह विचार था कि कर-व्यवस्था के अन्तर्गत लगाये जाने वाले उप-करों को कायम रखा जा सकता है, लेकिन उनसे हुई प्राप्तियों को विशिष्ट उद्देश्यों के लिए खर्च किये जाने को अलग न रखा जाय। विविध राज्यों और संघ-सरकार के बीच कर-नीतियों और कर-ढाँचों को समन्वित करने के लिए एक अखिल भारतीय-कराधान परिषद् संविधान के अनुच्छेद २६३ के अन्तर्गत स्थापित की जाय। इस

परिषद् का एक स्थायी सचिवालय हो, जिसमें कराधान सम्बन्धी विविध समस्याओं पर क्रमबद्ध अध्ययन किया जाय। कराधान जाँच आयोग ने कर-व्यवस्था में किये जाने वाले इन सामान्य संशोधनों के अतिरिक्त संघ-सरकार, राज्य-सरकारों तथा स्थानीय सरकारों द्वारा लगाये जाने वाले विविध प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों का विश्लेषण किया और उन्हें विकास के लिए आवश्यक संसाधनों के संग्रह के साधन, आय तथा धन के वितरण में समानता लाने के माध्यम तथा देश की आर्थिक स्थिति में स्थिरता लाने की विधि के रूप में अधिक उपयोगी बनाने के सुझाव भी दिये।

आयोग की रिपोर्ट के प्रकाशन के पश्चात् देश की कर-व्यवस्था में उचित संशोधन करने के प्रयत्न प्रारम्भ किये गये। १९५५ के वित्त-अधिनियम द्वारा उनमें से कुछ को सक्रिय रूप दिया भी गया। परन्तु देश की सम्पन्नता बढ़ाने के लिए चलाये जाने वाले आर्थिक आयोजनों के क्रम में साधनों का अभाव एक जटिल समस्या बनता जा रहा था। इसलिए सभी प्रकार से संसाधनों को संगृहीत करने की जागरूकता बढ़ रही थी। इन्ही प्रयत्नों के क्रम में देश की कर-व्यवस्था पर कराधान-जाँच-आयोग के विश्लेषण और सुझावों के पश्चात् भी व्यापक विचार किये जाने की आवश्यकता समझी गयी। प्रत्यक्ष करों को राजस्व-संग्रह की दृष्टि से अधिक उपयोगी बनाने के सुझाव पाने के लिए कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो० काल्डर का सहयोग प्राप्त किया गया।

प्रो० काल्डर ने भारतीय कर-व्यवस्था का विश्लेषण दो दृष्टिकोणों से किया—(१) व्यक्तियों पर किया जाने वाला करारोपण और (२) व्यवसायों पर करारोपण। उनके अनुसार दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष करारोपण कुछ विशेष कारणों से दोषपूर्ण रहे हैं, जिनसे राजस्व संग्रह और अन्य करारोपण सम्बन्धी उद्देश्यों की पूर्ति कठिन रही है। कर लगायी जाने वाली (कराधार्य) आय के स्पष्ट और व्यापक रूप की व्याख्या न होने, सम्पत्तियों के शुद्ध मूल्य पर कर न लगने, व्यावसायिक लाभ का आगणन करते समय घटाये जाने वाले व्ययों और हानियों के सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण रखने तथा सम्पत्तियों के हस्तान्तरण से सम्बन्धित वैधानिक प्रावधानों के दोषपूर्ण होने से उचित करारोपण नहीं हो पाता। इन्हीं कारणों से कर-वंचन भी अधिक होता है। इन दोषों को दूर करने तथा कर-प्रशासन अधिक प्रभावी बनाने के लिए कुछ विशेष सुधारों की आवश्यकता थी। व्यक्तियों पर किये जाने वाले करारोपण को सुधारने के सम्बन्ध में काल्डर महोदय ने ये सुझाव दिये कि करारोपण के आधारों को सुबोध बनाया जाय और उसमें सभी प्रकार की लाभपूर्ण प्राप्तियों

और धन को सम्मिलित किया जाय, करदाता अपनी आय के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण प्रस्तुत करे, उसमें केवल कर-देय आय का ही उल्लेख न हो, बल्कि वर्ष के प्रारम्भ में कुल धन की क्या स्थिति थी, वर्ष के भीतर उसमें कितनी वृद्धि आय, प्राप्ति, अर्पण आदि के रूप में हुई, उसमें से कितना व्यक्तिगत खर्चों और विनियोगों में लगा और अन्त में उसकी सम्पत्ति सम्बन्धी स्थिति क्या हो गयी, इसका विवरण भी देना अनिवार्य रहे। प्रत्यक्ष करों को सर्वांगीण बनाने के लिए आयकर के साथ पूंजी-लाभ-कर, धन पर वार्षिक कर, व्ययकर, अर्पणकर लगाये जायँ। इन सभी करों को करदाता द्वारा प्रस्तुत विस्तृत विवरण के आधार पर एक ही साथ एक ही अधिकारी द्वारा लगाया जाय। इससे करारोपण के एक खण्ड पर दूसरे खण्ड द्वारा नियन्त्रण रखा जा सकता है और कर-दाताओं के लिए किसी आय को छिपाना अथवा कर-वंचन करना कठिन हो जायगा। इन नये करों से प्रतिवर्ष ६० से १०० करोड़ रुपयों तक अतिरिक्त राजस्व भी प्राप्त होता रहेगा।[1]

व्यक्तिगत करारोपण में पाये जाने वाले कर-वंचन को रोकने तथा पूंजी-लाभ-कर, धन पर वार्षिक कर, व्यक्तिगत व्यय-कर आदि की प्रशासनिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए उन्होंने यह सुझाव दिया कि स्वेडन की तरह यहाँ भी पूंजी व्यवहारों का विस्तृत विवरण स्वाभाविक क्रम में संग्रह करने की व्यवस्था प्रारम्भ की जाय।[2]

व्यवसायों पर करारोपण के सम्बन्ध में काल्डर ने दो तथ्यों पर विशेष विचार किया—एक तो व्यावसायिक लाभ के आगणन में घटाये जाने वाले व्यय, पूंजी-ह्रास और पिछली हानियाँ; दूसरे कम्पनियों पर करारोपण। उनके अनुसार लाभ के आगणन क्रम में ऐसे व्ययों को ही घटाया जाय जो पूर्णतया केवल लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से अपरिहार्यतः किये गये हों। परिहार्य और स्वैच्छिक व्यावसायिक व्ययों को घटाने की सुविधा उस सीमा तक ही दी जाय जो सामाजिक हितों की दृष्टि से उपयुक्त हों। उपार्जित आय पर कर-छूट देने के सम्बन्ध में उनका यह

१. इस सुझाव का विवरण परिशिष्ट ब में दिया गया है। इनके विस्तृत विश्लेषण के लिए प्रो० निकोलस काल्डर द्वारा प्रस्तुत "इंडियन टैक्स रिफार्म पर रिपोर्ट" देखी जाय, पृष्ठ ९ से १८ तक

२. देखिये उपर्युक्त रिपोर्ट, पृष्ठ ५३ से ५५ तक।

विचार था कि केवल वेतन से प्राप्त आय पर ही छूट दी जाय। व्यावसायिक लाभ इस छूट के लिए उपयुक्त नहीं हैं। कर-देय लाभ की गणना करते समय घटायी जाने वाली पिछली हानियों के सम्बन्ध में उनका यह सुझाव रहा कि एक व्यवसाय से होने वाली हानि को उसी व्यवसाय के आगामी लाभों में से घटाया जाय। पूंजी व्यय पर ह्रास-सम्बन्धी छूट देने के सम्बन्ध में प्रचलित पद्धति को उन्होंने अनुपयुक्त बतलाया। कुल व्यय का एक निश्चित प्रतिशत प्रतिवर्ष ह्रास के रूप में अपलिखित किये जाने की अपेक्षा व्यय वाले वर्ष में ही कुल पूंजी-व्यय के दो-तिहाई अथवा आधे या एक-तिहाई के लिए छूट दी जाय। व्यावसायिक पूंजी-व्यय के सम्बन्ध में उनका यह दृष्टिकोण उल्लेखनीय है कि इन्हें चालू व्ययों के समकक्ष माना जाय और कर-देय लाभ की गणना में क्रय की गयी सम्पत्तियों के सम्भावित जीवनकाल को दृष्टि में रखते हुए उनके एक अनुपात को छूट दी जाय। ह्रास सम्बन्धी छूटों की वह राशि, जिसे लाभ की कमी से अपलिखित नहीं किया जा सका है, अनन्त समय तक अपलिखित होने के लिए न ले जायी जाय। पिछली व्यापारिक हानियो की भाँति इसके अपलिखित होने के क्रम पर समय सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाया जाय।

कम्पनियों पर करारोपण के सम्बन्ध में श्री काल्डर के सुझाव बड़े ही परिवर्तनकारी रहे। कराधान आयोग की भाँति उन्होंने भी कम्पनी करारोपण को व्यक्तिगत करारोपण से विलग अस्तित्व देने पर ज़ोर दिया। उनके कथनानुसार कम्पनियों पर ७ आना (लगभग ४४ नये पैसे) प्रति रुपये की दर से करारोपण करने और उस कर को गैरवापसी माने जाने का सुझाव प्रस्तुत किया। अशधारियों को दिये जाने वाले लाभांशों में से ७ आने प्रति रुपये की दर से आय-कर घटाया जाय और इस राशि को उनके नाम जमा कर दिया जाय।

कर-वंचन रोकने के सम्बन्ध में अनिवार्य अकेक्षण के क्रम पर भी उन्होंने ज़ोर दिया। कर-वंचकों पर दण्ड की मात्रा बढ़ाने तथा छल-कपट सम्बन्धी मामलों में अनिवार्यतः अपराध सम्बन्धी कार्रवाई करने का सुझाव भी उन्होंने दिया।

काल्डर महोदय के ये सुझाव भारतीय कर-व्यवस्था का रूप बदलने में बड़े सहायक हुए। १९५६-५७ से १९५८-५९ तक प्रत्यक्ष कर-व्यवस्था को सर्वांगीण बनाने के लिए पूंजी-लाभ-कर, धनकर, व्ययकर और अर्पणकर लगाने का क्रम प्रारम्भ किया गया। सन् १९५९ के वित्त अधिनियम द्वारा कम्पनी करावान के नये रूप को भी विधान में ला दिया गया। इस कर-निर्धारण वर्ष से उसी आधार

पर कम्पनियों को कराहित किया भी जा रहा है। इस प्रकार कम्पनी कराधान में प्रचलित वे असंगतियाँ, जिनके अनुसार कम्पनी द्वारा चुकाया गया कर अंशधारियों के लिए दिया गया माना जाता था, समाप्त कर दी गयीं। कम्पनियाँ अब जो भी कर देंगी अपने लिए देंगी। इस नयी व्यवस्था को लाने के लिए भारतीय आय-कर अधिनियम की सम्बन्धित धाराओं में भी आवश्यक संशोधन किये गये।

प्रत्यक्ष करों के साथ अप्रत्यक्ष करों को भी संशोधित करने के प्रयत्न हो रहे हैं। अप्रत्यक्ष करों के अन्तर्गत आयात-निर्यात-शुल्क, उत्पादन-शुल्क तथा बिक्रीकर में संशोधन के प्रयास विशेष उल्लेखनीय हैं। आयात-निर्यात-शुल्कों के प्रशासन को राजस्व बढ़ाने तथा आयात और निर्यात कर्ताओं की सुविधा बढ़ाने के लिए १९५७ में सीमाशुल्क-पुनर्गठन-समिति की स्थापना की गयी। इस समिति ने प्रशुल्क तालिका को संशोधित करने, इसको आयात-निर्यात-व्यापार-नियन्त्रण के अनुज्ञा-पत्र की सम्बन्धित अनुसूची से सम्बद्ध करने तथा आयात-निर्यात-शुल्क लगाने और वसूलने का क्रम निश्चित, सुबोध और निष्पक्ष रखने के लिए विस्तृत सुझाव प्रस्तुत किये।[1] इन्हीं सुझावों के आधार पर समुद्री सीमा-शुल्क-अधिनियम को आमूल संशोधित करने पर विचार किया जा रहा है। राज्यों द्वारा प्रशासित बिक्री-कर को भी राजस्व तथा कर-दाताओं की दृष्टि से उपयुक्त बनाने के लिए उसमें आवश्यक संशोधन किये जा रहे हैं। कुछ बिक्री-करों को उत्पादन-शुल्क में मिला दिया गया है।

लेकिन अप्रत्यक्ष करों की अपेक्षा प्रत्यक्ष करों का प्रशासन सुधारना परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल कर-व्यवस्था को बनाने के लिए अधिक आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं कि अप्रत्यक्ष करों से राजस्व का संग्रह बड़े पैमाने पर करने में सहायता मिलती है। इससे उपभोग पर भी नियन्त्रण रखा जा सकता है, लेकिन विकास-व्ययों के फलस्वरूप व्यक्तिगत आयों में जो असमान वृद्धि होती है, उसे ठीक करने के लिए तथा उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन की अपेक्षा आय की अधिक वृद्धि के कारण कीमतों के लगातार बढ़ने की जो प्रवृत्ति होती है उसे उचित सीमाओं के अन्तर्गत रखने के लिए प्रत्यक्ष करों का उपयोग ही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

१. इस समिति के प्रमुख सुझाव सीमाशुल्क वाले अध्याय के अन्त में दिये गये हैं।

इसके अतिरिक्त कर-वंचन की सम्भावना भी अनेक कारणों से प्रत्यक्ष करों में ही अधिक होती है, जिसे नियन्त्रित रखना राजस्व की वृद्धि के लिए ही नहीं बल्कि कर-प्रशासन में समत्व लाने तथा ईमानदार कर-दाताओं पर अनुचित भार न पड़ने देने के लिए आवश्यक है। इसी कारणवश जून सन् १९५८ में श्री महावीर त्यागी की अध्यक्षता में कार्य करने के लिए 'प्रत्यक्ष-कर-प्रशासन-जाँच-समिति' की स्थापना भारत सरकार द्वारा की गयी। यह समिति सरकार के सम्मुख ऐसे सुझाव रखना चाहती थी, जिनसे प्रत्यक्ष कराधान की सर्वांगीण योजना कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक प्रशासनिक सगठन और कार्यशैलियाँ निकाली जा सकें, ताकि कर-वंचन मिट सके और करदाताओं की असुविधाएँ भी दूर हों। समिति को यह भी छूट दी गयी थी कि वह प्रत्यक्ष करो के अधिनियमों में दिये मूल प्रावधानों को संशोधित करने का सुझाव दे सकती थी।

त्यागी समिति ने अपना प्रतिवेदन ३० नवम्बर सन् १९५९ को सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया। समिति की संस्तुतियाँ निम्नांकित विषयों से सम्बन्धित थीं—

१. प्रत्यक्ष कराधान के सर्वांगीण ढाँचे में विकास से सम्बन्धित प्रमुख तथ्य,
२. कराधान शैली,
३. कराधान के क्रम में उत्पन्न होने वाली विशिष्ट समस्याएँ,
४. अपील और पुनरीक्षण,
५. कर-वसूली और करों का बकाया,
६. कर-वापसी,
७. कर-वचन और कर-दुराव,
८. प्रस्तुत कर-प्रशासन-व्यवस्था,
९. कर-प्रशासन का जनता से समुचित सम्बन्ध।[1]

समिति ने प्रत्यक्ष करों के सफल प्रशासन के सम्बन्ध में यह सुझाव दिया कि उनका आरोपण एक ही साथ किया जाय। कर-विधानों को सरल बनाया जाय

१. त्यागी समिति की कुछ प्रमुख संस्तुतियों का विवरण परिशिष्ट 'स' में दिया गया है।

और उनके प्रावधानों में बार-बार परिवर्तन न किये जायँ। जो भी परिवर्तन हों, सभी विशिष्ट संशोधन-अधिनियमों द्वारा लाये जायँ, ताकि संसद को उन पर विस्तृत रूप में विचार करने का अवसर मिल सके।

कर-निर्धारण शैली के सम्बन्ध में समिति के सुझाव दो प्रमुख तथ्यों से अनुप्राणित हैं—एक तो कर की राशि यथाशीघ्र उद्गृहीत हो सके, दूसरे करदाता को करारोपण और कर-भुगतान के सम्बन्ध में विशेष कठिनाई न उठानी पड़े। उसकी लघु-आय-कराधान सम्बन्धी योजना भी प्रशंसनीय है। इसके अन्तर्गत लघु आय के मामलों में आय-विवरण तथा लाभहानि खाता, आर्थिक चिट्ठा आदि संलग्न प्रलेखों की प्रारम्भिक छानबीन के पश्चात् करदाता को कार्यालय में बिना बुलाये ही कर-निर्धारण कर लिया जाना सम्भव होगा। इस नये क्रम को चालू करने की घोषणा भी गत सितम्बर में भारत सरकार ने कर दी है। इसे लागू करने से यह आशा है कि विभाग तथा लगभग पाँच लाख करदाताओं के बीच अच्छा सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा।

कर-वंचन के सम्बन्ध में समिति का यह विचार रहा कि भारत मे कर की ऊँची दरों के कारण कर-वंचन उतना नहीं है, जितना कि प्रत्यक्ष-कर-अधिनियमों के जटिल प्रावधानों तथा प्रशासनिक शिथिलता के कारण। कर-वंचकों पर कड़ी कानूनी कार्रवाई न करने तथा उन्हें भारी दण्ड न देने से भी कर-वंचन मुक्त ढंग से किया जाता है। यदि कड़ी कानूनी कार्रवाई करने तथा भारी दण्ड लगाने की व्यवस्था हो जाय तो कर-वंचन बहुत कुछ सीमित किया जा सकता है। कर-वचन रोकने के लिए समिति के सुझाव इन्हीं तथ्यो पर आधारित है। इनका विवरण परिशिष्ट "स" में दिया गया है।

कर-वंचन-निरोध सम्बन्धी सुझावों में से कुछ के विषय मे बड़े विवाद उठ खड़े हुए हैं। दातव्य प्रन्यासों की आय पर कुछ परिस्थितियों में करारोपण करने तथा कर-दाताओं की आय और सम्पत्ति के विषय मे प्राप्त विवरणों तथा कर-वंचकों पर लगाये गये दण्डों को प्रकाशित करने के सम्बन्ध मे दी गयी संस्तुतियां इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। दातव्य प्रन्यासों को करारोपित करने के सम्बन्ध में समिति के सुझाव सरकार द्वारा गत सितम्बर में मान लिये गये और इन्हें विचारार्थ लोकसभा के सम्मुख रखा गया। लेकिन अपीलीय ट्रिब्यूनल को सेण्ट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू से अलग करके विधि-मन्त्रालय में लाने का जो सुझाव समिति ने दिया था, उसे अस्वीकार कर दिया गया। कर-वंचन के विरुद्ध जनमत

उभाड़ने के लिए समिति ने जो सुझाव दिये हैं उन्हें भी सरकार ने सिद्धान्ततः मान लिया है। इन्हें कार्यान्वित करने के क्रम पर विचार हो रहा है।

इस प्रकार त्यागी-समिति के सुझावों को धीरे-धीरे स्वीकृत करके सम्बन्धित अधिनियमों में आवश्यक संशोधन करने की व्यवस्था की गयी है। राजस्व और सामाजिक व्यय के केन्द्रीय मन्त्री द्वारा लोकसभा के पिछले सत्र में दी हुई सूचना के अनुसार अभी हाल में ही संसद ने आय-कर अधिनियम में पूर्ण संशोधन किया है। अन्य प्रत्यक्ष-कर अधिनियमों में भी समिति के सुझावों के अनुरूप कर-प्रशासन की कुशलता बढ़ाने के लिए संशोधन सम्भावित हैं। ये संशोधन कर-विधान सम्बन्धी प्रशासनिक बाधाओं को दूर करने में यथेष्ट सहायक हो सकेंगे और देश की कर-व्यवस्था को प्रस्तुत परिस्थितियों के लिए उपयोगी बनाया जा सकेगा, ऐसा विश्वास है।

देश की कर-व्यवस्था में किये गये और आगे किये जाने वाले इन संशोधनों को दृष्टि मे रखते हुए ही प्रस्तुत पुस्तक की रचना का प्रयास किया गया है।

इसके प्रथम अध्याय में आयोजनों के संचालन-क्रम में करों के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। विवरण के क्रम मे यह स्पष्ट करने का प्रयास हुआ है कि प्रजातन्त्रात्मक आधार पर सर्वतोमुखी विकास करने के लिए अधिगृहीत आयोजनों की सफलता में करों का कहाँ तक योग है। प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय आयोजनों के वित्तीय प्रबन्ध सम्बन्धी आँकड़ों के उल्लेख द्वारा विश्लेषण को पर्याप्त रोचक बनाया गया है। तृतीय आयोजन के वित्तीय-प्रबन्ध में करारोपण के सम्भावित उपयोग पर भी प्रकाश डाला गया है।

दूसरे अध्याय में सघ और राज्य-सरकारों के करारोपण अधिकारों की व्याख्या की गयी है। उन सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है जिनके आधार पर उनके बीच करारोपण क्षेत्रों का विभाजन हुआ है। तीसरे अध्याय में संघ और राज्य सरकारों के वित्तीय प्रशासन की व्यवस्था का उल्लेख है। इसमें यह स्पष्ट करने का प्रयास हुआ है कि संघ और राज्य-सरकारों की वित्तीय व्यवस्था से सम्बन्धित वैधानिक अधिकार आयोजन सम्बन्धी उनकी आवश्यकताएँ पूर्ण करने में कितने सहायक बन सकते है।

अगले अध्यायो में संघ और राज्य-सरकारों के प्रमुख प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों का सैद्धान्तिक विश्लेपण किया गया है। विश्लेषण का क्रम ऐसा रखा गया है जिसमें करों के पिछले इतिहास की पृष्ठभूमि पर उनके नये प्रयोग स्पष्ट हो सकें।

आशा एवं विश्वास है कि इन नये दृष्टिकोणों से समझने में भारतीय कर-ढाँचे की प्रस्तुत रचना सहायक हो सकेगी।

लेखक उन सभी सरकारी तथा गैर-सरकारी प्रकाशनों के लेखकों के प्रति आभार प्रकट करता है, जिनसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में रचना के सम्पादन में सहायता मिली है।

—लेखक

अध्याय

भारतीय आयोजन में करों का स्थान

भारत की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था आर्थिक आयोजनों के संगठित संचालन से प्रभावित हुई है। भारतीय आयोजनों का उद्देश्य केवल राष्ट्र के साधनो के उपयोग से आर्थिक उन्नति करने तक ही सीमित नही है। इसमे अवसर, आय और धन के वितरण मे समानता लाकर समाजवादी समाज स्थापित करने का प्रयास भी सम्मिलित है। सचालन-शैली प्रजातन्त्रात्मक होने के कारण आयोजनों की सफलता सरकार के प्रयत्नों और जनता के सहयोग पर निर्भर है। विकास के विविध कार्यक्रमों को साकार करने के लिए सरकारी और निजी क्षेत्र में धन की बड़ी राशियाँ व्यय की जाती है। व्यय की उचित व्यवस्था के लिए उपयुक्त राजकोषीय नीति का आश्रय लिया जाता है, जिससे सरकारी क्षेत्र में व्यय के लिए पर्याप्त साधन एकत्र किये जा सकें तथा निजी क्षेत्र में आवश्यक विनियोग को प्रेरणा मिल सके। सरकारी क्षेत्र मे व्यय की वृद्धि का अनुमान केन्द्रीय सरकार के बढ़ते हुए बजट से लगाया जा सकता है। अविभाजित भारत का बजट ८४.४७ करोड़ रुपये का था, लेकिन प्रथम पचवर्षीय आयोजन के प्रथम वर्ष का वजट ५२८.०१ करोड़ रुपये का हो गया। सन् १९५९-६० का बजट ७५७.५१ करोड़ रुपये का था।

बजट की वृद्धि के क्रम में राजस्व एकत्र करने के साधनों का उपयोग बड़े पैमाने पर होने लगा है। केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा लगाये जाने वाले करों में बड़ा विस्तार हुआ है। कर-भार में भी पहले की अपेक्षा वृद्धि हुई है। यद्यपि करो का प्रयोग मुख्यत: आवश्यक राजस्व प्राप्त करने के लिए किया जाता है और आयोजन के संचालन-क्रम में वित्तीय व्यवस्था की जैसी आवश्यकता होती है, उसी के अनुरूप करों के प्रकार, उनकी दरें और उनके प्रभाव-क्षेत्र परिवर्तित किये जाते हैं, फिर भी सामान्य कीमत-तल को नियंत्रित रखने, जनता के उपभोग और बचत को प्रभावित करने तथा प्रगति के अनुरूप वैयक्तिक और संस्थागत विनियोगों को प्रोत्साहन देने के लिए भी इनका प्रयोग होने लगा है। आय और धन के वितरण

की असमानता मिटाने और समाजवादी सामाजिक ढाँचा क़ायम करने में भी करों का महत्त्वपूर्ण योग होता है। इस प्रकार कर लगाने के उद्देश्यों में पहले की अपेक्षा बहुत अधिक वृद्धि हुई है। विकास-क्रम में करों के नये प्रयोग पर विचार करने के लिए विकास की प्रकृति को समझना आवश्यक है।

भारतीय आयोजन के उद्देश्य

भारत के आर्थिक आयोजन किसी भी अर्धविकसित अर्थ-व्यवस्था को विकासोन्मुख बनाने के लिए चलाये जाने वाले उपक्रमों-जैसे है। राष्ट्र के भौतिक और मानवीय साधनों का श्रेष्ठतर उपयोग इनका प्रमुख उद्देश्य है। आधुनिक प्रावैधिकी के प्रयोग से पुराने और नये उत्पादनों को बढ़ाने का प्रयास इस प्रकार से किया जा रहा है कि उत्पादन की मात्रा बढ़ने के साथ-साथ पूर्ण रोजगारी की स्थिति भी आ सके, ताकि सभी कार्य करने योग्य व्यक्ति अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार विकास-क्रम में योग दे सकें। उत्पादन की वृद्धि और पूर्ण रोजगारी लाने के अतिरिक्त भारतीय आयोजन के कुछ सामाजिक और राजनीतिक उद्देश्य भी हैं, जो भारतीय संविधान में वर्णित नागरिकों के मूल अधिकारों और राजनीति के निर्देशक सिद्धान्तों से अनुप्राणित हैं। संविधान के अनुसार प्रत्येक नागरिक को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, प्रतिष्ठा तथा विकास के सर्व समान अवसर पाने का अधिकार है। संविधान के अनुच्छेद ३८ के अनुसार राज्य को ऐसी सामाजिक व्यवस्था लानी है और उसके संरक्षण द्वारा लोक-कल्याण बढ़ाने का ऐसा प्रयास करना है, जिससे राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय स्थापित हो सके।

अनुच्छेद ३९ के अनुसार राज्य को अपनी नीति का संचालन इस प्रकार करना है जिससे सभी नर-नारी नागरिकों को जीविकोपार्जन के साधन प्राप्त करने का अवसर मिल सके। समाज की भौतिक सम्पत्तियों का स्वामित्व तथा नियन्त्रण ऐसे बाँटना है जिससे सामाजिक हित बढ़े, आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन के साधनों का सर्वसाधारण के हितों के विरुद्ध केन्द्रीकरण न हो सके। इन्हीं सिद्धान्तों को लेकर पंचवर्षीय आयोजनों का प्रारम्भ किया गया, ताकि राष्ट्र की आर्थिक उन्नति हो और सामान्य नागरिक अधिक सुखद जीवन व्यतीत करने का अवसर पा सके। यही तथ्य प्रथम पंचवर्षीय आयोजन में वर्णित उद्देश्य से प्रति लक्षित होता है। भारत में आर्थिक आयोजन प्रारम्भ करने का मुख्य ध्येय विकास

का एक ऐसा क्रम लाना रहा है, जिसमें जन-साधारण का जीवन-स्तर उठ सके और उन्हें अधिक सम्पन्न तथा बहुमुखी जीवन व्यतीत करने का अवसर मिले। नागरिकों के व्यक्तिगत जीवन को अधिक सम्पन्न तथा सुखी बनाने के लिए उत्पादन की विविधता और वृद्धि ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि आय, धन तथा अवसर के वितरण की असमानता को मिटाना आवश्यक है। आर्थिक आयोजनों के संचालन-क्रम में ऐसी सामाजिक व्यवस्था लाने का प्रयास किया जा रहा है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति और क्षमता के अनुसार उत्पादन बढ़ाने में अधिक से अधिक योग दे सके। इससे स्पष्ट है कि भारतीय आयोजनों का उद्देश्य केवल आर्थिक प्रगति से ही सम्बद्ध नहीं है, बल्कि इनके अन्तर्गत सामाजिक सुव्यवस्था को महत्व दिया गया है।

द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन के अन्तर्गत आर्थिक उन्नति और सामाजिक सुव्यवस्था के उन उद्देश्यों को निम्नलिखित चार स्पष्ट वर्गों में विभक्त किया गया है—

१. रहन-सहन का स्तर उठाने के लिए राष्ट्रीय उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि।

२. आधुनिक प्रविधियों के विनियोग द्वारा राष्ट्रीय संपत्ति का सदुपयोग करने के लिए त्वरित और सघन उद्योगीकरण।

३. रोजगारी के अवसरों का सत्वर फैलाव।

४. आय तथा धन के वितरण की असमानता को मिटाना और आर्थिक शक्तियों के वितरण में समानता लाना।

तृतीय पंचवर्षीय आयोजन की रूपरेखा पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि इन्ही उद्देश्यों को विस्तृत रूप में प्राप्त करने का प्रयास इसके अन्तर्गत किया जायगा।

आर्थिक आयोजनों के संचालन में विकास-व्ययों का महत्त्व

आयोजन के उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति का भार केन्द्रीय सरकार पर है, क्योंकि अर्धविकसित अर्थ-व्यवस्था को विकासोन्मुख बनाने के लिए जितने व्यय और प्रयास की आवश्यकता होती है, वह कुछ व्यक्तियों अथवा निजी संस्थाओं के वश की बात नहीं। आधुनिकतम प्रावैधिकी के प्रयोग से उत्पादन के नये क्रम प्रारम्भ करने के लिए बड़ी मात्रा में व्यय की आवश्यकता होती है। ये व्यय व्यक्तिगत अथवा संस्थागत स्रोतों से सामान्य क्रम में सम्भव नहीं हो सकते। इनके लिए सरकारी साधनों का उपयोग आवश्यक है। परम्परागत सामाजिक ढाँचे में

आमूल परिवर्तन लाना भी सामान्य व्यक्तियों के वश की बात नहीं है। सरकार ही इसमें अधिक सफल हो सकती है। यही कारण है कि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को विकसित बनाने तथा नयी प्रगतिशील सामाजिक परम्परा स्थापित करने के लिए चलाये जाने वाले आयोजनों की सफलता का दायित्व केन्द्रीय सरकार पर ही रहता है।

आर्थिक आयोजनों का संचालन विकास सम्बन्धी व्ययों के रूप में किया जाता है। आयोजन उसी हद तक सफल हो सकता है जिस हद तक विकास व्ययों के लिए उपयुक्त धन-राशि का संग्रह हो पाता है। इस राशि के संग्रह में सरकार सभी सुलभ स्रोतों का उपयोग करती है। उन्हीं स्रोतों में से करारोपण भी है। इस पर विचार करने से पूर्व आयोजन सम्बन्धी व्ययों की प्रकृति का विश्लेषण आवश्यक है।

किसी भी अर्धविकसित देश में सर्वतोमुखी विकास के लिए चलाये जाने वाले आर्थिक आयोजनों से सम्बन्धित व्ययों को तीन प्रमुख वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

१. आर्थिक मदों पर व्यय—

ये व्यय आर्थिक विकास का मूल आधार प्रस्तुत करते हैं। इनके बिना राष्ट्र के सीमित साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग सम्भव नहीं है। इनमें मूल उद्योगों के संस्थापन, परिवहन व्यवस्था में विकास, लघु और कुटीर उद्योगों का विकास तथा आर्थिक विकास लाने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में किये जाने वाले अन्य व्यय सम्मिलित है। भारत के प्रथम और द्वितीय आयोजनों में इस प्रकार के व्यय को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। प्रथम आयोजन काल में लगभग ८५९ करोड़ रुपये सरकारी क्षेत्र के अंतर्गत इस प्रकार के व्यय मे लगाये गये।[1] द्वितीय पंच-वर्षीय आयोजन काल में १९५८-५९ के संशोधनों के अनुसार इस प्रकार के आर्थिक व्यय की राशि लगभग २६०३ करोड़ रुपये आती है।[2] इनमें सब से अधिक

१. देखिए, रिव्यू आफ दि फ़र्स्ट फ़ाइव ईयर प्लान, पृष्ठ २, ३।

२. देखिए अप्रेजल एण्ड प्रास्पेक्ट्स आफ़ दी सेकेण्ड फ़ाइव ईयर प्लान, पृ० २८, २९, ३०।

महत्त्व लोहा और इस्पात उद्योग तथा परिवहन के विविध साधनों को दिया गया है।

आर्थिक विकास क्रम में परिवहन की अपर्याप्त व्यवस्था आर्थिक विकास की एक बड़ी बाधा बन जाती है। श्रीमती हिक्स ने यह ठीक ही कहा है कि अधिकांश पिछड़े देशों में सड़कों और रेलों की अपर्याप्त व्यवस्था प्रगति के मार्ग में विषम बाधाएँ उपस्थित करती रही है। बन्दरगाहों की कमी भी सुगमतापूर्वक आयात और निर्यात करने में बाधक होती है। इन बाधाओं से विदेशों से प्राप्त होने वाली आय में ही कमी नहीं होती, बल्कि आन्तरिक मूल्यों में स्थिरता रखना भी कठिन हो जाता है।[1]

२. सामाजिक मदों पर व्यय

इस प्रकार के व्ययों के अंतर्गत शिक्षा, जन-स्वास्थ्य, सामुदायिक विकास आदि के लिए किये जाने वाले व्यय आते हैं। सामाजिक मदों पर व्यय करना इसलिए आवश्यक होता है कि उद्योग और कृषि के क्षेत्रों में जो प्रगति होती है, उसका पूर्ण लाभ जनसाधारण तक शीघ्रातिशीघ्र पहुँचाया जा सके। यही कारण है कि हमारे आयोजनो में सामाजिक मदों पर होने वाले व्ययों की राशि पर्याप्त रखी गयी है।

प्रथम आयोजन काल में सामाजिक मदों पर लगभग ५६९ करोड़ रुपये व्यय किये गये। द्वितीय आयोजन काल में इन मदों पर १९५८-५९ के संशोधन के अनुसार लगभग १०७७ करोड़ रुपये व्यय किये जाने की संभावना है। इन व्ययों की कुछ प्रमुख विशेषताएँ होती हैं। इनमें स्थानीय लोगों से वस्तु अथवा नकद रुपयों के रूप में सहयोग लिया जा सकना संभव होता है। इससे विकास के लिए ऐसे संपत्तिस्रोत सुलभ हो जाते हैं जिन्हें अन्यथा उपयोग में लाना कठिन होता है। इसके अतिरिक्त इन मदों पर किये जाने वाले व्ययों में पूंजी-अनुदान की कम आवश्यकता होती है। ऐसे व्ययों में कुछ विशेष दोष भी होते हैं। पिछले अनुभवों से विदित होता है कि स्थानीय दबावों के कारण इनका उपयोग विपन्न और आवश्यकता वाले क्षेत्रों में न होकर सम्पन्न और अपेक्षाकृत कम आवश्यकता वाले क्षेत्रों

१. देखिए, पब्लिक फाइनान्स-श्रीमती हिक्स द्वारा रचित, पृ० २९५-९६

में कर लिया जाता है। फलतः इनके उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो पाती। इसलिए इन व्ययों पर पर्याप्त नियंत्रण रखना आवश्यक है ताकि इनका उपयोग उचित क्षेत्रों में ही हो सके।

सामाजिक मदों पर होने वाले व्ययों की एक प्रमुख सीमा यह भी होती है कि राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाने में इनका प्रत्यक्ष योग नगण्य होता है। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए श्रीमती हिक्स ने इस संबंध में यह संकेत किया है कि सामाजिक मदों पर होने वाले व्यय जितनी कठिनाइयाँ दूर नहीं करते, उनसे अधिक कठिनाइयाँ उत्पन्न करते हैं। यही कारण है कि इनमें प्रयुक्त होने वाली राशियों के दूसरे प्रयोगों पर विचार करने के बाद ही उन्हें इन व्ययों में लगाना चाहिए।[1] इनके विपरीत, आर्थिक मदों पर होने वाले व्ययों का सब से बड़ा लाभ यह है कि इनसे प्रतिफल तुरंत मिलने लगता है, जिसे आगे चल कर विकास-क्रम को आगे बढ़ाने में प्रयुक्त किया जा सकता है।

३. सामाजिक और आर्थिक मदों के बीच वाले व्यय

इनमें विद्युत्-शक्ति-उत्पादन, बाढ़-नियंत्रण, सिंचाई, भूमि-कटाव-निरोध आदि पर किये जाने वाले व्यय आते हैं। इन व्ययों से लम्बी अवधि के पश्चात् ही प्रत्याशित सुविधाएँ सुलभ होती हैं, पर उद्योग और कृषि की उत्पादकता बढ़ाने में इनका विशेष योग रहने के कारण उत्तरोत्तर विकास का क्रम स्थायी बनाने के लिए यह व्यय आवश्यक होते हैं।

भारत के प्रथम आयोजन-काल में इन पर लगभग ५८५ करोड़ रुपये व्यय किये गये। द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन-काल में १९५८-५९ के संशोधन के अनुसार लगभग ८२० करोड़ रुपये इन कामों में व्यय किये जाने की संभावना है।[2]

इन तीन प्रकार के व्ययों के अतिरिक्त भारतीय आयोजन में विविध उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सार्वजनिक स्रोत से अन्यान्य व्यय करने की व्यवस्था भी की गयी है। ऐसे व्ययों में उद्योगों के संस्थापन के लिए पूंजी की व्यवस्था, कृषि-उत्पादन बढ़ाने के लिए किये गये विविध प्रचार, विभिन्न सूचनाओं और सेवाओं के लिए

१. देखिए, पूर्वोक्त पुस्तक पृष्ठ २९७।
२. देखिए आयोजन संबंधी पूर्वोक्त पुस्तकें।

व्यवस्था तथा बड़े पैमाने पर खेती के लिए भूमि-प्राप्ति में वैधानिक सहयोग आदि से संबंधित व्यय आते हैं। ये व्यय प्रायः छोटे होते हैं। अधिकांश परिस्थितियों में जिन व्यक्तियों की सहायता के लिए इन्हें किया जाता है, प्रायः उन्हीं से इसे वसूलने की भी व्यवस्था की जाती है।

इन सभी व्ययों को मिला कर प्रथम आयोजन-काल में लगभग २०१२ करोड़ रुपयों के व्यय का अनुमान था।[1] द्वितीय आयोजन काल में १९५८-५९ के संशोधनों के अनुसार ४५०० करोड़ रुपये इन व्ययों में लगने की संभावना थी।

संपूर्ण राष्ट्र में विकास सम्बन्धी व्यय केवल सरकारी क्षेत्र में ही नहीं होते। निजी क्षेत्रों में भी आयोजनों के निश्चित कार्यक्रमों के अनुसार विकास-व्यय किये जाते हैं। प्रथम आयोजन-काल में निजी क्षेत्र के विकास-व्यय सरकारी क्षेत्र के विकास व्यय के लगभग बराबर ही रहे और सरकारी तथा निजी क्षेत्र के विकास-संबंधी व्ययों का अनुपात ५०-५० रहा। द्वितीय आयोजन-काल में सरकारी क्षेत्र में किये जाने वाले व्ययों की मात्रा निजी क्षेत्र में होने वाले व्ययों की तुलना में और भी अधिक रही। इनका अनुपात ६१-३९ रहा है। इस प्रकार विकास-व्ययों की व्यवस्था में सरकारी और निजी क्षेत्रों का पारस्परिक सहयोग रहता है। भारतीय आयोजन के प्रजातंत्रात्मक होने का सबसे बड़ा प्रमाण यही है। सरकार को ऐसी राजकोषीय नीति अपनानी पड़ती है जिससे सरकारी क्षेत्र के व्ययों के लिए पर्याप्त राशियाँ एकत्र हो सकें और निजी क्षेत्रों में व्यक्तियों और संस्थाओं की बचतें विकास के अनुरूप विनियोगों में लग सकें। राजकोषीय नीति के अतिरिक्त सरकार की मौद्रिक नीति और व्यावसायिक नीति का भी प्रभाव आयोजनों के संचालन पर पड़ता है। लेकिन आयोजनों के लिए आवश्यक सम्पत्तिस्रोतों के संग्रह में इनका स्थान अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण होता है। व्यावसायिक नीति देश के आयात और निर्यात से सम्बद्ध होती है। उसका विशेष प्रयोग आयोजन के लिए विदेशी विनिमय संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के संबंध में किया जाता है। यद्यपि अर्धविकसित राष्ट्र के विकास में विदेशों से प्रावैधिकी और पूँजी की

१. यह राशि १९५५-५६ के बजट संबंधी पुनरीक्षित अनुमानों पर आधारित है, जबकि प्रथम पंचवर्षीय आयोजन काल में कुल व्यय १९६० करोड़ रुपये के लगभग हुआ।

सहायता आवश्यक होती है, लेकिन विदेशी सहायता पर विकासक्रम को आधारित रखना उचित नहीं माना जाता। जैसा कि अर्धविकसित देशों में आर्थिक विकास की वित्तव्यवस्था की विधियों पर प्रकाश डालने वाले संयुक्त-राष्ट्र-संघ के एक प्रकाशन में कहा गया है, कोई भी देश और विशेषतः अर्धविकसित देश अपने आर्थिक विकास के लिए अपने ही साधनों पर निश्चित रूप से अवलम्बित रह सकता है। यह अवलम्बन आवश्यक भी है, क्योंकि अपने आर्थिक विकास की धन-सम्बन्धी आवश्यकताओं को अपने ही साधनों से पूरा करना विकास-क्रम को स्थिर बनाने के लिए उचित है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्थिक विकास को सुदृढ़ क्रम देने के लिए आंतरिक साधनों का अवलम्बन आवश्यक है। आन्तरिक साधनों के संग्रह में सरकार की राजकोषीय नीति का बहुत ही प्रभाव पड़ता है।

विकास व्ययों की व्यवस्था में राजकोषीय नीति का प्रयोग

जैसा कि इसके पहले दिये गये विवरणों से स्पष्ट है, विकास-व्ययों के लिए उचित राशि संगृहीत करने में राजकोषीय नीति का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इस नीति के उचित उपयोग द्वारा आर्थिक आयोजनों के लिए उपयुक्त राशियों का संग्रह किया जाता है। करारोपण से जनता के उपभोगों और अनावश्यक विनियोगों को रोका जाता है और उनकी आय का एक निश्चित हिस्सा सरकारी क्षेत्र में व्यय होने के लिए प्राप्त किया जाता है।

प्रथम पंचवर्षीय आयोजन के सम्बन्ध में दिये गये आँकड़ों से स्पष्ट है कि कुल राष्ट्रीय आय का लगभग ८ से १० प्रतिशत विविध राजस्व के रूप में सरकार को प्राप्त हुआ था। इनमें करों से हुई प्राप्ति का प्रतिशत ६-६ से ७-९ तक रहा। नीचे दी हुई तालिका में सन् १९५०-५१ से १९५५-५६ तक के वर्षों में सरकार को सुलभ होने वाले राजस्वों का कुल राष्ट्रीय आय से प्रातिशत्य दिखाया गया है।

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि भारत में कुल राष्ट्रीय आय का धीरे-धीरे वह प्रातिशत्य विकासकार्यों में विनियोजित हो सकेगा जो राष्ट्र के अनवरत आर्थिक

१. देखिए, संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रकाशित "मेथड्स आफ फाइनैंसिंग इकनामिक डेवेलपमेन्ट इन अन्डर डेवेलप्ड कन्ट्रीज"

विकास के लिए आवश्यक है। इस सम्बन्ध में प्रो० रोस्टोव[1] का यह कहना है कि किसी राष्ट्र में यदि प्रतिवर्ष कुल राष्ट्रीय आय का १० प्रतिशत से अधिक विकास-कार्यों में विनियोजित होता जाय, तो पूंजी-उत्पादन के ३-१ के अनुपात को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि आय की वृद्धि जनसंख्या की सामान्य वृद्धि

	१९५० १९५१	१९५१ १९५२	१९५२ १९५३	१९५३ १९५४	१९५४ १९५५	१९५५ १९५६
१. कुल राजस्व प्राप्ति, राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में	८.१	९.१	८.४	८.०	९.४	१०.०
२. करों से प्राप्त राजस्व, राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में	६.६	७.५	६.९	६.४	७.५	७.९
३. करों के अतिरिक्त अन्य राजस्व, राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में	१.५	१.६	१.६	१.६	१.९	२.१

(१.५ प्रतिशत प्रतिवर्ष) से अधिक होगी। ऐसी स्थिति में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की लगातार वृद्धि सम्भव है।

उत्तरोत्तर विकास के लिए राजकोषीय नीति से उपयुक्त प्रयोग से सम्पत्ति-स्रोतों के संग्रह में जो सहायता मिली है, उसका विस्तृत विवरण आगे प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय आयोजनों की वित्त-व्यवस्था के विश्लेषण के क्रम में दिया गया है। यहां केवल इतना ही स्पष्ट किया गया है कि उचित राजकोषीय नीति से विकास के लिए उपयुक्त राजस्व का संग्रह सम्भव है।

लेकिन आयोजन के क्रम में राजकोषीय नीति का प्रयोग केवल विकास के लिए आवश्यक सम्पत्तिस्रोतों को सुलभ करने में ही नहीं होता, बल्कि इससे विकास-व्ययों की वृद्धि के कारण उत्पन्न होने वाली मुद्रा-स्फीति को भी नियंत्रित रखा जाता है। आर्थिक विकास के अन्तर्गत व्ययों की वृद्धि होने और उसके अनुरूप

१. देखिए, "रोस्टोव आन ग्रोथ" पृष्ठ ११, कैम्ब्रिज विश्व विद्यालय द्वारा प्रकाशित (१९५९)।

उपभोग्य पदार्थों की पूर्ति न बढ़ने से मुद्रा-स्फीति की स्थिति का आना स्वाभाविक है। मुद्रा-स्फीति के अनियंत्रित प्रसार से विकास की गति अवरुद्ध हो सकती है। विकास के क्रम में जितनी अतिरिक्त आय उत्पन्न होती है और उससे प्रभावित माँग का जितना बढ़ सकना सम्भव होता है, उसी के अनुरूप मुद्रा-स्फीति की विकट स्थिति उपस्थित होती है। इसे रोकने के लिए अतिरिक्त आय का अधिकांश करारोपण द्वारा राजस्व के रूप में संगृहीत करने का प्रयास किया जाता है, जिससे प्रभावित माँग बढ़ न सके और मुद्रा-स्फीति विकट रूप न ले ले।

मुद्रा-स्फीति रोकने के अतिरिक्त राजकोषीय नीति का प्रयोग विनियोगों को उचित दिशा देने में भी किया जाता है। करों की विभिन्न दरें लागू करके तथा उचित दिशाओं में कर-छूट देकर व्यक्तिगत और संस्थागत विनियोगों को अखिल-राष्ट्रीय विकास के क्रमों के अनुरूप रखा जा सकता है और अवांछनीय विनियोगों को रोका भी जाता है। इससे सम्पूर्ण राष्ट्र के साधन विकास संबंधी कार्यक्रमों में लग पाते हैं। प्रो० रोस्टोव[1] ने ठीक ही कहा है कि राजकोषीय नीति से केन्द्रीय सरकार इस प्रकार की अर्थव्यवस्था चला सकती है, जिसमें राष्ट्र के संसाधनों का प्रयोग विकास के लिए सरलतापूर्वक हो सके।

इन विवरणों से स्पष्ट है कि आर्थिक विकास के लिए संचालित आयोजनों की सफलता में राजकोषीय नीति से विशेष योग मिलता है। भारतीय आयोजनों के संचालनक्रम में सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी राजकोषीय नीति का प्रयोग किया जाता है। आय और धन के वितरण में प्रचलित असमानता घटाने में राजकोषीय नीति के अन्तर्गत आय और सम्पत्ति पर विभिन्न प्रकार के ऐसे कर लगाये जातें है, जिनसे विकास के साधनों का संग्रह तो होता ही है, साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाना भी सरल हो जाता है।

राजकोषीय नीति को कार्यान्वित करने की विधियो में करारोपण प्रमुख है। हमारे यहाँ विकासवादी आयोजनों के अंतर्गत इस नीति के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करों का पूर्ण उपयोग होता है। जैसा कि आगे दिये गये विश्लेषण से स्पष्ट होगा, सरकारी क्षेत्र में आवश्यक विकास-व्यय के लिए उपयुक्त राशियों का संग्रह करने में करों की दरों, उनके प्रकार और प्रभावक्षेत्र में अपूर्व वृद्धि हुई है। संघ

१. देखिए, रोस्टोव की पूर्वोक्त रचना, पृष्ठ १५-१६।

और राज्य सरकारों द्वारा प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय आयोजनकाल में अतिरिक्त राशियों के संग्रह के लिए करारोपण का पर्याप्त आश्रय लिया गया है। कई नये कर लगाये भी गये हैं। विकास संबंधी विनियोगों को प्रोत्साहन देने तथा मुद्रा-स्फीति पर नियंत्रण रखने में करों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। आय और धन के वितरण की असमानता मिटाने के लिए धन-कर, सम्पत्ति-शुल्क, व्यय-कर और उपहार-कर लगाकर प्रत्यक्ष करों को सर्वांग रूप में व्यवहार में लाया गया है।

प्रथम आयोजन की वित्तीय व्यवस्था में करों का योग

भारत का प्रथम पंचवर्षीय आयोजन देश को प्रगति के पथ पर लाने का प्रथम पग रहा है। इसमें सन् १९५१-५२ से १९५५-५६ तक की अवधि में पहले २०६८.७ करोड़ रुपये व्यय करने का निश्चय किया गया था। कुल व्यय का १६ प्रतिशत कृषि और सामुदायिक विकास पर, २८ प्रतिशत सिचाई और शक्ति पर, ८ प्रतिशत उद्योगों पर, २४ प्रतिशत परिवहन और समाचार-संवहन पर तथा २४ प्रतिशत ही सामाजिक सेवा पर लगाने का निश्चय था। इस राशि में से १२३३.७ करोड़ रुपये केन्द्र सरकार द्वारा और ८३५ करोड़ रुपये राज्य सरकारों द्वारा एकत्र किये जाने का निश्चय हुआ था। इसमें से लगभग १२५८ करोड़ रुपये करों, लोक-ऋणों, छोटी बचतो आदि आन्तरिक स्रोतों से एकत्र किये जाने की संभावना की गयी थी और ८११ करोड रुपये विदेशी सहायता तथा घाटे के बजट से सुलभ करने की आशा की गयी थी। आयोजन के तीसरे वर्ष में प्रारम्भ के निश्चित व्यय की राशि को आवश्यक प्रगति और रोजगारी के अवसरों के प्रसार के अनुरूप नहीं पाया गया। परिणामस्वरूप व्यय की कुल राशि को २३७७.७ करोड़ रुपये तक बढ़ाने का निश्चय किया गया। आयोजन-काल में व्यय की जाने वाली इस संशोधित राशि में १३८९.५ करोड़ रुपये केन्द्र द्वारा और शेष ९८८.२ करोड़ रुपये राज्य सरकारों द्वारा व्यय किये जाने का निश्चय किया गया। संशोधन में बढ़ी हुई राशि की व्यवस्था विशेषतः आन्तरिक स्रोतों के उपयोग से ही की जाने वाली थी।

प्रथम आयोजन की समाप्ति के पश्चात् सन् १९५१-५२ से १९५५-५६ तक की अवधि में केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा किये गये विकास-व्ययों की समीक्षा से प्रकट होता है कि इस अवधि में केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा कुल

मिलाकर २०१२.४ करोड़ रुपये ही व्यय होने का अनुमान रहा। विभिन्न वर्षों में व्यय की राशियाँ निम्नांकित प्रकार से रहीं—

	१९५१-५२ वास्तविक	१९५२-५३ वास्तविक	१९५३-५४ वास्तविक	१९५४-५५ वास्तविक	१९५५-५६ वास्तविक	योग
केन्द्र	१३२.१	१२५.४	१८१.३	२८३.६	३९२.५	१११४.९
राज्य सरकारें	१२७.३	१४२.२	१६१.७	१९२.३	२७४.०	८९७.५
योग	२५९.४	२६७.६	३४३.०	४७५.९	६६६.५	२०१२.४

केन्द्र द्वारा किये गये व्ययों की १११५ करोड़ रुपये की अनुमानित राशियों में से लगभग ४२० करोड़ रुपये (३८ प्रतिशत) चालू राजस्व की बचत से तथा रेलों की आय से, ३५८ करोड़ रुपये (लगभग २३ प्रतिशत) लोक-ऋण, छोटी बचतों और अन्य पूंजीगत प्राप्तियों से एकत्र किये गये थे। इस प्रकार एकत्रित ७७८ करोड़ रुपयों में से लगभग ३५० करोड़ रुपये केन्द्र द्वारा राज्य सरकारों को विकास के लिए हस्तांतरित कर दिये गये थे। विदेशों से केन्द्र को लगभग २०३ करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे और घाटे के बजट से शेष राशि की व्यवस्था हुई थी। राज्यों में व्यय की अनुमानित राशि के ८९७.५ करोड़ रुपयों की व्यवस्था निम्नांकित प्रकार से की गयी थी—

चालू राजस्व	२६९	करोड़	रुपये
केन्द्रीय सहायता	३५०	,,	,,
लोक-ऋण और पूंजीगत प्राप्ति	२३०	,,	,,
घाटे का बजट	४८	,,	,,

इन विवरणों से स्पष्ट है कि विकास-व्ययों की अधिकांश व्यवस्था आंतरिक स्रोतों से की गयी थी। आंतरिक स्रोतों में करों तथा रेलों से प्राप्त होने वाली आयों को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया था। पाँच वर्ष की अवधि में इस स्रोत से लगभग ७४० करोड़ रुपये प्राप्त करने की आशा की गयी थी। प्रथम आयोजन-काल के अन्त तक इस स्रोत से लगभग ६९० करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे। इस में कमी का कारण करों की प्राप्ति का अभाव नहीं था, बल्कि ऋणों से जितनी राशि की सम्भावना की जाती थी उससे कम राशि सुलभ हो सकी। केन्द्र और राज्य-सरकारों में करों से प्राप्त आय अनुमान के अनुरूप रही। इस प्रकार करों ने आशाओं के अनुकूल विकास के लिए उपयुक्त साधन सुलभ करने में योग दिया।

करों से होनेवाली प्राप्ति को बढ़ाने के लिए सन् १९५१-५२ से ही संघ-सरकार द्वारा विशेष प्रयास प्रारंभ कर दिये गये थे। करारोपण का भारी क्रम अपनाया गया था। यद्यपि मुद्रास्फीति को नियंत्रित करना भी अतिरिक्त करारोपण का प्रमुख उद्देश्य था, लेकिन संपत्ति-स्रोतों के संग्रह में उसका योग विशेष उल्लेख्य रहा। निर्यात-शुल्क की दरों को, जिन्हें १९५०-५१ में एक बार बढ़ाया जा चुका था, पुनः बढ़ाने की व्यवस्था १९५१-५२ में की गयी। इसके अतिरिक्त आय-कर पर अधिकार, कम्पनी-कर की दर में वृद्धि और अतिरिक्त उत्पादन शुल्क का प्रारंभ इस वर्ष के अतिरिक्त करारोपण प्रयासों में विशेष महत्त्वपूर्ण रहे। इन अतिरिक्त करों से लगभग ३२ करोड़ रुपये उसी वर्ष प्राप्त किये जाने की आशा की गयी थी। अगले दो वर्षों में निर्यात शुल्क को छोड़कर अन्य सभी करों में की गयी वृद्धियों को पूर्ववत् रखा गया और उनसे अतिरिक्त प्राप्ति की अनुमानित राशियाँ सरकार को सुलभ होती रहीं। सन् १९५४-५५ में उत्पादन शुल्क की दरों में पर्याप्त वृद्धि पुनः की गयी। जैसा कि पहले दिये गये आँकड़ों से स्पष्ट है, १९५४-५५ से आयोजन के अन्तर्गत विकास-व्ययों की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि की गयी, ताकि आयोजन के अन्तर्गत अर्थात् १९५५-५६ तक व्यय की पूर्व निश्चित राशियाँ विकास कार्यों में लग सकें। १९५४-५५ में अधिक व्यय के निश्चय को कार्यान्वित करने के लिए अतिरिक्त करारोपण का विशद क्रम अपनाया गया। इसमे ११ करोड़ रुपये और सुलभ किये जाने की संभावना की गयी। सन् १९५५-५६ में प्रथम आयोजन-काल के सभी वर्षों की अपेक्षा अधिक व्यय करने का क्रम अपनाया गया। इसके लिए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के करों में पर्याप्त वृद्धि की गयी। आय-कर और उत्पादन-शुल्क इस प्रकार की वृद्धि के प्रमुख क्षेत्र रहे। इन नये करों से उस वर्ष लगभग १७ करोड़ रुपये प्राप्त किये जाने का अनुमान था। प्रथम पंचवर्षीय आयोजन काल में अतिरिक्त करों से कुल मिलाकर लगभग १७५ करोड़ रुपये प्राप्त हुए।[1]

राज्य सरकारो द्वारा भी प्रथम आयोजन-काल में अतिरिक्त करारोपण से लगभग ८०.४ करोड़ रुपये प्राप्त होने का अनुमान था। इसमें से लगभग आधा

१. इस राशि में निर्यात शुल्क में किये गये परिवर्तनों से सुलभ होने वाली प्राप्तियों का समावेश किया गया है।

बिक्री-कर, मोटर-स्प्रिट की बिक्री पर कर, तम्बाकू, सिगरेट और सिगार पर कर से प्राप्त हुआ। कुछ राज्यों में सिंचाई के रेट में वृद्धि की गयी और उससे लगभग ६ करोड़ रुपये प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया। भू-राजस्व में भी वृद्धि करके ५.४ करोड़ रुपये प्राप्त किये गये थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि राज्यों में भी अतिरिक्त करारोपण द्वारा विकास के लिए आवश्यक राशि सुलभ करने का प्रयत्न किया गया था। लेकिन यहां स्मरणीय है कि राज्यों से अतिरिक्त करारोपण द्वारा जितनी राशि एकत्र किये जाने की सम्भावना प्रारम्भ में की गयी थी, उसके अनुरूप परिणाम न रहे। प्रारम्भ में यह आशा की गयी थी कि राज्य सरकारें अतिरिक्त करारोपण से लगभग २३० करोड़ रुपये आयोजन काल में एकत्र कर सकेंगी। सिंचाई की दर में वृद्धि से २९.५ करोड़ और भू-राजस्व में परिवर्तन द्वारा ३४ करोड़ रुपये की अतिरिक्त प्राप्ति की आशा की गयी थी।

अतिरिक्त करारोपण से अनुमानित राशियों के संग्रह में राज्य सरकारों की विफलता के कई विशेष कारण थे। उनमें सर्वप्रमुख आयोजन-आयोग के अनुमानों के अनुरूप करारोपण के कार्यक्रमों को राज्य सरकारों द्वारा न अपनाया जाना ही रहा। क्षेत्रीय परिस्थितियों और प्रभावों का भी इस कमी में विशेष योग रहा। लेकिन इन्हें स्थायी कारण नहीं माना जा सकता। राज्य सरकारें प्रगति के लिए जितनी सचेष्ट होंगी, उतनी ही अधिक राशि आन्तरिक स्रोतों, विशेषतः अतिरिक्त करारोपण से एकत्र करने की सम्भावना बढ़ेगी। द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन-काल में राज्य सरकारों द्वारा अतिरिक्त करारोपण से एकत्र की गयी राशियाँ इसी ओर निर्देश करती हैं।

सन् १९५५-५६ के वास्तविक व्ययों—६१४ करोड़ रुपयों को दृष्टि में रखते हुए प्रथम पंचवर्षीय आयोजन-काल में कुल विकास व्यय १९६० करोड़ रुपये हुआ। इसमें से ७५२ करोड़ रुपये करों तथा रेलों की बचत से, २०५ करोड़ रुपये बाजार से प्राप्त ऋणों से, ३०४ करोड़ रुपये छोटी बचतों से, ९१ करोड़ रुपये अन्य पूंजीगत प्राप्तियों से, १८८ करोड़ रुपये विदेशी सहायता से और ४२० करोड़ रुपये घाटे के बजट से सुलभ किये गये। इनमे सबसे प्रमुख करों और रेलों की बचत से सुलभ होने वाले योग थे। यदि रेलों की बचत को (११५ करोड़ रुपये) निकाल दिया जाय तो भी करों से प्राप्त राशि की मात्रा (६३७ करोड़ रुपये) अन्य सभी स्रोतों से सुलभ होने वाली राशियों की अपेक्षा अधिक रही। कुल विकास व्ययों में इसका योग ३२.५ प्रतिशत था।

इससे प्रकट है कि प्रथम पंचवर्षीय आयोजन-काल में कुल विकास-व्ययों का लगभग एक तिहाई करों से प्राप्त हुआ। विकासव्ययों में योग देने की अधिकता ही करों की विशेषता नहीं है, बल्कि आवश्यकता के अनुरूप बढ़ाये जाने की सुविधा और प्राप्ति की निश्चितता इस स्रोत का सबसे बड़ा गुण है। द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन-काल में विकास व्ययों की जो राशि निश्चित हुई है और उसमें करों का जैसा योग सम्भावित है, उससे भी विकास क्रम में करो के महत्त्व की और पुष्टि होती है।

द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन की वित्त-व्यवस्था में करों का महत्त्व

द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन के अन्तर्गत प्रारम्भ में ४८०० करोड़ रुपये सरकारी क्षेत्र में व्यय किये जाने का निश्चय किया गया था। इस राशि का ५६८ करोड़ रुपये कृषि और सामुदायिक विकास पर, ९१३ करोड़ रुपये सिंचाई और शक्ति पर, ८९० करोड़ रुपये उद्योग और खानों पर, ३८५ करोड़ रुपये परिवहन और समाचार-संवहन पर, ९४५ करोड़ रुपये सामाजिक सेवाओं पर तथा ९९ करोड़ रुपये अन्य व्ययों के रूप में लगने वाला था। ये राशियाँ प्रथम पंचवर्षीय आयोजन की तुलना मे बहुत अधिक रही। नीचे दी हुई तालिका में द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन के अंतर्गत प्रथम पंचवर्षीय आयोजन की तुलना में इन क्षेत्रों पर होने वाले व्ययों की वृद्धि का विवरण दिया गया है—

व्यय के क्षेत्र	पहले आयोजन की तुलना में दूसरे आयोजन के अंतर्गत वृद्धि (प्रतिशत)
१. कृषि और सामुदायिक विकास	५९.१
२. सिचाई और शक्ति	३८.१
३. उद्योग और खानें	३९७.२
४. परिवहन	१४८.७
५. अन्य विविध क्षेत्र	४३.५

इस आयोजन-काल में सरकारी क्षेत्र में व्यय होने वाली राशियों का केन्द्र और राज्य सरकारों में निम्नांकित प्रकार का विभाजन था—

व्यय की मदें	केन्द्र द्वारा होने वाले व्यय	राज्यों द्वारा होने वाले व्यय	(करोड़ रुपयों में) —योग
कृषि और सामुदायिक विकास-योजना	६५	५०३	५६८
सिंचाई और शक्ति	१०५	८०८	९१३
उद्योग और खानें	७४७	१४३	८९०
परिवहन और समाचार-संवहन	१२०३	१८२	१३८५
सामाजिक सेवा	३९६	५४९	९४५
विविध	४३	५६	९९
	२५५९	२२४१	४८००

उपर्युक्त व्यय की व्यवस्था के लिए विभिन्न स्रोतों से निम्नांकित क्रम में राशियाँ एकत्र करने का निश्चय किया गया—

	(करोड़ रुपयों में)
१. चालू राजस्व से बचत—	
(अ) १९५५-५६ के करारोपण की दरों पर	३५०
(ब) अतिरिक्त करारोपण से	४५०=८००
२. जनता से प्राप्त ऋण—	
(अ) मुद्रा बाजार से प्राप्त ऋण	७००
(ब) छोटी बचतों से प्राप्त ऋण	५००=१२००
३. बजट के अन्य स्रोत—	
(अ) विकास सम्बन्धी कार्यों में रेलों से सुलभ होने वाले योग	१५०
(ब) प्राविडेण्ट फण्ड और अन्य जमा के मद	२५०=४००
४. बाहरी सहायता से सुलभ होने वाले संसाधन	८००
५. घाटे के बजट से	१२००
६. कमी—जिसे आन्तरिक साधनों का संग्रह करने वाली विधियों से पूरा किया जाने वाला था	४००
	४८००

उपर्युक्त आगणन में दिखायी गयी ४०० करोड़ रुपये की कमी की पूर्ति के लिए करारोपण तथा लोक-ऋण का उपयोग किया जाना स्वाभाविक था।

विदेशी सहायता में आशानुरूप प्राप्ति न होने अथवा घाटे के बजट को यथानिर्णय व्यवस्थित न करने पर आयोजन के लिए आवश्यक संसाधनों में जितनी कमी हो सकती है, उसे भी करारोपण तथा लोक-ऋण से पूरा करने की व्यवस्था सोची गयी। इस प्रकार स्पष्ट है कि आंतरिक स्रोतों से ही द्वितीय आयोजन काल के व्ययों की अधिकांश व्यवस्था का निश्चय रहा। उसमें करों से व्यवस्थित होने वाली राशि की मात्रा अन्य स्रोतों से सुलभ हो सकने वाली राशि की तुलना में किसी प्रकार भी कम महत्त्वपूर्ण नही थी।

द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन के चलने के कुछ समय बाद ही मुद्रा-स्फीति के कारण इस बात की आवश्यकता हुई कि प्रारम्भ में विभिन्न क्षेत्रों में जितना व्यय होना निश्चित था, उसमें परिवर्तन किया जाय, ताकि पूर्वनिश्चित विकास के लक्ष्यों की पूर्ति हो सके। परिवर्तन का क्रम निम्नांकित रूप में रहा :—

व्यय की मदे	प्रारम्भ में निश्चित राशियाँ			परिवर्तन राशियाँ (करोड़ रुपयों में)			
	केन्द्र द्वारा	राज्यों द्वारा	योग	योग का प्रतिशत	केन्द्र द्वारा	राज्य द्वारा	योग	योग का प्रतिशत
१. कृषि और सामुदायिक विकास	६५	५०३	५६८	११·८	६५	५०३	५६८	११.८
२. सिचाई और कृषि	१०५	८०८	९१३	१९·०	९०	७७०	८६०	१७·९
३. लघु और ग्राम-उद्योग	८०	१२०	२००	४·२	६०	१४०	२००	४·२
४. उद्योग और खाने	६६७	२३	६९०	१४·४	८५७	२३	८ ०	१८·४
५. परिवहन और समाचार-सवहन	१२०३	१८२	१३८५	२८·९	११७५	१७०	१३४५	२८·०
६. सामाजिक-सेवा	३९४	५४९	९४५	१९·७	३२१	५४२	८६३	१८·०
७. विविध	४३	५६	९९	२·०	३७	४७	८४	१·७
	२५५९	२२४१	४८००	१००	२५९३	२२०७	४८००	१००

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि सिंचाई और शक्ति, परिवहन और समाचार-संवहन, सामाजिक सेवा तथा विविध क्षेत्रों पर आयोजन काल में किये जाने वाले विकास व्ययों को पहले की अपेक्षा कम कर दिया गया और उद्योग तथा खानों पर होने वाले विकास व्ययों में उपर्युक्त क्षेत्रों में की गयी कमियों के अनुरूप वृद्धि कर दी गयी। कृषि, सामुदायिक विकास तथा लघु उद्योग और ग्राम उद्योगों पर होने वाले व्ययों की राशियाँ पूर्ववत् रखी गयीं।

क्षेत्रीय व्ययों की राशियों में परिवर्तन के साथ केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा किये जाने वाली व्ययों की मात्राओं में भी पहले की अपेक्षा परिवर्तन कर दिये गये। केन्द्र द्वारा किये जाने वाले विकास-व्यय में ३४ करोड़ रुपये बढ़ा कर उसे २५९३ करोड़ रुपये कर दिया गया और इसके विपरीत राज्य सरकारों द्वारा किये जाने वाले व्ययों की राशि में ३४ करोड़ रुपये घटाकर २२०७ करोड़ रुपये कर दिया गया।

इस आयोजन के तीसरे वर्ष में ही साधनों का अभाव भी प्रकट होने लगा। ऐसा अनुमान लगाया जाने लगा कि पाँच वर्षों की अवधि में जितने व्ययों का निश्चय किया गया, उसके अनुरूप राशियाँ सुलभ नही हो सकेंगी। सन् १९५८-५९ के अन्त तक केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा कुल मिलाकर २४५६ करोड़ रुपये ही व्यय हो सकने का अनुमान रहा। इस राशि को एकत्र करने में केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा यथासम्भव सभी प्रयास किये गये। शेष दो वर्षों—१९५९-६० और १९६०-६१—में सभी सम्भव स्रोतों का पूर्ण उपयोग करने के बाद भी १८०४ करोड़ रुपये से अधिक संगृहीत किया जा सकना सम्भव नही प्रतीत होता था। चालू राजस्व से १९५७-५८ और १९५८-५९ वर्षों में औसतन १५० करोड़ रुपये वार्षिक प्राप्त हुए थे। उसको देखते हुए तथा अतिरिक्त करों से प्राप्त होने वाले राजस्व को दृष्टि में रखते हुए शेष दो वर्षों में इस स्रोत से अधिक से अधिक ३२० करोड़ रुपये सुलभ किये जाने की आशा थी। आयोजन के प्रथम तीन वर्षों में रेलों से होने वाली आय लगातार बढ़ती रही। उसी के आधार पर १९५९-६० और १९६०-६१ में औसतन ६० करोड़ रुपये वार्षिक पाये जाने की संभावना की गयी। १९५८-५९ में छोटी बचतों और लोक-ऋणों से २७० करोड़ रुपये प्राप्त होने का अनुमान रहा। यह राशि पिछले वर्ष (१९५७-५८) की तुलना में ९० करोड़ रुपये अधिक थी। इस स्रोत से मिलने वाली राशि की वृद्धि के आधार पर ही शेष दो वर्षों में ४४० करोड़ रुपये एकत्र किये जाने की

आशा की गयी। पूंजी-प्राप्ति और अन्य विविध आन्तरिक स्रोतों से ४० करोड़ रुपये प्राप्त किये जाने का अनुमान लगाया गया। इस प्रकार सभी आन्तरिक स्रोतों को मिला कर १९५९-६० और १९६०-६१ में ९२१ करोड़ रुपये प्राप्त किये जाने का अनुमान था, जिसकी वार्षिक औसत लगभग ४६० करोड़ रुपये आती है। पिछले तीन वर्षों की प्राप्ति की वार्षिक औसत ३६७ करोड़ रुपये को देखते हुए इस राशि को अधिक माना जा सकता है। विदेशी सहायता से अन्तिम दो वर्षों में ६०० करोड़ रुपये प्राप्त किये जाने की आशा की गयी, जबकि पहले तीन वर्षों में इस स्रोत से कुल ४३८ करोड़ रुपये ही प्राप्त हुए थे। इस प्रकार विदेशी स्रोत से ३०० करोड़ रुपये वार्षिक प्राप्त होने की आशा सुलभता की चरम सीमा पर रही। घाटे के बजट से १९५८-५९ तक लगभग ९१७ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी थी। यह राशि देश की अर्थव्यवस्था सम्बन्धी सँभाल की सीमा तक पहुँच चुकी थी। प्रथम तीन वर्षों में कीमत तल पर पड़ने वाले उसके अनुचित प्रभाव को रोकने में विदेशों से किये जाने वाले आयातों का विशेष योग रहा। लेकिन उससे विदेशी विनिमय की संचित राशि बड़े ही अनुचित ढंग से प्रभावित हुई। भविष्य में आयात बढ़ाने के लिए विदेशी विनिमय की संचिति का आश्रय लिया जा सकना सम्भव नहीं रहा, इसलिए घाटे के बजट से बहुत सीमित रूप में ही शेष वर्षों में विकास के साधनों की व्यवस्था सम्भव हुई। यही कारण था कि १९५९-६० और १९६०-६१ के लिए घाटे के बजट से २८३ करोड़ रुपयों की व्यवस्था की आशा की गयी।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि वित्त के सभी स्रोतों की सीमा देखते हुए १९५९-६० और १९६०-६१ वर्षों में केवल १८०४ करोड़ रुपयों की व्यवस्था हो सकने की आशा थी। इस प्रकार द्वितीय आयोजन-काल के अन्त तक सरकारी क्षेत्र में केवल ४२६० करोड़ रुपये लग सकते थे। लेकिन आयोजन के अन्तर्गत निश्चित किये गये विकास कार्यक्रमों को साधनों के अभाववश ४५० करोड़ रुपये तक छाँटना राष्ट्र की प्रगति के लिए घातक था। आयोजन के दूसरे वर्ष में ही व्ययों के क्रम में जो परिवर्तन किये गये, उनसे सिचाई, शक्ति, समाज-सेवा एवं परिवहन के विकास के लिए निश्चित कार्यक्रमों पर अनुचित प्रभाव पड़ा था। यदि निश्चित व्ययों की राशि में और कमी की जाती, तो विकास का क्रम ही क्षत-विक्षत हो जाता और जितनी राशि लग चुकी थी अथवा आगे और लगने वाली थी, उसका पूर्ण लाभ नहीं उठाया जा सकता था। इन्हीं तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए आयोजना-

आयोग ने द्वितीय आयोजन-काल में कम से कम ४५०० करोड़ रुपयों का व्यय आवश्यक समझा। इसके लिए शेष दो वर्षों में १८०४ करोड़ रुपयों के साथ-साथ २४० करोड़ रुपये की और व्यवस्था अनिवार्य मानी गयी। इसके अतिरिक्त राशि को एकत्र करने के सम्बन्ध में आयोजना आयोग का यह सुझाव रहा कि अतिरिक्त करारोपण से १०० करोड़ रुपये, लोक-ऋणों और छोटी बचतों से ६० करोड़ रुपये तथा निश्चित व्ययों में बचत करके और चालू करों तथा ऋणों के बकाया को वसूल करके ८० करोड़ रुपये एकत्र किये जायँ।

उपर्युक्त विवरण इस तथ्य को प्रतिपादित करता है कि आयोजनों के संचालन-काल में आने वाले वित्तीय संकटों के निवारण के लिए आन्तरिक स्रोतों पर ही आधारित रहा जा सकता है और उन स्रोतों के अन्तर्गत निश्चित रूप से योग की सम्भावना करारोपण से की जाती है। द्वितीय आयोजन-काल के वित्तीय संकट को दूर करने के लिए अतिरिक्त करारोपण से १०० करोड़ रुपये एकत्रित किये जाने का सुझाव इसका स्पष्ट प्रमाण है।

अब यहाँ यह विश्लेषण आवश्यक है कि करों द्वारा द्वितीय आयोजन-काल के प्रथम तीन वर्षों में कितनी वित्त-व्यवस्था की जा सकी और वह आयोजन के प्रारम्भ में किये गये अनुमानों की तुलना में कैसी रही। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया गया है, करों से द्वितीय आयोजन-काल में ८०० करोड़ रुपये विकास के लिए सगृहीत करने का अनुमान किया गया था। ४०० करोड़ रुपये की कमी भी इसी स्रोत से पूरी की जाने वाली थी। तीन वर्षो की अवधि में केन्द्र सरकार द्वारा १३९४ करोड़ रुपये, राज्य सरकारों द्वारा १०३२ करोड़ रुपये और सघ द्वारा प्रशासित क्षेत्रों से ३० करोड़ रुपये आयोजन सम्बन्धी विकास-कार्यो मे व्यय किये जाने का अनुमान था। इस राशि की व्यवस्था में करों से ४३९ करोड़ रुपये, रेलों की आय से १२९ करोड़ रुपये, जनता से प्राप्त ऋण, छोटी बचतों और अन्य पूंजीगत प्राप्तियों से ५३२ करोड़ रुपये, विदेशी सहायता से ४३८ करोड़ रुपये और घाटे के बचत से ९१७ करोड़ रुपये की व्यवस्था हुई। इन स्रोतों में करों का महत्त्व उससे सुलभ होने वाली राशि की दृष्टि से ही नही, बल्कि उसके सम्बन्ध में किये जाने वाले संगठित प्रयासों की दृष्टि से भी अधिक रहा। द्वितीय पंचवर्षीय आयोजना के प्रारम्भ से ही करारोपण नीति में ऐसे परिवर्तन लाये गये, जिनसे विकासवादी आयोजन की आवश्यकता के अनुरूप कर-ढाँचा बनाने में पर्याप्त सहायता मिली।

सन् १९५६-५७ वर्ष में कराघान जाँच आयोग द्वारा दी गयी संस्तुतियों के अनुसार केन्द्रीय कर-ढाँचे में कई परिवर्तन किये गये। इस वर्ष के बजट में आय-कर और कम्पनी-कर के अन्तर्गत अतिकर की दरों में वृद्धि लाकर, पूँजीकृत फर्मों पर कर लगाकर, कम्पनियों के अविभाजित लाभों पर दी जाने वाली कर-छूट को समाप्त करके तथा नियत सीमा से अधिक लाभांश पर अतिकर लगाकर राजस्व में कुल ९.६ करोड़ रुपये की वार्षिक वृद्धि की गयी। आयात-करों में वृद्धि द्वारा एक करोड़ रुपये तथा उत्पादन शुल्कों में वृद्धि द्वारा २४.९ करोड़ रुपये की अधिक प्राप्ति करने की व्यवस्था की गयी। डाक सम्बन्धी करों में भी परिवर्त्तन किये गये, जिनके परिणामस्वरूप एक करोड़ रुपयों की वार्षिक वृद्धि राजस्व में हुई। इस प्रकार इस वर्ष के प्रारम्भ में लगाये गये अतिरिक्त करारोपण से ३५.५ करोड़ रुपये अतिरिक्त राजस्व के रूप में संगृहीत करने की व्यवस्था की गयी। इस वर्ष के बीच में कुछ नये कर भी लगाये गये। सितम्बर महीने में सूती वस्त्रो पर उत्पादन शुल्क की दर भी बढ़ा दी गयी, जिससे उस वर्ष ही १५.५ करोड रुपये अतिरिक्त राजस्व के रूप में एकत्र करने की व्यवस्था की गयी। इस वृद्धि से अगले वर्षों मे २७ करोड़ रुपये वार्षिक प्राप्त होने का अनुमान था। नवम्बर महीने में पूंजी-लाभ-कर लगाया गया। १० प्रतिशत से अधिक लाभाश की घोषणा पर अतिरिक्त अति-कर लगाने की व्यवस्था शुरू की गयी। कुछ मदों पर लगने वाले आयात और उत्पादन शुल्क की दरों में भी वृद्धि की गयी। इनसे कुल मिलाकर उस वर्ष ही तीन करोड़ रुपये प्राप्त होने का अनुमान रहा। अगले वर्षों में इनसे १६ करोड़ रुपये वार्षिक राजस्व की प्राप्ति का अनुमान किया गया। इन प्रयासों के अतिरिक्त इस वर्ष निर्यात-शुल्क की दरों में भी कुछ परिवर्तन किये गये, जिनसे उस वर्ष एक करोड़ रुपये तथा अगले वर्षों में तीन करोड़ रुपये वार्षिक प्राप्त करने का अनुमान लगाया गया। इस प्रकार इस वर्ष के अतिरिक्त करारोपण के प्रयास से ३१ मार्च सन् १९५७ तक ५५ करोड़ रुपये और भविष्य में ८१.५ करोड़ रुपये वार्षिक प्राप्त करने का अनुमान किया गया।

सन् १९५७-५८ मे कर के ढाँचे को और भी विस्तीर्ण और व्यापक प्रभावशाली बनाने का प्रयास किया गया। उस वर्ष के अतिरिक्त करारोपण से वर्ष में कुल ७२.६ करोड़ रुपये तथा आगे लगभग ८५ करोड़ रुपये वार्षिक प्राप्ति का अनुमान रहा। आय-कर की कर-सीमा घटाकर कर-वंचन को कम करके तथा कम्पनियों पर लगने वाले करों की दर में वृद्धि करके आय-कर तथा कम्पनी-कर

के अन्तर्गत ८.८ करोड़ रुपये वार्षिक अतिरिक्त राजस्व के रूप में प्राप्त करने की व्यवस्था की गयी। इसी वर्ष धन-कर प्रारम्भ किया गया, जिससे उस वर्ष ९ करोड़ रुपये और आगे प्रतिवर्ष १२.५ करोड़ रुपये प्राप्त होने की सम्भावना की गयी। उत्पादन शुल्कों में इस वर्ष विशेष परिवर्तन किये गये, जिससे उस वर्ष ही ५०.१ करोड़ रुपये तथा आगे प्रतिवर्ष ५७.४ करोड़ रुपयों की प्राप्ति की संभावना की गयी। रेलवे यात्रियों के भाड़े पर कर लगाकर इस वर्ष ४.८ करोड़ रुपये और भविष्य में ९.२ करोड़ रुपये वार्षिक राजस्व प्राप्त करने की व्यवस्था की गयी। इसी वर्ष व्यय-कर लगाने की भी चर्चा प्रारम्भ की गयी, जिससे ३ करोड़ रुपये वार्षिक राजस्व की प्राप्ति की सम्भावना की गयी।

सन् १९५८-५९ में अतिरिक्त करारोपण के प्रयास के अन्तर्गत उपहार-कर प्रारम्भ किया गया, जिससे तीन करोड़ रुपये वार्षिक प्राप्ति का अनुमान रहा। सम्पदा शुल्क के अन्तर्गत कर-छूट की सीमा घटाकर तथा उसकी दरों में परिवर्तन लाकर ५० लाख रुपये वार्षिक वृद्धि की व्यवस्था की गयी। सीमेंट और शक्ति-चालित करघों से बने सूती वस्त्रों पर लगाये जाने वाले उत्पादन-शुल्क की दरों में वृद्धि की गयी। इन सभी प्रयासों से प्रतिवर्ष लगभग ६ करोड़ रुपये की राजस्व प्राप्ति आँकी गयी। लेकिन कुछ उत्पादन-शुल्क की दरों में कमी लाये जाने के कारण इस वर्ष के अतिरिक्त करारोपण से राजस्व-वृद्धि में विशेष योग नहीं हुआ।

इस प्रकार द्वितीय आयोजन-काल के प्रथम तीन वर्ष में केन्द्र सरकार द्वारा लागू किये गये अतिरिक्त करारोपण से ७२२ करोड़ रुपये मिलने का अनुमान रहा है, जबकि आयोजन की वित्त-व्यवस्था निश्चित करते समय केन्द्र में लगाये जाने वाले अतिरिक्त करारोपण से केवल २२५ करोड़ रुपये एकत्र किये जाने की आशा थी। इससे स्पष्ट है कि आयोजन की वित्त-व्यवस्था में करारोपण से आशातीत योग सुलभ हो सकता है।

राज्य सरकारों द्वारा भी अतिरिक्त करारोपण के प्रयास किये गये है। १९५६-५७ में लागू किये गये अतिरिक्त करों से ८.७ करोड़ रुपये और आगामी वर्षों में उनसे १२.४ करोड़ रुपये वार्षिक प्राप्त होते रहने का अनुमान रहा। १९५७-५८ वर्ष में राज्य सरकारों के अतिरिक्त करारोपण से ११.९ करोड़ रुपये और आगामी वर्षों में २०.२ करोड़ रुपये वार्षिक प्राप्त होते रहने का अनुमान लगाया गया। १९५८-५९ वर्ष में लगाये जाने वाले करों से प्रारम्भ में

२० करोड़ रुपये प्राप्त किये जाने की आशा रही, लेकिन जिन करों को लगाया गया उनसे १४ करोड़ रुपये मिलने का ही अनुमान रहा।

प्रथम तीन वर्षों में राज्य सरकारों द्वारा जितने प्रयास अतिरिक्त करारोपण के अंतर्गत किये गये, उनसे १९५८-५९ तक ७९ करोड़ रुपये मिले और आयोजन की पूर्ण अवधि में इनसे १७३ करोड़ रुपये संगृहीत होने का अनुमान रहा। यह राशि आयोजन के प्रारम्भ में राज्य सरकारों द्वारा लागू किये जाने वाले अतिरिक्त करों द्वारा २२५ करोड़ रुपयो की अनुमानित प्राप्ति से केवल ५२ करोड़ रुपये ही कम रही। इससे यह निष्कर्ष निकला जा सकता है कि प्रथम आयोजन काल की अपेक्षा द्वितीय आयोजन-काल में राज्य सरकारें अतिरिक्त करारोपण द्वारा राजस्व संगृहीत करने में आशाओं के अनुरूप अधिक सफल हो रही है।

१९५६-५७ से १९५८-५९ तक केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा लागू किये गये अतिरिक्त करारोपण से द्वितीय आयोजन-काल में ९०० करोड़ रुपये प्राप्त होने का अनुमान रहा।[१] इससे आयोजन की वित्त-व्यवस्था के क्रम में निश्चित अतिरिक्त करो से सुलभ की जाने वाली राशि ४५० करोड़ रुपयों की ही पूर्ति नही होती, बल्कि उन ४०० करोड़ रुपयों की भी व्यवस्था हो सकती है, जिनके लिए आयोजन के प्रारम्भ में कोई समुचित स्रोत निश्चित नही किया जा सका था। लेकिन अतिरिक्त करों से राजस्व में जितनी वृद्धि सम्भावित है, वह पूर्णतः विकासव्ययो में नही लगायी जा सकती। सुरक्षा, गैर विकास व्यय, आदि की व्यवस्था में भी इसका उपयोग किया जाता है। यही कारण है कि केन्द्र सरकार द्वारा इन तीन वर्षों में केवल ३०५ करोड़ रुपये आयोजन के विकास व्ययों में लगाये जा सकने का अनुमान रहा है। संपूर्ण आयोजन-काल में केन्द्र के चालू राजस्व से आयोजन की वित्त-व्यवस्था में अनुमानतः ४६५ करोड़ रुपये ही लग सकेंगे। राज्य सरकारो द्वारा भी अतिरिक्त करारोपण से सुलभ होने वाली पूर्ण राशि का उपयोग आयोजन के अन्तर्गत निश्चित व्ययों में नहीं किया जा सकता।

प्रथम दो वर्षों में राज्य सरकारों द्वारा आयोजन संबंधी कार्यक्रमों पर ८५८ करोड़ रुपये व्यय होने का निश्चय था, लेकिन केवल ६५४ करोड़ रुपये ही व्यय हो सके। व्यय में इस कमी का प्रथम कारण साधनों का अभाव था। अतिरिक्त करारोपण से जितनी राशियाँ राज्यों को सुलभ हुईं उनको यदि पूर्णतया विकास-व्ययों में ही लगाया गया होता, तो सम्भव था विकास-व्यय में निश्चित की हुई

राशि की तुलना में इतनी कमी न होती, लेकिन राज्यों के पुनर्गठन तथा उससे उत्पन्न अन्य परिस्थितियों के कारण गैर-विकास व्यय की मात्रा और उसकी अनिवार्यता बढ़ गयी। फलस्वरूप विकास व्ययों को उचित प्रश्रय न दिया जा सका। इसलिए यह कहा गया है कि विकास के लिए वित्तीय व्यवस्था के क्रम में इतना ही पर्याप्त नहीं है कि अतिरिक्त कर लगाने की व्यवस्था की जाय, बल्कि उस सम्बन्ध में यह भी आवश्यक है कि उनसे जितनी राशि सुलभ होती है उसका कुल अथवा अधिकांश भाग विकास-व्ययों में लगे। जहाँ तक राज्यों द्वारा आयोजन के लिए वित्त-व्यवस्था करने का प्रश्न है, केन्द्र से इन्हें मिलने वाली सहायता तथा अतिरिक्त करारोपण सम्बन्धी उनके प्रयासों को देखते हुए यह कार्य बहुत कठिन नही प्रतीत होता। राज्य-सरकारें सामान्य विक्री-कर, कृषि आयकर, भू-राजस्व और सिंचाई के रेटों, सुधार-कर, बिजली के रेटों और शुल्कों, मोटर गाड़ियों, यात्रियो और सामान के आवागमन पर कर आदि में आवश्यकतानुसार अतिरिक्त करारोपण कर सकती हैं। इनमें से कुछ ऐसे क्षेत्र है (भू-राजस्व, सिंचाई के रेट, कृषि-आय-कर) जिनमें करारोपण की पद्धति और दर में परिवर्तन करने से पर्याप्त मात्रा में राजस्व-संग्रह हो सकता है। कुछ ऐसे क्षेत्र हैं (जैसे सुधार-कर, बिजली के रेट और शुल्क आदि) जिनमें विकास की वृद्धि के साथ-साथ अतिरिक्त राजस्व की प्राप्ति सम्भावित है। इन तथ्यों से प्रकट है कि राज्य-सरकारें अतिरिक्त करारोपण द्वारा अनुमानित राशि से भी अधिक राजस्व एकत्र कर सकती हैं।

इन विवरणों से स्पष्ट है कि करारोपण ऐसा स्रोत है जिससे विकास के लिए आवश्यक राशि एकत्र की जा सकती है। विकास का क्रम ज्यों-ज्यो बढ़ता जाता है, इस स्रोत से राजस्व प्राप्त करने का क्षेत्र भी विस्तृत होता जाता है। इसके अतिरिक्त करों के प्रशासन में कुशलता लाकर भी चालू करों से प्राप्त होने वाले राजस्व की मात्रा बढ़ायी जा सकती है। द्वितीय आयोजन के अन्तिम दो वर्षों मे केन्द्र और राज्य-सरकारों द्वारा १०० करोड़ रुपये और प्राप्त करने का सुझाव दिया गया। उसमें नये करों के प्रारम्भ के प्रस्ताव के साथ ही करों के प्रशासन मे सुव्यवस्था और कुशलता लाने पर भी ज़ोर दिया गया था, क्योंकि जैसा कराधान जाँच-आयोग का निष्कर्ष रहा, भारतीय करों से प्राप्त होने वाले राजस्वों में कमी का प्रधान कारण करवंचन है। यदि कर-प्रशासन को सुधारा जाय तो करारोपण से प्राप्त होने वाले राजस्व में अपूर्व वृद्धि हो सकती है।

तृतीय पंचवर्षीय आयोजन की वित्त-व्यवस्था में करों का स्थान

तृतीय पंचवर्षीय आयोजन-काल में सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत होने वाले विकास पर ७,२५० करोड़ रुपये व्यय किये जाने का अनुमान है। इस राशि के उद्ग्रहण का निम्नांकित क्रम आयोजना के प्रारूप में उल्लिखित है[1]—

वित्तीय साधन के प्रमुख स्रोत

वित्तीय साधन के स्रोत	राशि (करोड़ रु०)
१. वर्तमान कराधान से सुलभ राजस्वों की बचत	३५०
२. रेलों से प्राप्त योग	१५०
३. सरकारी सस्थाओं की आय	४४०
४. लोक ऋण	८५०
५. लघु बचते	५५०
६. प्राविडेण्ट फण्ड, सुधार-कर, स्पात-मूल्य-समीकरण-कोष और विविध पूंजी-प्राप्तियाँ ...	५१०
७. अतिरिक्त करारोपण जिसमें सरकारी सस्थाओं की बचतो को बढाने के प्रयत्न सम्मिलित हैं ...	१,६५०
८. विदेशी सहायता	२,२००
९. घाटे के बजट से	५५०
योग	७,२५०

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि करारोपण से कुल २,००० करोड़ रुपये तृतीय पंचवर्षीय आयोजन-काल मे प्राप्त किये जाने की सम्भावना की गयी है। यह राशि कुल वित्तीय व्यवस्था का लगभग २८ प्रतिशत है। इस प्रकार अगले आयोजन का सफल संचालन बहुत कुछ अतिरिक्त करारोपण की व्यवस्था पर निर्भर है। इस समय कुल राष्ट्रीय आय का लगभग ८.५ प्रतिशत करों के रूप में उद्गृहीत

१. देखिये, आयोजना आयोग द्वारा प्रकाशित पंचवर्षीय आयोजन का प्रारूप पृ० ४७।

किया जाता है। राष्ट्रीय आय में जितनी वृद्धि तृतीय आयोजन-काल में सम्भावित है, उसे देखते हुए प्रस्तावित अतिरिक्त करारोपण के कार्यान्वित करने पर करों से उद्गृहीत राशि तृतीय आयोजन काल के अन्त तक राष्ट्रीय आय का लगभग ११ प्रतिशत हो जायगी। विकास-क्रम की विशालता देखते हुए करों का राष्ट्रीय आय से यह अनुपात बहुत अधिक नहीं कहा जा सकता।

अतिरिक्त करारोपण का प्रयास केन्द्र सरकार और राज्य-सरकारों द्वारा किया जायगा। राज्य-सरकारों से कुल प्रस्तावित अतिरिक्त करारोपण की राशि के तिहाई की व्यवस्था की आशा है। शेष दो-तिहाई केन्द्रीय सरकार द्वारा सुलभ किया जाने वाला है। इन बड़ी राशियों की व्यवस्था सम्भव करने के लिए भारत-सरकार और राज्य-सरकारों के कर-ढाँचों में अपूर्व परिवर्तन आवश्यक होगा। अतिरिक्त करारोपण के इस प्रस्ताव के प्रकाशन के पश्चात् से ही यह प्रश्न उठ रहा है कि क्या ये प्रस्ताव व्यावहारिक हैं। कुछ लोगों का मत है कि बहुत बड़े पैमाने पर करारोपण करने से विकास का क्रम अवरुद्ध हो सकता है और देश में कीमतों की वृद्धि लगातार होती जायगी। इस प्रकार ये करारोपण कीमतों की वृद्धि रोकने में सहायक न होकर उसे और प्रोत्साहित करने में कार्यशील हो सकते हैं। लेकिन यदि दो दृष्टिकोणों से इस पर विचार किया जाय तो यह आशंका निर्मूल सिद्ध हो सकती है। पहला दृष्टिकोण यह है कि अतिरिक्त करारोपण विकास-क्रम में होने वाले अतिरिक्त उत्पादन और राष्ट्रीय आय की वृद्धि से सम्बद्ध हो। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि अतिरिक्त करारोपण का क्रम उन क्षेत्रों में न अपनाया जाय जहाँ उनसे उत्पादन-कार्य की प्रेरणा पर अनुचित प्रभाव पड़ने की आशंका हो, बल्कि उसे उन क्षेत्रों में अधिकांशतः लागू किया जाय जहाँ आय की वृद्धि के कारण उपभोगों के बढ़ने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त कर-प्रशासन में और कुशलता लाकर तथा कर-वंचन रोकने की विधियों को अपनाकर भी कर-भार बिना बढ़ाये कर से सुलभ होने वाले राजस्वों की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है। प्रत्यक्ष-कर-प्रशासन-जाँच समिति के सुझावों को व्यवहार में लाने का प्रयास इस दिशा में सहायक हो सकता है। अप्रत्यक्ष करों को लगाने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है, क्योंकि इनमें कीमतों में वृद्धि लाने की विशेष क्षमता होती है। करारोपण के प्रत्येक प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के पूर्व इसके सम्भावित परिणामों का विश्लेषण आवश्यक है, क्योंकि, जैसा कि आयोजना-आयोग ने तृतीय पंचवर्षीय आयोजन के प्रारूप में स्पष्ट कहा है, करारोपण चाहे प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष,

उसके प्रभाव प्रायः विविधरूपीय होते हैं। आवश्यक करारोपण के कारण थोड़ी-बहुत जो भी असुविधा नागरिकों को होती है, उसे सहर्ष अंगीकार करने की तत्परता वांछनीय है। प्रजातन्त्रात्मक पद्धतियों से चलाये जाने वाले विकास-क्रम के लिए जनता से त्याग अपेक्षित है।

राजस्व-संग्रह के साधन रूप में करों की सीमाएँ

करों का प्रयोग केवल राजस्व की दृष्टि से ही नहीं किया जा सकता। चूंकि जनता के आर्थिक व्यवहारों पर इनका गहरा प्रभाव पड़ता है, इसलिए करारोपण के सम्बन्ध में यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि किसी विशेष कर को लागू करने से जनता की बचत बढ़ाने तथा कार्य करने की प्रवृत्ति पर अनुचित प्रभाव तो नहीं पड़ता। प्रत्यक्ष करों के सम्बन्ध में यह प्रायः कहा जाता है कि इनसे जितना उपभोग नियन्त्रित नही होता, उससे अधिक बचत का क्रम अनुचित ढंग से प्रभावित हो जाता है और चूंकि जनता की बचत सरकारी तथा निजी क्षेत्र में किये जाने वाले विकास व्ययों की व्यवस्था का एक प्रमुख स्त्रोत होती है, इसलिए प्रत्यक्ष करों से राजस्व का सग्रह एक नियत सीमा से अधिक नही हो सकता।

उत्पादन-प्रेरणा पर भी करों का विशेष प्रभाव पड़ता है। अप्रत्यक्ष करों के अन्तर्गत उत्पादन-शुल्क उत्पादन-प्रेरणा से पूर्णतः सम्बद्ध होते हैं। यही कारण है कि जिन क्षेत्रों में उत्पादनों की वृद्धि आवश्यक समझी जाती है, वहाँ उत्पादन-शुल्क की दरो में कमी की जाती है। राजस्व की अधिक आवश्यकता रहते हुए भी आयोजन-काल के अन्तर्गत उत्पादन-शुल्कों में जो कमियाँ लायी गयी हैं, उनमें से अधिकांश के उद्देश्य उत्पादन-प्रेरणा से सम्बद्ध रहे हैं। उत्पादन की प्रेरणा के लिए ही कर-छूट के साथ-साथ विशेष उद्योगों को सरकारी राजस्व से भी सहायता दी जाती है। इस सहायता को विकास-व्ययों के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है और इन्हें सामाजिक मद पर किये जाने वाले व्ययों जैसा माना जाता है। ऐसी सहायता प्राय. उन उद्योगों को दी जाती है जो विकास के भावी क्रम के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण समझे जाते हो अथवा जिनकी माँग बहुत व्यापक हो और जिनके पर्याप्त विकास के लिए अधिक पूंजी अथवा विशेष औद्योगिक कुशलता आवश्यक हो।

देश के विदेशी विनिमय की स्थिति सुधारने के लिए भी करों का माध्यम अपनाया जाता है। देश के निर्यात और आयात के ढाँचे में भीतरी विकास की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन लाने के लिए करों का प्रयोग किया जाता है।

देश के विकास-क्रम में बाधक हो सकने वाले आयातों पर नियन्त्रण रखने में भी करोंका उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार जिन वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाना आवश्यक समझा जाता है, उन पर निर्यात-शुल्क की दरों में कमी कर दी जाती है और जिनके निर्यात नियन्त्रित किये जाने को होते हैं, उन पर निर्यात-शुल्क की दरें बढ़ा दी जाती हैं। द्वितीय आयोजन-काल में निर्यात-शुल्क की दरों में जो भारी कमियाँ की गयीं, उनका मुख्य उद्देश्य निर्यात को प्रोत्साहन देना ही रहा। चूंकि निर्यात बढ़ा कर और आयात नियन्त्रित रखकर राष्ट्र के विदेशी विनिमय की स्थिति को सुदृढ़ रखना था, इसलिए राजस्व पर पड़ने वाले अनुचित प्रभावों को दृष्टि में रखते हुए भी निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए निर्यात-शुल्क की दरों में कमी लायी गयी।

इन विवरणों से स्पष्ट है कि करों का उपयोग विकास-आयोजन के क्रम में राजस्व-संग्रह के साधन के रूप में ही नहीं होता, बल्कि सम्पूर्ण समाज की आर्थिक क्रियाओं को आयोजन के कार्यक्रमों के अनुरूप प्रोत्साहित करने के लिए भी इनका प्रयोग किया जाता है।

समाज के उपभोग और उत्पादन क्रम को बदलने में करों का योग

जनता के उपभोग, उत्पादन और बचत सम्बन्धी प्रयत्नों को निश्चित दिशा में प्रेरित करने के लिए करों का आश्रय लिया जाता है। करों का यह प्रभाव उपभोग के क्षेत्र में वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तनों द्वारा प्रकट होता है। जिन वस्तुओं का उपभोग बढ़ाना होता है, उन्हें सभी प्रकार से कर-छूट मिलती है, ताकि उनकी कीमत सीमांत लागत के आसपास रह सके। जिन वस्तुओं का उपभोग घटाना होता है उन पर कर लगाते हैं। कर लगाने से कीमतें बढ़ने की प्रवृत्ति होने लगती है, क्योंकि उत्पादनकर्ता कर-भार की अधिक से अधिक मात्रा उपभोक्ताओं तक हस्तान्तरित करने का प्रयास करते है। करारोपण के कारण कीमतों की यह वृद्धि जनता की माँग और अन्ततोगत्वा उनके वास्तविक उपभोगों को नियन्त्रित करने लगती है। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज के उपभोग को नियत दिशा देने का क्रम करों द्वारा अपनाया जाता है।

उपभोग की तरह उत्पादन-क्रम को बदलने में भी करों का प्रयोग होता है। जिन वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाना होता है उन्हें करों से सभी प्रकार की छूट देने की व्यवस्था की जाती है और अन्य विधियों से भी उत्पादन को आकर्षक बनाया

जाता है, ताकि निजी क्षेत्र के विनियोग उस उत्पादन में लगने के लिए प्रेरित हो सकें। निजी क्षेत्र में लाभार्जन की सम्भावना ही विनियोगों की प्रमुख प्रेरक होती है और करों के कारण कीमत-तल में परिवर्तन होने से लाभार्जन की सम्भावना प्रभावित होती है। इस प्रकार करों द्वारा उत्पादन की दिशा निश्चित करने का क्रम लाभार्जन की सम्भावना में परिवर्तन लाकर कार्यान्वित किया जाता है।

करों के ये प्रयोग प्रजातन्त्रात्मक शैली पर चलाये जाने वाले आर्थिक-विकास-आयोजनों के संचालन-क्रम में बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। क्योंकि ऐसी व्यवस्था में जनता के उपभोगों को अथवा निजी क्षेत्र में किये जाने वाले उत्पादन सम्बन्धी प्रयत्नों को एक नियत दिशा अपनाने के लिए प्रत्यक्ष भौतिक नियन्त्रणों के माध्यम से बाध्य नहीं किया जा सकता, बल्कि विकास-कार्य-क्रमों के अनुरूप इन्हें बढ़ने के लिए प्रेरित किया जाता है। इस प्रेरणा में, जैसा कि ऊपर बताया गया है, करा-रोपण नीति का बड़ा योग होता है।

आयोजन के सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धी उद्देश्यों की पूर्ति में करों का प्रयोग

जैसा कि पहले बताया गया है, भारतीय आयोजनों के उद्देश्यों के अनुसार ऐसे समाजवादी समाज की रचना करनी है, जिसमें आय और धन के वितरण की असमानता धीरे-धीरे कम हो सके और सभी नागरिकों को अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार उन्नति करने का निर्बाध क्षेत्र मिल सके। प्रस्तुत आय-वितरण की विषमता मिटाने के लिए आय-कर का प्रयोग होता है और आय की मात्रा जितनी अधिक होती जाती है, उसी के अनुरूप कर-भार भी बढ़ता जाता है। आय के प्रस्तुत वितरण की विषमता मे वैयक्तिक क्षमता के अन्तरों का प्रभाव अवश्य होता है, लेकिन उसमें आय के स्रोतों—सम्पत्तियों और धन—के वितरण की विषमता का विशेष योग होता है। उन्नति के अवसरों में असमानता लाने मे भी सम्पत्तियों के वितरण की विषमता प्रमुख स्थान रखती है। इसलिए समाजवादी समाज की स्थापना करने में आय-वितरण की विषमता को ही दूर नही करना है, बल्कि इसके मूल कारण—सम्पत्ति और धन के वितरण की असमानता—को मिटाना भी आवश्यक हो जाता है। हमारे यहाँ आयोजनों के प्रारम्भ से ही सम्पत्तियों और धन के वितरण की असमानता कम करने की विधियों पर विचार होने लगा था। प्रथम आयोजन-काल में प्रारम्भ किया गया सम्पत्ति-शुल्क और द्वितीय आयोजन-काल में प्रारम्भ

किये गये धन-कर तथा उपहार-कर इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयोग में लाये गये।

इन करों से सम्पत्तिवानों की सम्पत्ति का कुछ अंश विशेष अवसर पर (सम्पत्ति-शुल्क में मृत्यु के उपरान्त, उपहार-कर में उपहार देते समय) अथवा प्रतिवर्ष (धन-कर में) सरकार को प्राप्त होता जाता है। इससे सम्पत्ति का अनुचित केन्द्रीकरण धीरे-धीरे घटता है। सम्पत्ति-वितरण की विषमता कम होने से प्रगति के अवसर में समानता आने लगती है। इसके अतिरिक्त इनसे सुलभ होने वाले राजस्व का उपयोग विपन्नों की समृद्धि करने के लिए सामाजिक व्ययों में किया जाता है। इस प्रकार समाज के विभिन्न वर्गों में स्थिति और अवसर की समानता लायी जाती है, जिससे समाजवादी सामाजिक ढाँचे को व्यावहारिक रूप दिया जा सकना सम्भव होता है।

समाजवादी सामाजिक स्थिति लाने में करों का उपयोग एक और प्रकार से किया जाता है। जो वस्तुएँ निम्न आर्थिक वर्ग के उपभोग की होती हैं उन पर कर की नीची दरें लागू की जाती हैं, अथवा उन्हें कर से एकदम मुक्त कर दिया जाता है। इसके विपरीत, उच्च वर्ग अथवा उच्च मध्यम वर्ग के व्यवहार की वस्तुओं पर कर की ऊँची दरें लागू की जाती हैं। इस प्रकार कर की भिन्न दरें लागू करके कम सम्पन्न वर्गों को अधिक सम्पन्न वर्गों की तुलना में आर्थिक सुविधा दी जाती है। उत्पादन-शुल्क की दरें लागू करते समय इस प्रकार का विभेद विशेषतः किया जाता है। राज्य-सरकारों द्वारा लगाये जाने वाले बिक्री-कर में भी ऐसा विभेद पाया जाता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हमारे आयोजन के सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धी उद्देश्यों की पूर्ति में करों का महत्त्वपूर्ण योग है।

निष्कर्ष

भारतीय आयोजन के संचालन-क्रम में करों के विनियोग के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि देश की सम्पूर्ण कर-व्यवस्था विकास-क्रम को सफल बनाने में उपयोजित होती है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के करों से विकास-व्यय के लिए अधिक-से-अधिक राजस्व एकत्र करने का प्रयास हो रहा है। समाज की उत्पादन, उपभोग, बचत तथा विनियोग सम्बन्धी आर्थिक क्रियाओं को विकास के अनुरूप ख अपनाने की प्रेरणा देने में भी करों का उपयोग होता है, क्योंकि प्रजा-

तन्त्रात्मक शैली से चलाये जाने वाले आर्थिक आयोजन में राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं रखा जा सकता और समाज को नियत प्रयत्नों के लिए बाध्य नहीं, बल्कि प्रेरित किया जाता है।

समाज में आय और धन के वितरण की विषमता मिटाने में भी करों का बड़ा योग होता है। इस प्रकार आयोजन के आर्थिक और सामाजिक दोनों प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति में कर प्रत्यक्ष और परोक्ष ढंग से सहायक होते हैं। इनसे आर्थिक विकास बढ़ाने और आर्थिक समानता लाने में सरलता होती है।

अध्याय २

संविधान में संघीय अर्थ-प्रबन्धन

(सामान्य विवरण)

कर-प्राधिकारी

भारतीय कर-व्यवस्था का विश्लेषण विधिवत् समझने के लिए कर लगाने वाले प्राधिकारियों पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। सन् १९५० में भारतीय संविधान के लागू होने के बाद से संविधान मे दिये गये कर-सम्बन्धी प्रावधानों के अनुसार कर लगाये जाते हैं। संघ-सरकार, राज्य-सरकार और स्थानीय सरकार, तीनों को नियत प्रकार के कर लगाने का अधिकार सुलभ है। इनमें संघ-संरकार और राज्य-सरकार द्वारा कर लगाने की व्यवस्था विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योकि उनके बीच करारोपण क्षेत्र का निश्चय कुछ सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए किया गया है। कुछ क्षेत्रों में संघ-सरकार को ही कर लगाने का एकमात्र अधिकार प्राप्त है; कुछ में राज्य-सरकारों को कर लगाने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी गयी है। करारोपण के कुछ ऐसे भी क्षेत्र हैं जिनमें करों का प्रशासन संघ और राज्य-सरकारों के सहयोग से चलता है। कुछ करों का प्रशासन संघ-सरकार द्वारा किया जाता है, लेकिन उनसे सुलभ होने वाली प्राप्तियाँ संघ-सरकार और राज्य-सरकारो में नियत अनुपात से वितरित की जाती हैं।

संविधान के अन्तर्गत कर-प्राधिकारियों के क्षेत्र

संघ-सरकार के अधिकार—सविधान के अनुच्छेद २६९ के अनुसार निम्न-लिखित शुल्क और कर भारत सरकार द्वारा आरोपित और उद्‌गृहीत किये जाते है—

(क) कृषि-भूमि से अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी शुल्क।

(ख) कृषि-भूमि से अन्य सम्पत्ति सम्बन्धी शुल्क।

(ग) रेल, समुद्र या वायु से आने-जाने वाली वस्तुओं अथवा यात्रियों पर सीमा-शुल्क।

(घ) रेल-भाड़े और माल-भाड़े पर कर।

(ङ) स्कन्ध-विपणियों और वायदा बाज़ारों के सौदों पर मुद्रांक शुल्क के अतिरिक्त अन्य कर।

(च) समाचार-पत्रों के क्रय-विक्रय और उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर।

(छ) समाचार-पत्रों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर लगने वाला ऐसा कर, जो अन्तर्राज्यीय व्यापार या वाणिज्य के क्रम में उन वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर लगाया जाता है।

सविधान के इसी अनुच्छेद के दूसरे खण्ड के अनुसार किसी वित्तीय वर्ष में उपर्युक्त किसी शुल्क या कर के शुद्ध आगम को उन राज्यों को सौंप देने की व्यवस्था है, जहाँ वह शुल्क या कर उस वर्ष लगाया जाता है। यदि ऐसे कई राज्य इसमें आते है तो उन राज्यों में उस आगम को उसी ढग से वितरित किया जायगा जिसे ससद विशेष प्रकार के कानून द्वारा निश्चित करे।

इसी प्रकार अनुच्छेद २७० के अनुसार कृषि-आय से अतिरिक्त आयों पर भारत-सरकार कर लगाती और वसूलती है। ऐसे कर के शुद्ध आगम का निश्चित हिस्सा वित्त-आयोग की सिफारिशो के अनुसार राज्यो मे वितरित किया जाता है। अनुच्छेद २७२ के अनुसार औषधीय तथा प्रसाधन सामग्रियों पर सामान्य उत्पादन-शुल्क के अतिरिक्त अन्य सघ-उत्पादन-शुल्क भारत सरकार द्वारा लगाये और वसूले जा सकते है। इनके शुद्ध आगम को भी पूर्णतः अथवा आंशिक ढग से राज्यों के बीच वित्त-आयोग द्वारा निश्चित प्रणाली के अनुसार बाँटा जा सकता है।

अनुच्छेद २७३ के अनुसार पटसन या पटसन से बनी हुई वस्तुओं पर निर्यात-शुल्क लगाने और वसूलने का अधिकार सघ-सरकार को है। लेकिन इस शुल्क के प्रत्येक वर्ष के शुद्ध आगम के निश्चित भाग को आसाम, उड़ीसा, पश्चिमी बगाल और बिहार राज्यो को दिये जाने के बदले उन्हें उसके अनुरूप सहायक अनुदान देने की व्यवस्था है। इस हिस्से और उसके अनुरूप सहायक अनुदान की मात्रा का निश्चय वित्त-आयोग द्वारा किया जाता है।

अब तक सविधान के अन्तर्गत दिये गये उन करो की व्याख्या की गयी है जिन्हें लगाने और वसूलने का अधिकार एकमात्र सघ-सरकार को है, लेकिन जिनके शुद्ध आगम में राज्यों को भी हिस्सा दिया जाता है। इनके अतिरिक्त संविधान की सप्तम

अनुसूची में तीन सूचियाँ दी गयी हैं, जिनके अन्तर्गत कर लगाने और वसूलने से सम्बन्धित संघ और राज्यों के अधिकार स्पष्ट हैं। संघ-सरकार को संघ-सूची के अनुसार निम्नलिखित कर लगाने और वसूलने के एकमात्र अधिकार सुलभ हैं :—

१. कृषि-आय को छोड़कर अन्य आयों पर कर।

२. सीमा-शुल्क, जिसके अन्तर्गत निर्यात-शुल्क भी हैं।

३. भारत में निर्मित या उत्पादित तम्बाकू तथा मानव-उपयोग वाले मद्य-सारिक पेयों, अफ़ीम, भाँग और अन्य पिनक लाने वाली औषधियों तथा स्वापकों को छोड़कर अन्य सब वस्तुओं पर उत्पादन-शुल्क।

४. निगम-कर (कारपोरेशन टैक्स)।

५. व्यक्तियों या कम्पनियों की सम्पत्ति में से कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्तियों के मूल्य पर कर।

६. कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्तियों के बारे में सम्पत्ति-शुल्क।

७. कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार के बारे में शुल्क।

८. रेल, समुद्र या वायु से ले जाये जाने वाली वस्तुओ या यात्रियों पर सीमा-कर, रेल के जन-भाड़े और माल-भाड़े पर कर।

९. मुद्रांक शुल्क को छोड़कर स्कन्ध-विपणियो और वायदा-बाज़ारो के सौदों पर कर।

१०. विनिमय-पत्रों, चेकों, प्रतिज्ञा-पत्रों, वहन-पत्रों, साख-पत्रों, बीमा-पत्रों, अंशों के हस्तान्तरण, ऋण-पत्रों, प्रति-पत्रियों और प्राप्तियो के सम्बन्ध में लगने वाले मुद्रांक-शुल्क की दर।

११. समाचार-पत्रों के क्रय-विक्रय पर तथा उनमें प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों पर कर।

१२. समाचार-पत्रों से भिन्न वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर उस स्थिति मे कर, जबकि ऐसा क्रय या विक्रय अन्तर्राज्यीय व्यापार या वाणिज्य के क्रम में हो।

१३. किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीसों को छोड़ कर संघ-सूची के किसी भी विषय के बारे में ली जाने वाली फीस।

राज्य-सरकारों के अधिकार

इसी प्रकार राज्य-सूची के अन्तर्गत कुछ ऐसे करों, शुल्कों और फीसों का उल्लेख है जिन्हें लगाने और वसूलने का एकमात्र अधिकार राज्य-सरकारों को है। इन्हें

संविधान की सप्तम अनुसूची के अन्तर्गत राज्य-सूची में दिया गया है। इनका संक्षिप्त रूप नीचे उल्लिखित है :—

१. उच्चतम न्यायालय को छोड़कर अन्य सभी न्यायालयों में ली जाने वाली फीसें।

२. भू-राजस्व।

३. कृषि-आय पर कर।

४. कृषि-भूमि के उत्तराधिकार के विषय में शुल्क।

५. कृषि-भूमि के विषय में सम्पत्ति-शुल्क।

६. भूमि और भवनों पर कर।

७. संसद द्वारा विशेष विधियों के अन्तर्गत खनिज-विकास के सम्बन्ध में लगायी गयी सीमाओं के भीतर खनिज अधिकार पर कर।

८. राज्य में निर्मित अथवा उत्पादित निम्न वस्तुओं पर उत्पादन-शुल्क तथा भारत में अन्य कहीं बनायी गयी या उत्पन्न की गयी उसी प्रकार की वस्तुओं पर उतनी ही अथवा कम दर से प्रतिशुल्क :—

(क) मानव-उपभोग के लिए मद्यसारिक पेय।

(ख) अफ़ीम, भाँग और अन्य पिनक लाने वाली औषधियाँ और स्वापक। किन्तु इनमें ऐसी औषधीय और प्रसाधन वाली समाग्रियाँ नहीं आतीं, जिनमें मद्य-सार अथवा अफ़ीम, भाँग या अन्य पिनक लाने वाली औषधियों का प्रयोग हुआ हो।

९. किसी स्थानीय क्षेत्र में उपभोग, प्रयोग या विक्रय के लिए वस्तुओं के प्रवेश पर कर।

१०. बिजली के उपभोग या बिक्री पर कर।

११. समाचार-पत्रों से भिन्न वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर कर।

१२. समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों को छोड़कर अन्य विज्ञापनों पर कर।

१३. सड़कों या अन्तर्देशीय जलपथों द्वारा ले जायी जाने वाली वस्तुओं और यात्रियों पर कर।

१४. सड़कों पर चलने वाली गाड़ियों पर कर। ये गाड़ियाँ चाहे यन्त्र-चालित हों अथवा अयन्त्र-चालित।

१५. पशुओं और नौकाओं पर कर।

१६. पथ-कर।

१७. वृत्तियों, व्यापारों, आजीविकाओं और नौकरियों पर कर।

१८. प्रति व्यक्ति कर।

१९. विलास की वस्तुओं, आमोद-प्रमोद, बाजी लगाने और जुआ खेलने पर कर।

२०. मुद्रांक शुल्क के सम्बन्ध में संघ-सूची में दिये गये दस्तावेजों को छोड़कर अन्य दस्तावेजों के बारे में मुद्रांक शुल्क।

२१. किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीसों को छोड़कर इस सूची के विषयों में से किसी के बारे में फीस।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि भारतीय संविधान के अन्तर्गत संघ-सरकार और राज्य-सरकारों के कर लगाने के क्षेत्र अलग-अलग है। कर-क्षेत्र के विभाजन के अन्तर्गत किन विशिष्ट सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है और हमारे यहाँ उनका प्रयोग कहाँ तक हो सका है, इस पर विचार करना आवश्यक है।

संघ और राज्यों में कर-क्षेत्र-विभाजन के सिद्धान्त

संघ और राज्यों में कार्य-विभाजन की आवश्यकता

संघ और राज्यों में कर लगाने के अधिकारो का विभाजन उनके द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कार्यों के अनुसार किया जाता है। कार्यो के विभाजन मे मित-व्ययिता, प्रशासनिक सुविधा और कुशलता इन तीन तथ्यों को आधार मानते है। कुछ कार्य ऐसे हैं जिन्हें संघ द्वारा विशेष उत्तमता से पूर्ण किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के कार्य; जैसे सुरक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध, विदेशी व्यापार और वाणिज्य, अथवा सम्पूर्ण राष्ट्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य; जैसे रेलवे, सिक्को की ढलाई, अन्तर्राज्यीय वाणिज्य और सूचना के साधनो का संचालन एवं नियन्त्रण ऐसे कार्य हैं जिन्हें संघ ही मितव्ययिता के साथ सुचारु रूप मे चला सकता है। लेकिन शिक्षा, कृषि, अमन-चैन, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि क्षेत्रीय महत्व वाले कार्य; संघ-सरकार द्वारा कुशलतापूर्वक नही चलाये जा सकते। उनका विधिवत् प्रशासन राज्यों द्वारा ही हो सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सरकार के सम्पूर्ण कार्यों का संघ और राज्य सरकारों में विभाजित होना आवश्यक है। हमारे संविधान मे सप्तम अनुसूची के अन्तर्गत संघ और राज्य-सूचियाँ संघ तथा राज्यों के बीच कार्य-विभाजन को ही स्पष्ट करती हैं। लेकिन सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रशासन उचित ढंग से

चलाने के लिए कुछ क्षेत्रों में संघ और राज्य सरकारों में सहयोग आवश्यक है। यही कारण है कि सभी राष्ट्रों में, जहाँ संघीय शासन चलता है, संघ और राज्यों में कार्यों का पूर्ण विभाजन सम्भव नही होता। कुछ ऐसे क्षेत्र होते हैं जिनमें संघ और राज्यों को समान रूप से कार्य करने का अधिकार होता है और दोनों के सहयोग से उन क्षेत्रों की व्यवस्था की जाती है। संविधान की सप्तम अनुसूची के अन्तर्गत दी हुई समवर्ती सूची इन्हीं कार्यों का उल्लेख करती है।

पर्याप्तता का सिद्धान्त

संघ और राज्य-सरकारों के बीच कर-क्षेत्र विभाजन के सम्बन्ध में कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का पालन किया जाता है। उनका विवरण निम्नलिखित है—

सघ और राज्यों मे कार्यों का वितरण उनके बीच कर लगाने के अधिकारों के विभाजन में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सघ और राज्यों मे साधनों का वितरण उनके कार्यों के वितरण के अनुरूप होना आवश्यक है। तभी उनके द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कार्य सुचारु रूप से किये जा सकते है। सघ और राज्यो के बीच उनके द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कार्यो के अनुरूप साधनों की व्यवस्था के लिए कर लगाने के अधिकारो का वितरण पर्याप्तता के सिद्धान्त के अनुरूप माना जाता है।

कर लगाने के अधिकारों के विभाजन का उपर्युक्त सिद्धान्त सघ और राज्यों को करो और शुल्को से प्राप्त होने वाले शुद्ध आगमो के वितरण से सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार के कार्य करने होते है उनके लिए आवश्यक साधनो को दृष्टि मे रखते हुए ही संघ और राज्यो को विशेष प्रकार के कर लगाने और वसूलने का अधिकार दिया जाता है। लेकिन कुछ ऐसे कार्य है जिनके फलस्वरूप कर लगाने के अधिकारों का उचित विभाजन पर्याप्तता के सिद्धान्त से किया जा सकना सम्भव नही है। किसी भी कर अथवा राजस्व के स्रोत से सभी समय और सभी स्थानों पर समान आय नही होती। इसके अतिरिक्त प्रत्येक राज्य की आर्थिक, प्राकृतिक और जन-सख्या सम्बन्धी परिस्थितियाँ समान नही होती। विलग परिस्थितियों मे साधनों की आवश्यकता भी भिन्न होती है। ऐसी अवस्था मे किसी एक क्षेत्र अथवा उसकी परिस्थितियों को दृष्टि मे रखते हुए साधनों की आवश्यकता को अनुमानित करना अथवा उन अनुमानो के आधार पर राजस्व के स्रोतों का वितरण करना उचित नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि सघ से राज्यों को अथवा एक राज्य से दूसरे राज्य को साधनों का हस्तान्तरण समय-समय पर किया जाता है।

कुशलता का सिद्धान्त

संघ और राज्यों में कर लगाने के अधिकारों के विभाजन का दूसरा सिद्धान्त कुशलता का है, जिसमें कर की प्रकृति और उसके प्रशासन की व्यवस्था को दृष्टि में रखते हुए उसे संघ अथवा राज्यों के अधिकार-क्षेत्र में रखा जाता है। जिन करों को सम्पूर्ण राष्ट्र में समान ढंग से लगाया जाता हो और जिनके लिए व्यापक और कुशल प्रशासन आवश्यक हो, वे कर संघ-सरकार द्वारा ही लगाये और वसूले जा सकते हैं। इसके विपरीत वे कर, जो क्षेत्र के अनुसार बदलने की सम्भावना रखते हों अथवा जिनके निर्धारण में स्थानीय परिस्थितियों का यथार्थ ज्ञान आवश्यक हो, स्थानीय शासन के योग्य माने जा सकते हैं और उन्हें राज्यों के अधिकार-क्षेत्र में रखा जा सकता है।

उपयुक्तता का सिद्धान्त

संघ और राज्यों में कर लगाने के अधिकारों के विभाजन का तीसरा सिद्धान्त उपयुक्तता का है, जो पूर्वोक्त कुशलता के सिद्धान्त से बहुत कुछ सम्बद्ध है। यह भी कर की प्रकृति और उसकी प्रशासन-व्यवस्था पर बहुत कुछ आधारित है। जिस कर को छोटे पैमाने पर सीमित क्षेत्र में लगाना और वसूलना पड़ता है, वह राज्य-सरकारों के लिए अधिक उपयुक्त माना जा सकता है। लेकिन जो कर सम्पूर्ण राष्ट्र में नियत सिद्धान्तों के अनुसार लगता हो और जिसका प्रशासन विस्तृत ढग से कुशलतापूर्वक किया जाना आवश्यक हो, उसे सघ सरकार के क्षेत्र में रखना उचित माना जा सकता है। उपयुक्त प्रकार के करों को ही संघ-सरकार अथवा राज्य-सरकारें कुशलतापूर्वक प्रशासित कर सकती हैं। यही कारण है कि कुशलता और उपयुक्तता के सिद्धान्तों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध माना जाता है।

हस्तांतरण का सिद्धान्त

राजस्व के स्रोतों अथवा राजस्व को संघ और राज्यों में विभाजित करने का एक और क्रम है। विभिन्न राज्यों के अन्तर्गत पायी जाने वाली प्राकृतिक अथवा औद्योगिक असमानता का प्रभाव वहाँ के निवासियो के रहन-सहन पर कम से कम डालने के लिए सम्पन्न क्षेत्रों से विपन्न क्षेत्रों को साधनों का हस्तान्तरण किया जाता है। इससे विभिन्न राज्यों की आर्थिक असमानता को कम से कम करने का प्रयास किया जाता है। विभिन्न राज्यों में रहने वाले निवासियों के बीच आय-वितरण की विष-

मता किसी भी प्रकार सम्पूर्ण राष्ट्र को समृद्ध नहीं बना सकती। आय-वितरण की इस विषमता को साधनों के विवेकपूर्ण हस्तान्तरण से सुधारा जा सकता है।

लेकिन हस्तान्तरण के सिद्धान्त का प्रयोग सरलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। विभिन्न राज्यों के निवासियों की क्षेत्रीय भक्ति इसमें सबसे बड़ी बाधा डालती है। इसके लिए संघ-सरकार की मध्यस्थता आवश्यक है, ताकि पिछड़े राज्यों को विकास के लिए उसी प्रकार विशेष क्षेत्र मिल सकें, जैसे राज्य-सरकारें अपने अन्तर्गत पिछड़े क्षेत्रों को विकास के लिए देती हैं। पिछड़े राज्यों के निवासियों के प्रति संघ-सरकार की सहानुभूति उनकी आर्थिक विपन्नता के कारण ही नहीं रहती, बल्कि उनके विकास का दायित्व भी होता है। अप्रत्यक्ष करों का विशेष भार भी विपन्न जनता पर ही पड़ता है। इसीलिए संघ-सरकार द्वारा राज्यों को सहायक अनुदान दिये जाते है, जो हस्तान्तरण के सिद्धान्त पर अवलम्बित होते हैं।

भारत में संघ-सरकार और राज्य-सरकारों के बीच राजस्व-स्रोतों के वितरण के सिद्धान्तों का प्रयोग

भारत संघ और राज्यों में राजस्व-स्रोतों का वितरण पर्याप्तता, कुशलता और उपयुक्तता के सिद्धान्तों के अनुसार ठीक-ठीक करना बड़ा कठिन है। इसमें प्राकृतिक, आर्थिक और संवैधानिक कारण अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित करते हैं। जो क्रम कुशलता और उपयुक्तता के आधार पर उचित समझा जा सकता है वही पर्याप्तता के सिद्धान्त के अनुसार दोषपूर्ण हो जाता है। इसके अतिरिक्त विभाजन के कुछ क्रम उपर्युक्त सिद्धान्तों के अनुसार उचित होते हुए भी विभिन्न राज्यों के संघर्षपूर्ण दावो की दृष्टि में पूर्णतः अनुपयुक्त बन जाते हैं। यही कारण है कि भारत में जब भी भारत-सरकार और प्रान्तों के बीच राजस्व-स्रोतों का वितरण किया गया, वितरण के सिद्धान्तों के प्रयोग के स्थान पर पारस्परिक समझौतों को ही वितरण का आधार माना गया। इन्हीं समझौतों के क्रम में ही केन्द्र से राज्यों को अनुदान अथवा राज्यों से केन्द्र को योगदान अथवा केन्द्र और राज्यों के बीच विशेष राजस्वों के पारस्परिक विभाजन की व्यवस्थाएँ की जाती है। भारत-संघ और राज्यों के बीच कुछ प्रमुख राजस्व के स्रोतों के विभाजन का विवरण समझना यहाँ उचित होगा।

कर-क्षेत्र-विभाजन के सिद्धान्तों की दृष्टि से कुछ प्रमुख करों की व्यवस्था

सरकार द्वारा लगाये जाने वाले सभी करों में भू-राजस्व सबसे महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। इसकी प्रकृति और प्रशासन की सुविधा के अनुसार इसे राज्य-सरकारों के अधिकार में रखा गया है। इसका निर्धारण स्थानीय परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए किया जाता है। इसलिए अलग-अलग क्षेत्रों में भू-राजस्व-निर्धारण की अलग-अलग पद्धतियाँ अपनाना स्वाभाविक है। इस प्रकार भू-राजस्व का उचित प्रशासन राज्य-सरकारों द्वारा सम्भव है। भू-राजस्व की तरह सिंचाई पर लगाया जाने वाला कर भी स्थानीय परिस्थितियों पर आधारित होने के कारण राज्य-सरकारों द्वारा उचित ढंग से प्रशासित हो सकता है। यह भू-राजस्व से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध भी होता है। इन्हीं कारणोंवश इसे राज्य-सरकारों के अधिकार में रखा गया है।

मादक पदार्थों और देशी स्पिरिट पर लगने वाला उत्पादन-शुल्क प्रशासनिक सुविधा के कारण ही राज्य-सरकारों के अधीन हैं। मुद्रांकों पर लगने वाला कर राज्य-सरकारों के हाथ में उस सीमा तक रखा गया है जहाँ तक उनका प्रशासन क्षेत्रीय ढंग से कुशलतापूर्वक हो सकता है और राज्य-सरकारे उन्हे अपनी वित्तीय आवश्यकताओं के अनुरूप घटा-बढ़ा सकें।

उपर्युक्त करों में से किसी को यदि संघ-सरकार के प्रशासन में रख दिया जाय तो इससे केवल प्रशासनिक कुशलता ही कम न होगी बल्कि उनसे मिलने वाले शुद्ध आगम पर भी अनुचित प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राज्य-सरकारों के अन्तर्गत उन्हें रखना कुशलता, उपयुक्तता और कुछ में पर्याप्तता के सिद्धान्तों के अनुसार आवश्यक है।

इसी प्रकार संघ-सरकार के अन्तर्गत जो कर रखे गये है उनमें कर-विभाजन के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रयोग माना जा सकता है। सीमा-शुल्क, रेलवे, डाक और तार, आयकर, निगम-कर आदि ऐसे क्षेत्र है जिनका प्रशासन सम्पूर्ण राष्ट्र के आधार पर ही कुशलतापूर्वक हो सकता है। इनमें कुछ ऐसे भी हैं जिनके प्रशासन अथवा शुद्ध आगम का न्यायोचित बँटवारा राज्यो में हो सकना सम्भव नहीं है। परिणामस्वरूप उनका संघ-सरकार के क्षेत्र में रहना आवश्यक है।

आय-कर, निगम-कर, सम्पत्ति-शुल्क अथवा धन-कर के सम्बन्ध में यह प्रायः सन्देह प्रगट किया जाता है कि इन्हें संघ के प्रशासन में क्यों रखा जाता है जबकि इनमें से कुछ के —विशेषतः आय-कर के—शुद्ध-आगम को राज्यों में पुनः वितरित

करने की व्यवस्था की जाती है। इन करों की प्रकृति पर यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि उनका सम्बन्ध राज्य-विशेष तक ही सीमित नहीं होता। किसी व्यक्ति अथवा सस्था की आय केवल राज्य-विशेष की अर्थ-व्यवस्था पर निर्भर नहीं होती, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था उसकी उत्पत्ति का आधार प्रस्तुत करती है। ऐसी स्थिति में इन क्षेत्रों के अन्तर्गत राज्यों को अपनी आवश्यकतानुरूप कर लगाने की सुविधा देना सम्पूर्ण राष्ट्र की दृष्टि से कभी भी हितकर नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण राष्ट्र में आर्थिक असमानता मिटाने का संगठित प्रयास तभी सफल हो सकता है जबकि प्रत्यक्ष करों का प्रशासन संघ-सरकार द्वारा किया जाय। कृषि से होने वाली आय पर कर लगाने की व्यवस्था को राज्यों के अधिकार में इसीलिए छोड़ दिया गया है, क्योंकि उनकी उत्पत्ति स्थानीय परिस्थितियो पर पूर्णतः अवलम्बित होती है और उस पर कर की जो भी दर राज्य-सरकार द्वारा लगायी जाती है वह क्षेत्रीय परिस्थितियों से पूर्णतः विलग नहीं होती।

सीमा-शुल्क के सम्बन्ध में भी प्रायः यह कहा जाता है कि जिन राज्यों के बन्दरगाहो पर उसे लगाया जाता है उन्ही के अधिकार मे उसका प्रशासन और उससे होने वाला शुद्ध-आगम रखा जाय। लेकिन यदि इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि किसी राज्य के बन्दरगाह से आने-जाने वाली वस्तुओं पर लगने वाले सीमा-शुल्क का भार केवल उस राज्य के निवासियों तक ही सीमित नहीं होता, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र के निवासियों मे उसका वितरण हो जाता है। जिस शुल्क का भार सम्पूर्ण राष्ट्र पर पड़े उसके शुद्ध-आगमों का उपयोग केवल एक अथवा कुछ राज्य करे यह किसी भी दृष्टि से न्यायोचित नही माना जा सकता। इसके अतिरिक्त अधिकांश आयात और निर्यात पूरे देश की अर्थ-व्यवस्था पर आधारित होते है। देश के बाहर उन्हें भेजने अथवा बाहर से देश मे मँगाने के द्वार तो कुछ प्राकृतिक सीमाओ पर आधारित होते है। उन द्वारों की स्थिति से सम्बन्धित राज्यों को अन्य प्रकार की कई सुविधाएँ प्राप्त हो जाती है।

इन विवरणों से स्पष्ट है कि सघ और राज्यों मे करो का जो विभाजन हुआ है वह केवल कुशलता और उपयुक्तता के सिद्धान्तो पर ही नही आधारित है, बल्कि स्वतन्त्र भारत की आर्थिक प्रगति के निर्देशक सिद्धान्तों को भी दृष्टि में रखते हुए किया गया है। यही कारण है कि सविधान के अन्तर्गत कुछ ऐसे राजस्व के स्रोतों को निश्चित किया गया है जिनका प्रशासन संघ-सरकार द्वारा होते हुए भी उनके

शुद्ध आगम को राज्य-सरकारों में उनकी आवश्यकता के अनुसार वितरित किया जाता है।

राज्यों में साधनों के सन्तुलित वितरण की व्यवस्था

साधारण परिस्थिति में भी किसी देश के सभी क्षेत्र समान रूप से सम्पन्न नहीं होते। जैसा कि पहले बताया गया है, प्राकृतिक साधनों, औद्योगीकरण और जन-संख्या का सन्तुलित वितरण पाया जाना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में सम्पन्न क्षेत्रों से विपन्न क्षेत्रों को साधनों का हस्तान्तरण सम्पूर्ण देश के संगठित विकास के लिए आवश्यक है। योजनाओं के संचालन के क्रम में भारत के सभी राज्यों में आर्थिक प्रयत्नों के स्तर को समान रखना विकास के लिए उचित नहीं है। पिछड़े क्षेत्रों में विकास के प्रयत्न विकसित क्षेत्रों की तुलना में अधिक करना अनिवार्य है। लेकिन पिछड़े क्षेत्रों में विकसित क्षेत्रों की अपेक्षा साधनों का अभाव अधिक होता है। बिना इसकी पूर्ति किये आर्थिक प्रगति को वांछित स्तर पर क़ायम रख सकना सम्भव नहीं है। ऐसी परिस्थिति में विभिन्न राज्यों को और विशेषत: उनको, जहाँ पिछड़े क्षेत्र अधिक हैं और जहाँ की जनता विपन्न अधिक है, उचित विकास के लिए अपने ही साधनों पर आश्रित नहीं छोड़ा जा सकता। उनके लिए अतिरिक्त साधनों की व्यवस्था करना आवश्यक है।

भारत के संविधान में इसके लिए दो विधियो का उल्लेख हुआ है। एक तो राजस्व के कुछ ऐसे स्रोत निश्चित किये गये है जिनसे सुलभ होने वाले शुद्ध-आगमों को विभिन्न राज्यों में उनकी आवश्यकता के अनुसार तथा कुछ अन्य सिद्धान्तों पर वितरित किया जाता है। आय-कर, दियासलाई और तम्बाकू पर लगने वाले उत्पादन-शुल्क, जूट पर निर्यात-शुल्क आदि इस प्रकार के प्रमुख राजस्व के स्रोत हैं।

दूसरी विधि में संघ-सरकार द्वारा राज्य-सरकारों को उनकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सहायक अनुदान दिये जाने की व्यवस्था है। संविधान के अनुच्छेद २७५ के अनुसार उन राज्यों को राजस्वों के सहायक अनुदान के रूप में प्रति वर्ष भारत की सचित निधि से ऐसी राशियाँ, जो संसद द्वारा बनाये विशेष कानून के अन्तर्गत आवश्यकता वाले राज्यों के लिए निश्चित की जाती है, देने की व्यवस्था की जाती है। ऐसे सहायक अनुदान मूल तथा आवर्तक राशियों के रूप में निम्न-लिखित उद्देश्य की पूर्ति के लिए दिये जाते हैं :—

राज्य उन विकास योजनाओं के जो उनके बसी हुई अनुसूचित आदिम जातियों के कल्याण के लिए अथवा उनके अन्तर्वर्ती अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन-स्तर को शेष क्षेत्रों के प्रशासन-स्तर तक उन्नत बनाने के लिए भारत सरकार के अनुमोदन से हाथ में ली गयी हों खर्चे उठाने में समर्थ बन सकें ।

आसाम राज्य की अपने आदिम क्षेत्रों के प्रशासन को अन्य क्षेत्रों के प्रशासन स्तर तक उठाने के लिए भारत सरकार के अनुमोदन से चलायी जाने वाली योजनाओं के सम्पूर्ण व्ययों की पूर्ति के लिए मूल और आवर्तक सहायक अनुदान देने की व्यवस्था है।

उपर्युक्त दोनों विधियों से संघ-सरकार द्वारा राज्य-सरकारों को दिये जाने वाले अनुदानों में वित्त-आयोग की सिफारिशों को ध्यान में रखा जाता है। यद्यपि अनुदान सम्बन्धी आदेश राष्ट्रपति द्वारा दिया जाता है लेकिन वित्त-आयोग गठित हो जाने के पश्चात् उसकी सिफारिशों पर विचार किये बिना राष्ट्रपति द्वारा इस सम्बन्ध में कोई आदेश नहीं दिया जाता।

वित्त आयोग

सविधान के अनुच्छेद २८० के अनुसार संविधान के प्रारम्भ से दो वर्ष के भीतर और तत्पश्चात् प्रत्येक पाँचवें वर्ष की समाप्ति पर अथवा उससे पहले ऐसे समय पर, जिसे राष्ट्रपति आवश्यक समझे, राष्ट्रपति के आदेश द्वारा एक वित्त-आयोग गठित करने की व्यवस्था है। प्रथम वित्त-आयोग सन् १९५२ में गठित किया गया था। दूसरा वित्त-आयोग जून सन् १९५६ में गठित किया गया जिसकी संस्तुतियाँ अप्रैल सन् १९५७ से लागू की गयी। आजकल द्वितीय वित्त-आयोग की संस्तुतियों के अनुसार ही कार्य होता है।

वित्त-आयोग के कर्त्तव्य

संविधान में दी हुई व्यवस्था के अनुसार निम्नलिखित विषयों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को अपनी संस्तुतियाँ देना ही वित्त-आयोग का प्रमुख कर्तव्य है :—

१. संघ तथा राज्यों के बीच करों के शुद्ध आगम को जो संविधान के अनुसार उनमे विभाजित होता है अथवा विभाजित होने वाला रहता है, किस अनुपात में वितरित किया जाय तथा राज्यों के अंशों को राज्यों के बीच कैसे वितरित किया जाय।

२. भारत की संचित निधि में से राज्यों के राजस्वों के सहायक अनुदान देने में किन सिद्धान्तों का पालन किया जाय।

३. यदि राष्ट्रपति सुव्यवस्थित वित्त के लिए आयोग को किसी अन्य विषय पर विचार करने का भार सौंपें तो उस पर विधिवत् विचार करके अपना सुझाव रखना।

वित्त-आयोग की जो भी संस्तुतियाँ उपर्युक्त विषयों के अन्तर्गत आती है उन्हें उन पर की गयी कार्यवाहियों के स्पष्ट विवरण के साथ संसद के दोनों सदनों के सम्मुख राष्ट्रपति रखवाते हैं।

प्रथम वित्त-आयोग की संस्तुतियां

आय-कर और उत्पादन-शुल्क के शुद्ध आगमों के वितरण तथा विभिन्न राज्यों को दिये जाने वाले अनुदानों के सम्बन्ध में प्रथम वित्त-आयोग की संस्तुतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्हीं का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है :—

आय-कर और उत्पादन-शुल्क के सम्बन्ध में

प्रथम वित्त-आयोग ने आय-कर के शुद्ध आगम का ५५ प्रतिशत राज्यों मे वितरित करने का सुझाव दिया। इसके पूर्व देशमुख-निर्णय के अनुसार आय-कर के शुद्ध आगम का केवल ५० प्रतिशत राज्यों मे वितरित होता रहा। वित्त-आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि राज्यों में वितरित होने वाले अंश का ४।५ भाग जन-संख्या के आधार पर बाँटा जाय और शेष राज्य में संगृहीत आय-कर के शुद्ध आगम के अनुपात से बाँटा जाय। उत्पादन-शुल्क के सम्बन्ध मे वित्त-आयोग ने तम्बाकू, दियासलाई और वनस्पतीय पदार्थो पर लगने वाले उत्पादन-शुल्क से होने वाले शुद्ध आगम को संघ तथा राज्यों मे वितरित करने का सुझाव दिया। इन उत्पादन-शुल्कों के शुद्ध आगम पर ४० प्रतिशत राज्यों मे वितरित करने की संस्तुति दी गयी थी। राज्यों में विभाज्य राशि को वितरित करने का निम्नाकित क्रम प्रस्तावित था —

'ए' वर्ग के राज्य		'बी' वर्ग के राज्य	
नाम राज्य	विभाज्य राशि का प्रतिशत	नाम राज्य	विभाज्य राशि का प्रतिशत
आसाम	२.६१	हैदराबाद	५.३९
बिहार	११.६०	मध्यभारत	२.२९
बम्बई	१०.३७	मैसूर	२.६२
मध्यप्रदेश	६.१३	पेप्सू	१.००
मद्रास	१६.४४	राजस्थान	४.४१
उड़ीसा	४.२२	सौराष्ट्र	१.१९
पंजाब	३.६६	ट्रावनकोर-कोचीन	२.६८
उत्तर प्रदेश	१८.२३		
पश्चिमी बगाल	७.१६		

राज्यों के बीच विभाजन के इस क्रम को निश्चित करने में आयोग ने जन-संख्या को ही प्रमुख आधार माना था।

उपर्युक्त संस्तुतियों के साथ ही आयोग ने यह भी सुझाव दिया था कि बम्बई, मद्रास और मध्यप्रदेश को तम्बाकू पर शुल्क लगाने से वंचित रखने के लिए जो वार्षिक क्षतिपूर्ति की जाती रही उसे पहली अप्रैल सन् १९५३ से स्थगित किया जाय और उन्हें तम्बाकू पर कर लगाने की स्वतन्त्रता दी जाय।

सहायक अनुदानों के सम्बन्ध में

विभिन्न राज्यो को दिये जाने वाले सहायक अनुदान के सम्बन्ध में अपनी संस्तुतियाँ निश्चित करते समय आयोग ने निम्नलिखित तथ्यों को विशेष महत्व दिया :—

(अ) राज्यों की बजट सम्बन्धी आवश्यकता

किसी भी राज्य को दिये जाने वाले सहायक अनुदान के निर्धारण-क्रम में उसकी वित्तीय आवश्यकता पर विचार करना अनिवार्य है। यही कारण था कि आयोग ने सहायक अनुदानों के निश्चय के क्रम में बजट सम्बन्धी आवश्यकताओं के विश्लेषण को प्रमुखता दी। इस विश्लेषण में असाधारण आयों को सामान्य बजट से अलग

रखकर विचार किया गया। उचित व्ययों की राशि नियमित आयों से जितनी अधिक रही उसी के अनुसार सहायक अनुदान देने की संस्तुति की गयी।

(ब) करारोपण के प्रयास

आयोग इस पक्ष में था कि राज्यों के लिए सहायक अनुदान की व्यवस्था तभी की जाय जबकि अतिरिक्त कारारोपण के सभी प्रयासों के किये जा चुकने के बाद भी आवश्यक व्ययों के लिए वित्तीय व्यवस्था न हो सके। यदि राज्यों द्वारा अपने कर-क्षेत्रों के श्रेष्ठतम प्रयोग के पूर्व ही सहायक अनुदान की मात्रा निश्चित कर दी जाय तो इसका फल यह होगा कि राज्य अपनी वित्तीय व्यवस्था के लिए राजस्व के निजी स्रोतों का उपयोग लम्बी अवधि तक नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार करारोपण की वृद्धि का अभाव राज्य के विभिन्न वर्गों के हितों के प्रतिकूल सिद्ध होगा और संघ से सुलभ होने वाले अनुदान सम्पन्न वर्गों पर पड़ने वाले कर-भार को हल्का करने के साधनमात्र होंगे। यही कारण था कि आयोग ने राज्यों की सम्पन्नता अथवा विपन्नता के तुलनात्मक अध्ययन के प्रमुख माध्यम—प्रति व्यक्ति वार्षिक आय को ही विभिन्न राज्यों को दिये जाने वाले सहायक अनुदानों की मात्रा निश्चित करने के आधार रूप में अपनाया। राज्यों के करारोपण प्रयासों को भी यथासम्भव दृष्टि में रखा गया।

मितव्ययता

आयोग ने राज्यों को दिये जाने वाले सहायक अनुदानों की मात्रा निश्चित करते समय राज्यों द्वारा विभिन्न व्ययों में की जाने वाली मितव्ययता को भी उचित महत्व दिया। सहायक अनुदान विविध आवश्यक कार्यों के सम्पादन में अपव्ययों को प्रोत्साहन देने के कारण न बन सकें, इस पर आयोग ने विशेष ध्यान दिया। इसी के फलस्वरूप सन्तुलित बजट वाले राज्यों को भी विशिष्ट कार्यों की पूर्ति के लिए सहायक अनुदान दिये जाने की संस्तुति की गयी। राज्यों को अपना बजट सन्तुलित करने में संघ-सरकार पर निर्भर होने के क्रम को रोकने की चेष्टा की गयी।

सामाजिक सेवाओं का स्तर

सहायक अनुदानों के निश्चय में आयोग ने विभिन्न राज्यों में होने वाली सामाजिक सेवाओं के स्तर को भी अपनी दृष्टि में रखा था। समान बजट वाले

राज्यों में भी सामाजिक सेवाओं का स्तर समान न रहने पर निचले स्तर वाले राज्यों को सामाजिक सेवा का ऊँचा स्तर रखने वाले राज्यों की अपेक्षा अधिक अनुदान दिये जाने की संस्तुति की गयी।

विशेष प्रकार के दायित्व

उन राज्यों को, जिन्हें राष्ट्र हित की दृष्टि से औरों की अपेक्षा विशेष महत्व-पूर्ण कार्य करना है और इस प्रकार जिन पर अतिरिक्त दायित्व का भार पड़ता है उन्हें, विशेष सहायक अनुदान देने का सुझाव दिया गया।

इन प्रमुख तथ्यों के अतिरिक्त आयोग ने सम्पूर्ण राष्ट्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्यों के सम्पादन के लिए राज्यों को विशिष्ट अनुदान दिये जाने पर भी विचार किया और उनके लिए सहायक अनुदान की मात्राओं की सस्तुति की।

संविधान के अनुच्छेद २७५ के अन्तर्गत आयोग ने सामान्य प्रकार के सहायक अनुदान की संस्तुति केवल सात राज्यों के लिए की। अनुदान की राशियाँ निम्नांकित तालिका मे दिखायी गयी हैं :—

नाम राज्य	अनुदान की राशियाँ (लाख रुपये मे)
आसाम	१००
मैसूर	४०
उड़ीसा	७५
पजाब	१२५
सौराष्ट्र	४०
ट्रावनकोर-कोचीन	४५
पश्चिमी बंगाल	८०

आयोग ने प्रारम्भिक शिक्षा के प्रचार के लिए इस दृष्टि से विशेष पिछड़े आठ राज्यों को विशिष्ट अनुदान दिये जाने की संस्तुति की। इनमें प्रत्येक राज्य को दिये जाने वाले अनुदान की राशियाँ सन् १९५६-५७ तक अलग-अलग वर्षों के लिए निश्चित की गयी थीं। इनका विवरण निम्नांकित तालिका में दिया गया है।

राज्य	१९५३–५४	१९५४–५५	१९५५–५६	१९५६–५७
बिहार	४१	५५	६९	८३
मध्य प्रदेश	२५	३३	४२	५०
हैदराबाद	२०	२७	३३	४०
राजस्थान	२०	२६	३३	४०
उड़ीसा	१६	२२	२७	३२
पंजाब	१४	१९	२३	२८
मध्यभारत	९	१२	१५	१८
पेप्सू	५	६	८	९

आयोग ने अनुच्छेद २७३ के अन्तर्गत जूट निर्यात पर लगने वाले निर्यात-शुल्क के शुद्ध आगम से बंगाल, उड़ीसा, आसाम और विहार राज्यों को दिये जाने वाले हिस्से के बदले निम्नांकित राशियाँ देने की संस्तुति की थी —

आसाम को ७५ लाख रुपये, बिहार को ७५ लाख रुपये, उड़ीसा को १५१ लाख रुपये और बंगाल को १५० लाख रुपये। इस प्रकार देशमुख-निर्णय की तुलना में इन चारों राज्यों को अधिक अनुदान दिये जाने का सुझाव रहा। देशमुख-निर्णय के अनुसार इस अनुच्छेद के अन्तर्गत बगाल को १०५ लाख रुपये, आसाम को ४० लाख रुपये, बिहार को ३५ लाख रुपये और उडीसा को केवल ५ लाख रुपये दिया जाता था।

द्वितीय वित्त आयोग

राज्यों के पुनर्गठन के साथ ही द्वितीय वित्त-आयोग की स्थापना की गयी थी। पुनर्गठन के पश्चात् बने राज्यों में आय-कर और उत्पादन-शुल्क के शुद्ध आगमो का कैसे वितरण किया जाय और सहायक अनुदान पाने वाले राज्यो को कितनी राशियाँ दी जायँ, इस पर आयोग को विशेष विचार करके ही निर्णय देना था। इस प्रकार प्रथम वित्त-आयोग की तुलना में द्वितीय वित्त-आयोग का कार्यभार अधिक हो गया था। आय-कर और उत्पादन-शुल्क के शुद्ध आगमों के वितरण के सम्बन्ध में आयोग की निम्नांकित संस्तुतियाँ रहीं।

आय-कर के सम्बन्ध में—

इस आयोग ने आय-कर के शुद्ध आगम में राज्यों का हिस्सा पहले की अपेक्षा पाँच प्रतिशत और बढ़ाने का सुझाव दिया। इस प्रकार कुल शुद्ध आगम का ६० प्रतिशत राज्यों के लिए प्रस्तावित हुआ। राज्यों में उनके हिस्से को बाँटने के सम्बन्ध मे आयोग ने यह विचार प्रगट किया कि राज्यों की जन-संख्या के अनुपात में ही शुद्ध-आगम की उनके हिस्से वाली राशि को वितरित करना उपयुक्त है। राज्यों मे उद्‌गृहीत आय-कर के शुद्ध आगम को वितरण का आधार न माना जाय। लेकिन इस क्रम को धीरे-धीरे कार्यान्वित किया जाय। इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए ही आयोग ने यह संस्तुति दी कि राज्यों के हिस्से वाले आय-कर के शुद्ध आगम का ९० प्रतिशत राज्यो की जन-सख्या के आधार पर वितरित हो और १० प्रतिशत उनकी वसूली के अनुसार बँटे।

जन-सख्या के आधार पर वितरित किये जाने वाले शुद्ध आगम को राज्यों में निम्नांकित ढंग से बाँटने का क्रम आयोग ने प्रस्तावित किया था —

राज्य	प्रतिशत
आन्ध्रप्रदेश	८.१२
आसाम	२.४४
बिहार	९.९४
बम्बई	१५.९७
केरल	३.६४
मध्य प्रदेश	६.७२
मैसूर	५.१४
मद्रास	८.४०
उडीसा	३.७३
पजाब	४.२४
राजस्थान	४.०९
उत्तर प्रदेश	१६.३६
बगाल	१०.०८
जम्मू और काश्मीर	१.१३

वितरण के उपर्युक्त अनुपात निश्चित करने में सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार राज्यों की जन-संख्या को ही आधार माना गया।

उत्पादन-शुल्क के सम्बन्ध में—

द्वितीय वित्त-आयोग ने तम्बाकू, दियासलाई और वनस्पति-पदार्थों के अतिरिक्त चीनी, चाय, कहवा, कागज और वानस्पतिक सत्वभूत तेलों पर लगने वाले उत्पादन शुल्क के शुद्ध आगम को भी राज्यों और संघ में वितरित करने का सुझाव दिया। राज्यों के हिस्से को पहले से घटा कर २५ प्रतिशत कर दिया गया और राज्यों को मिलने वाले कुल हिस्से का ९० प्रतिशत राज्यों में जन संख्या के आधार पर और शेष उनकी आवश्यकता के अनुसार वितरित करने का सुझाव था। इस सम्बन्ध में राज्यों के हिस्से के अनुपात निम्नांकित प्रकार के रहे —

राज्य	प्रतिशत
आन्ध्र प्रदेश	९.३८
आसाम	३.४६
बिहार	१०.५७
बम्बई	१२.१७
केरल	३.८४
मध्य प्रदेश	७.४६
मद्रास	७.५६
मैसूर	६.५२
उड़ीसा	४.४६
पंजाब	४.५९
राजस्थान	४.७१
उत्तर प्रदेश	१५.९४
बंगाल	७.५९
जम्मू और काश्मीर	१ ७५

इस वित्त-आयोग को भारत सरकार द्वारा राज्य-सरकारों की सहमति से बिक्री-कर के बदले मिल से बने कपड़ों, चीनी और तम्बाकू पर लगाये गये अतिरिक्त उत्पादन-शुल्क को संघ और राज्यों मे वितरित करने का क्रम निश्चित करना

था। इस सम्बन्ध में आयोग की यह संस्तुति थी कि अतिरिक्त उत्पादन-शुल्कों के शुद्ध आगम का एक प्रतिशत संघ द्वारा प्रशासित क्षेत्रों और १$\frac{1}{4}$ प्रतिशत जम्मू और काश्मीर को देने के पश्चात् शेष राशि को अन्य राज्यों में उनके उपभोग की मात्रा के आधार पर वितरित किया जाय। मिल के बने कपड़ों, चीनी और तम्बाकू पर लगाये गये अतिरिक्त उत्पादन-शुल्क का वितरण कुछ अंश तक निम्नलिखित तालिका में दी हुई राशियों में करने का सुझाव था —

(लाख रुपयों में)

राज्य	अतिरिक्त उत्पादन-शुल्कों से राज्यों को मिलने वाली राशियाँ			
	मिल के बने कपड़ो से	चीनी से	तम्बाकू से	तीनों के योग
१	२	३	४	५
आन्ध्र प्रदेश	१२०	४०	७५	२३५
आसाम	४०	१५	३०	८५
बिहार	८०	३०	२०	१३०
बम्बई	६००	२४५	११५	९६०
केरल	३८	२०	३७	९५
मध्य प्रदेश	८३	४०	३२	१५५
मद्रास	१६८	६०	५७	२८५
मैसूर	४८	२५	२७	१००
उड़ीसा	५०	२०	१५	८५
पंजाब	९५	५०	३०	१७५
राजस्थान	५०	२५	१५	९०
उत्तर प्रदेश	४००	११२	६३	५७५
बंगाल	२०४	३६	४०	२८०

उपर्युक्त राशियों के अतिरिक्त इन स्रोतों से बचे शुद्ध आगम को नीचे दी हुई तालिका में उल्लिखित प्रतिशतों के अनुपात में वितरित करने की संस्तुति थी —

राज्य	राज्यों में वितरण के अनुपात सम्बन्धी प्रतिशतें			
	मिल के बने कपड़ों के सम्बन्ध में	चीनी के सम्बन्ध में	तंबाकू के सम्बन्ध में	तीनों की संयुक्त राशि के सम्बन्ध में
आन्ध्र प्रदेश	७.३८	६.६५	१०.४७	७.८१
आसाम	२.७२	२.५५	२.९८	२.७३
बिहार	११.१९	८.२०	८.९०	१०.०४
बम्बई	१६.४६	२०.१७	१७.४१	१७.५२
केरल	३.१०	३.०३	३.४३	३.१५
मध्य प्रदेश	६.९७	७.६७	७.१०	७.१६
मद्रास	७.२६	७.४३	९.५३	७.७४
मैसूर	४.४८	५.१३	५.५८	५.१३
उड़ीसा	३.३२	२.८७	३.२१	३ २०
पंजाब	५.५६	७.२१	४.३६	५.७१
राजस्थान	४.३६	४.८१	३.५९	४.३२
उत्तर प्रदेश	१८.१९	१५.६३	१६.१३	१७.१८
बंगाल	८.५१	८.६५	७.३१	८.३१

सम्पत्ति-शुल्क के सम्बन्ध में

भारत में सन् १९५३ से सम्पत्ति-शुल्क लगाने का क्रम प्रारम्भ किया गया। संविधान के अनुच्छेद २६९ के अनुसार कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्तियो पर लगने वाले सम्पत्ति-शुल्क को लगाने और वसूलने का अधिकार सघ सरकार को है। लेकिन उसके शुद्ध आगम का वह भाग जो संघ क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्य राज्यों से सुलभ होता है उसे राज्यों को दे दिया जाता है। द्वितीय वित्त-आयोग की संस्तुतियां आने के पूर्व सम्पत्ति-शुल्क के उपर्युक्त शुद्ध आगम का वितरण राज्यों में उसी अनुपात से किया जाता था जिस अनुपात में उन्हें आय-कर के शुद्ध आगम में हिस्सा दिया जाता था।

इस सम्बन्ध में वित्त-आयोग का यह सुझाव रहा कि इस स्रोत से प्राप्त शुद्ध आगम का एक प्रतिशत संघ द्वारा प्रशासित क्षेत्रों को दे दिया जाय और शेष को

कर-निर्धारण के अन्तर्गत उस वर्ष आयी हुई अचल-सम्पत्तियों और अन्य सम्पत्तियों के कुल मूल्य के अनुपात में वितरित कर दिया जाय। अन्य सम्पत्तियों के कुल मूल्य के अनुपात में निश्चित होने वाले अंश को राज्यों की जनसंख्या के अनुसार निम्नलिखित क्रम में वितरित किया जाय —

राज्य	अनुपात सम्बन्धी प्रतिशत
आन्ध्र प्रदेश	८·७६
आसाम	२.५३
बिहार	१०.८६
बम्बई	१३.५२
केरल	३.७९
मध्य प्रदेश	७.३०
मद्रास	८.४०
मैसूर	५.४३
उड़ीसा	४.१०
पंजाब	४.५२
राजस्थान	४.४७
उत्तर प्रदेश	१७.७१
बंगाल	७.३७
जम्मू और काश्मीर	१.९४

अचल सम्पत्तियों के मूल्य के अनुपात में निश्चित शुद्ध आगम को सभी राज्यों मे सम्पत्ति-शुल्क-निर्धारण के क्रम में आने वाली अचल सम्पत्तियों के कुल मूल्य के अनुपात में वितरित किया जाय।

रेल-भाड़े पर लगने वाले कर के सम्बन्ध में—

इसके शुद्ध आगम को राज्यों में वितरित करने के सिद्धान्त के सम्बन्ध में आयोग का यह सुझाव रहा कि विभिन्न राज्यों के अन्तर्गत रेल द्वारा यात्रियों के आवागमन से जितनी शुद्ध प्राप्ति सुलभ हो उसी के अनुपात में रेल-भाड़े पर लगने वाले कर के शुद्ध आगम को विविध राज्यों में वितरित किया जाय। आयोग के उपर्युक्त

सुझाव को व्यवहार में लाना विभिन्न राज्यों के अन्तर्गत यात्रियों के आवागमन से रेल को सुलभ होने वाली शुद्ध प्राप्ति की जानकारी के अभाव में कठिन है। इसी-लिए आयोग ने उपर्युक्त कर के शुद्ध आगम का १/४ प्रतिशत संघ द्वारा प्रशासित क्षेत्रों के लिये अलग करने का सुझाव दिया और शेष निम्नलिखित अनुपात से राज्यों में वितरित करने की संस्तुति दी।

राज्य	अनुपात सम्बन्धी प्रतिशत
आन्ध्र प्रदेश	८.८६
आसाम	२.७१
बिहार	९.३९
बम्बई	१६.२८
केरल	१.८१
मध्यप्रदेश	८.३१
मद्रास	६.४६
मैसूर	४.४५
उड़ीसा	१.७८
पंजाब	८.११
राजस्थान	६.७७
उत्तर प्रदेश	१८.७६
बंगाल	६.३१

सहायक अनुदानों के सम्बन्ध में

संविधान के अनुच्छेद २७३ के अन्तर्गत जूट पर लगने वाले निर्यात-शुल्क के बदले पश्चिमी बंगाल, बिहार, आसाम और उड़ीसा को प्रथम वित्त-आयोग की संस्तुतियों के अनुसार जो सहायक अनुदान दिये जाते थे लगभग उन्हीं को कायम रखने का सुझाव वित्त-आयोग ने दिया। केवल बिहार से पश्चिमी बंगाल को जितने क्षेत्र हस्तांतरित किये गये थे उन्ही के कारण इन दोनों राज्यों को दिये जाने वाले अनुदानों की राशियों में परिवर्तन किये गये। निम्नलिखित तालिका में इनका विवरण स्पष्ट किया गया है—

(लाख रुपयों में)

राज्य	अनुदान	
	प्रथम वित्त-आयोग के अनुसार	द्वितीय वित्त-आयोग के अनुसार
आसाम	७५	७५
बिहार	७५	७२.३१
उड़ीसा	१५	१५
बगाल	१५०	१५२.६९

अन्य प्रकार के सहायक अनुदानों के सम्बन्ध मे इस आयोग का रुख अधिक सहायता देने का रहा। इस सम्बन्ध में आयोग ने निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों को विशेष महत्त्व दिया —

१. किसी राज्य को दिये जाने वाले सहायक अनुदान की मात्रा का निश्चय व्यापक दृष्टि से उसकी राजकोषीय आवश्यकताओं के अनुसार किया जाय। राजकोषीय आवश्यकताओं के निश्चय में राज्य के अन्तर्गत चलायी जाने वाली उन आर्थिक योजनाओं को दृष्टि मे रखना आवश्यक है, जिन्हें सफलता-पूर्वक चलाना सम्पूर्ण राष्ट्र की आर्थिक-विकास-योजना की प्रगति के लिये अनिवार्य हो।

२. किसी राज्य के साधारण राजस्व और अपरिहार्य व्ययों के अन्तर को यथासम्भव राजस्व के स्रोतों मे उचित बँटवारे द्वारा समाप्त करने की व्यवस्था की जाय। सहायक अनुदान की राशि सामान्य और शर्त रहित आर्थिक सहायता हो।

३. विशिष्ट प्रकार के उद्देश्यों के लिये भी सहायक अनुदान दिये जा सकते है, लेकिन उनके सम्बन्ध मे राज्यों पर यह दायित्व न लादा जाय कि उनकी सम्पूर्ण राशि नियत उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ही व्यय की जाय।

इन उपर्युक्त सिद्धान्तों को दृष्टि मे रखते हुए आयोग ने सन् १९५७-५८ से लेकर सन् १९६१-६२ तक के लिये अलग-अलग राज्यो को विभिन्न वर्षों में दिये जाने वाले अनुदानो की राशियां निश्चित कीं। इनका विवरण आगे दी गयी तालिका में दिखाया गया है। बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश के लिये सहायक अनुदान दिये जाने की कोई संस्तुति नहीं थी, क्योंकि इन राज्यों में निजी तथा

अन्य संघीय स्रोतों से सुलभ होने वाले राजस्व ही विकास सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार के व्ययों के लिये पर्याप्त समझे गये।

राज्यों को सहायक-अनुदान सम्बन्धी संस्तुत्य राशियां—

(करोड़ रुपयों में)

राज्य	१९५७ ११५८	१९५८ १९५९	१९५९ १९६०	१९६० १९६१	१९६१ १९६२	योग
आन्ध्र प्रदेश	४.००	४.००	४.००	४.००	४.००	२०.००
आसाम	३.७५	३.७५	३.७५	४.५०	४.५०	२०.२५
बिहार	३.३०	३.५०	३.५०	४.२५	४.२५	१९.००
केरल	१.७५	१.७५	१.७५	१.७५	१.७५	८.७५
मध्य प्रदेश	३.	३.००	३.००	३.००	३.००	१५.०
मैसूर	६.००	६.००	६.००	६.००	६.००	३०.००
उड़ीसा	३.२५	३.२५	३.२५	३.५०	३.५०	१६.७५
पंजाब	२.२५	२.२५	२.२५	२.२५	२.२५	११.२५
राजस्थान	२.५०	२.५०	२.५०	२.५०	२.५०	१२.५०
बंगाल	३.२५	३.२५	३.२५	४.७५	४.७५	१९.२५
जम्मू और काश्मीर	३.००	३.००	३.००	३.००	३.००	१५.००

संघ द्वारा राज्यों को दिये जाने वाले ऋणों के सम्बन्ध में

पिछले कुछ वर्षों से राज्यों को संघ द्वारा दिये जाने वाले ऋणो की मात्रा में लगातार वृद्धि होती रही है। १५ अगस्त सन् १९४५ को संघ द्वारा राज्यों को दिये गये ऋण की मात्रा केवल ४३ करोड़ ९७ लाख रुपये थी। ३१ मार्च सन् १९५१ को यह मात्रा बढ़ कर १९५ करोड़ ४१ लाख रुपये हो गयी और ३१ मार्च सन् १९५६ को ऐसे ऋणों की राशि लगभग ९०० करोड रुपये हो गयी। इस प्रकार संघ से राज्यों को दिये जाने वाले ऋण की मात्रा बहुत बढ़ती रही है। मात्रा के साथ-साथ ऋणों के प्रकार में भी वृद्धि हुई है। ऐसी स्थिति में ऋणों और उनके

सूद के भुगतान के सम्बन्ध में पायी जाने वाली विविधता को समाप्त करना संघ और राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्ध को सुबोधगम्य बनाने के लिये आवश्यक रहा है। इस सम्बन्ध में उचित सुझाव देने का भार द्वितीय वित्त-आयोग को सौंपा गया। आयोग ने अलग-अलग प्रकार के ऋणों के सम्बन्ध में अलग संस्तुतियां प्रस्तुत कीं जिनका विवरण आगे दिया गया है।

सूदरहित ऋणों के सम्बन्ध में आयोग की यह संस्तुति रही कि भुगतान आदि की शर्तों में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नही है।

विस्थापित जनों के पुनर्वास के लिये राज्यों को दिये गये ऋणों के सम्बन्ध में आयोग की यह संस्तुति रही कि पहली अप्रैल सन् १९५७ से राज्य सरकारें संघ को उतनी ही राशि अदा करें जितनी वे विस्थापित जनों से मूल और सूद के रूप में वसूल कर पाती हैं।

अन्य प्रकार के ऋणो के सम्बन्ध मे आयोग का यह सुझाव था कि सभी अवधि वाले इस प्रकार के ऋणों पर तीन रुपये प्रतिशत की दर से ही सूद लगाया जाय। इसके पहले यदि उन पर तीन प्रति सैकड़ा से अधिक सूद की दर निश्चित रही हो तो उसे भी घटाकर तीन प्रति सैकड़ा कर दी जाय और ऐसे सभी पिछले ऋणों को एक मे मिला दिया जाय। इन ऋणों के भुगतान के सम्बन्ध में आयोग का यह सुझाव था कि इन्हें दो वर्गों में विभक्त कर दिया जाय। पहली अप्रैल सन् १९५७ से बीस वर्षों की अवधि के भीतर भुगतान किये जाने वाले ऋणों को बीस वर्ष के पश्चात् भुगतान किये जाने वाले एक ऋण में कर दिया जाय। तीन प्रतिशत से अधिक सूद दर वाले अन्य पिछले ऋणो को तीस वर्षों के पश्चात् भुगतान होने वाले एक ऋण मे मिला दिया जाय। तीन प्रतिशत से कम सूद वाले ऋणो को इसी प्रकार दो वर्गों में विभक्त करने का सुझाव आयोग ने दिया था। विभागीकरण के उपर्युक्त सिद्धान्त का प्रयोग १५ अगस्त, सन् १९४७ से ३१ मार्च सन् १९५६ तक के ऋणो के लिये ही लागू करने का सुझाव दिया गया था। भावी ऋणों के संबंध मे भी इसका प्रयोग करने का संकेत था।

द्वितीय वित्त-आयोग की संस्तुतियों का प्रभाव

द्वितीय वित्त-आयोग की संस्तुतियों को कार्यान्वित करने से राज्यों को संघ से १४० करोड़ रुपये प्राप्त होने की सुविधा हुई है। प्रथम वित्त-आयोग की संस्तुतियों से राज्यों को केवल ९३ करोड़ रुपये वार्षिक प्राप्त होता रहा। इस प्रकार

प्रथम वित्त-आयोग की संस्तुतियों की तुलना में द्वितीय वित्त-आयोग की संस्तुतियां राज्य सरकारों को संघ से लगभग ४७ करोड़ रुपये वार्षिक और दिलाने में सहायक हुई। इस आयोग की संस्तुतियां लागू होने के पश्चात् संघ से राज्य-सरकारों को प्रतिवर्ष मिलने वाली राशियां निम्नलिखित तालिका में दिखाई गई हैं। करों के शुद्ध आगम में राज्यों का हिस्सा अनुमानों पर ही आधारित है—

(करोड़ रुपयों में)

राज्य	करों के शुद्ध आगम में हिस्सा	अनुच्छेद २७३ के अंतर्गत मिलने वाले सहायक अनुदान	अनुच्छेद २७५ के अन्तर्गत सहायक अनुदान	योग	रेल भाड़े पर लगने वाले कर में हिस्सा
आन्ध्र प्रदेश	८.५०	—	४.००	१२.५०	१.३१
आसाम	२.७५	०.४५	४.०५	७.२५	०.४०
बिहार	१०.००	०.४३	३.८०	१४.२३	१.३९
बम्बई	१४.७५	—	—	१४.७५	२.४१
केरल	३.७५	—	१.७५	५.५०	०.२७
मध्य प्रदेश	७.००	—	३.००	१०.००	१.२३
मद्रास	८.२५	—	—	८.२५	०.९६
मैसूर	५.५०	—	६.००	११.५०	०.६६
उड़ीसा	४.००	०.०९	३.३५	७.४४	१.२६
पंजाब	४.२५	—	२.२५	६.५०	१.२०
राजस्थान	४.२५	—	२.५०	६.७५	१.००
उत्तर प्रदेश	१६.२५	—	—	१६.२५	२.७८
बंगाल	९.५०	०.९१	३.८५	१४.२६	०.९४
जम्मू और काश्मीर	१.२५	—	३.००	४.२५	—

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि वित्त आयोग द्वारा संघ और राज्य सरकारों के बीच वित्तीय संबंध सुगम हो जाते हैं और उन्हें परिवर्तित परिस्थितियों के

अनुरूप रखना सम्भव होता है। विश्व के कुछ अन्य संघीय शासनों में वित्तीय मामलों को लेकर संघ और राज्यों में अनेक मतभेद हो जाते हैं। इससे सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रशासन उचित ढंग से चलना कठिन हो जाता है। लेकिन वित्त आयोग की व्यवस्था से हमारे यहां राज्यों और संघ के बीच होने वाले वित्त-सम्बन्धी विभेदों को हर पांचवें वर्ष मिटाया जा सकता है। राज्यों और संघ के वित्तीय साधनों में समन्वय स्थापित करके विकास सम्बन्धी आर्थिक योजनाओं के संगठित संचालन का क्रम सुगम बना दिया जाता है। इसके अतिरिक्त संघ-सरकार का राज्य-सरकार के वित्तीय प्रशासन पर नियन्त्रण भी रहता है। इस प्रकार संघ और राज्यों में सद्भावपूर्ण वित्तीय सम्बन्ध बना रहने के कारण हमारा संघीय शासन बड़ी उत्तमता से चलता रहता है।

अध्याय ३

संविधान में संघीय अर्थ-प्रबन्धन (२)

(प्रशासनिक विवरण)

वित्तीय प्रशासन

पिछले अध्याय में संविधान के अन्तर्गत संघ और राज्यों के कर-सम्बन्धी अधिकार-क्षेत्रों और उनके बीच वित्तीय संबंधों पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में संघ-सरकार और राज्य सरकारों के वित्तीय प्रशासन पर विचार किया जायगा। वित्तीय प्रशासन का समुचित विश्लेषण किये बिना संविधान में संघीय अर्थ-प्रबन्धन का पूर्ण रूप समझना सम्भव नहीं है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुये पहले संघ-सरकार के वित्तीय प्रशासन पर विचार किया गया है और उसके पश्चात् राज्य-सरकार द्वारा किये जाने वाले वित्त-प्रशासन का विश्लेषण हुआ है।

संघ में वित्तीय प्रशासन

अधिकांश संघीय संविधानों में वित्तीय प्रशासन के अंतर्गत तीन मौलिक सिद्धान्त अपनाये जाते हैं। कोई भी कर जनता के प्रतिनिधियों के अनुमोदन बिना न तो लगाया जाता है और न वसूला ही जाता है। संसद की स्वीकृति के बिना राजस्व से कोई भी व्यय नहीं किया जाता। कार्यपालिका राजस्व का व्यय ठीक उसी ढंग से करती है जिस प्रकार संसद निर्धारित करती है। कार्य-पालिका व्ययों के सम्बन्ध में अपनी सीमा के भीतर रही है अथवा नहीं, इस पर विचार करने के लिये महालेखा-परीक्षक नियुक्त रहता है जो अपने आधीन कार्य करने वाले कर्मचारियों के सहयोग से कार्यकारिणी द्वारा किये हुए व्ययों की पूरी जांच करता है और संसद के विचारार्थ उस सम्बन्ध में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है।

हमारे संविधान में वित्तीय प्रशासन के उपर्युक्त तीनों सिद्धान्तों का समावेश हुआ है। अनुच्छेद २६५ के अनुसार विधायकों द्वारा पारित विधियों के प्राधिकार के सिवाय कोई कर न तो आरोपित ही किया जा सकता है और न संगृहीत ही हो सकता है। इसी प्रकार अनुच्छेद २६६ के अनुसार भारत की संचित निधि में से कोई धनराशि विधायकों द्वारा पारित विधि के अनुसार निश्चित प्रयोजनों के लिये दी हुई रीतियों से ही व्यय की जा सकती है। संविधान के अनुच्छेद २६७ के अन्तर्गत आकस्मिक व्ययों की पूर्ति के लिए भारत की आकस्मिकता निधि स्थापित की गयी है जिसमें संसद द्वारा पारित विधियों के अनुसार निर्धारित राशियां समय-समय पर डाली जाती हैं। इस निधि से आकस्मिक व्ययों की पूर्ति के लिए अग्रिम धन देने का अधिकार राष्ट्रपति को है। इसके अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जो भी धन दिया जाता है उसे अनुच्छेद ११५ और ११६ के अन्तर्गत संसद द्वारा प्राधिकृत कर दिया जाता है।

संविधान के अनुच्छेद १४८ के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा भारत के नियंत्रक-महालेखा-परीक्षक की नियुक्ति की जाती है जिसे भारत सरकार और राज्य सरकारों द्वारा किये जाने वाले व्ययो की जांच का अधिकार प्राप्त है। महालेखा परीक्षक संघ-लेख सम्बन्धी प्रतिवेदन राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित करता है। राष्ट्रपति उन्हें संसद के प्रत्येक सदन के सामने रखवाते है।

वित्तीय विषयों में अपनायी जानेवाली प्रक्रिया

वार्षिक वित्तीय विवरण—संसद के दोनों सदनों के सामने प्रत्येक वित्तीय वर्ष के बारे में प्राक्कलित प्राप्तियों और व्ययों का विवरण राष्ट्रपति द्वारा रखवाया जाता है। इस वार्षिक वित्तविवरण में व्ययों को कई वर्गों मे विभक्त करके दिखाया जाता है। पहले वर्ग मे वे व्यय दिखाये जाते है जिनकी पूर्ति संविधान के अनुसार भारत की संचित निधि से होनी रहती है। दूसरे वर्ग में भारत की सचित निधि से पूर्ति के लिये प्रस्तावित व्यय दिखाये जाते है। राजस्व लेखे पर होने वाले व्यय अन्य व्ययों से अलग रखे जाते है।

भारत की संचित निधि पर भारित व्यय

भारत-सरकार द्वारा विभिन्न करों और शुल्कों के लगाने से जितनी प्राप्तियां होती है और राजकोषीय पत्रों अथवा ऋणपत्रों के निर्गमन से जितनी ऋणराशि

प्राप्त होती है और उपाय तथा साधन सम्बन्धी जो भी अग्रिम रिजर्व बैंक से प्राप्त होता है उन सभी राशियों को भारत की संचित निधि के अन्तर्गत रखते हैं। इस संचित निधि में से निम्नलिखित व्ययों की व्यवस्था की जाती है—

१. राष्ट्रपति को दिये जाने वाले भत्ते, उपलब्धियां तथा उनके पद से सम्बद्ध अन्य व्यय।

३. राज्य सभा के सभापति और उपसभापति तथा लोक सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते।

३. ऐसे ऋण-भार जिनका दायित्व भारत-सरकार पर है। इनके अन्तर्गत व्याज, निक्षेप-निधि-भार और मोचन-भार तथा उधार लेने और ऋण-सेवा तथा ऋण-मोचन सम्बन्धी अन्य व्यय भी आते हैं।

४. उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को दिये जाने वाले वेतन, भत्ते और पेंशन।

५. फेडरल न्यायालय के न्यायाधीशों को दी जाने वाली पेशन।

६. भारत के नियन्त्रक-महालेखापरीक्षक को दिये जाने वाले वेतन, भत्ते और पेंशन।

७. किसी न्यायालय या मध्यस्थ न्यायाधिकरण के निर्णय, आज्ञप्ति अथवा पंचाट के भुगतान के लिये अपेक्षित राशियां।

८. इस संविधान द्वारा अथवा संसद से पारित किसी विधि द्वारा इस निधि से चुकाने के लिए निश्चित किया हुआ कोई अन्य व्यय।

इन व्ययों के लिए जो भी प्राक्कलन तैयार किये जाते हैं उन्हे ससद में मतदान के लिए नही रखा जाता। लेकिन उन पर ससद में चर्चा चल सकती है।

वार्षिक वित्त-विवरण के अन्य व्ययो से सम्बद्ध प्राक्कलनो को लोक-सभा के समक्ष अनुदानों की मांगों के रूप में रखा जाता है। किसी भी माग को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने अथवा किसी भी मांग की राशि को कम करने का अधिकार लोक-सभा को होता है। किसी भी अनुदान की मांग को लोक-सभा के समक्ष रखने के लिये राष्ट्रपति की सिफारिश आवश्यक है। लोक सभा द्वारा उपर्युक्त अनुदान किये जाने के बाद यथासम्भव शीघ्र ही भारत की सचित निधि मे से निम्नलिखित व्ययों के निमित्त आवश्यक राशियों की व्यवस्था के लिये विधेयक प्रस्तुत किया जाता है—

१. वे व्यय जिनके लिये लोक-सभा ने अनुदान स्वीकार किया है।

२. वे व्यय जो भारत की संचित निधि पर भारित हैं तथा जिनकी राशि संसद के समक्ष इसके पहले रखे गये विवरण में दी हुई राशि से अधिक नहीं है। इस विधेयक को नियोजन विधेयक (अप्रोप्रिएशन बिल) कहते है।

नियोजन विधेयक में संसद के किसी भी सदन द्वारा संशोधन का कोई ऐसा प्रस्ताव नहीं लाया जा सकता जिससे अनुदान की राशि परिवर्तित हो जाय अथवा अनुदान का लक्ष्य बदल जाय या जिससे भारत की सचित निधि पर भारित व्यय की मात्रा परिवर्तित हो जाय। संचित निधि से कोई भी राशि तब तक नही निकाली जा सकती जब तक कि नियोजन-विधेयक द्वारा उसे निकालने की व्यवस्था न कर दी गयी हो।

अनुपूरक, अतिरिक्त और असामान्य व्ययों की व्यवस्था

यदि किसी विशेष सेवा पर चालू वित्तीय वर्ष के लिए व्यय की जाने वाली प्राधिकृत राशि उस वर्ष के प्रयोजनों की दृष्टि से अपर्याप्त हो जाती है अथवा जब उस वर्ष के वार्षिक वित्त-विवरण मे अपेक्षित न की गयी किसी नयी सेवा पर अनुपूरक अथवा अतिरिक्त व्यय की आवश्यकता हो जाती है अथवा किसी वित्तीय वर्ष मे किसी सेवा पर उस वर्ष के लिये अनुदान की गयी राशि से अधिक धन व्यय हो गया है तो ऐसे विशेष व्ययो की व्यवस्था के लिए एक दूसरा विवरण ससद के दोनो सदनो के समक्ष राष्ट्रपति अपनी सिफारिशो के साथ रखवाते है। इसी विवरण के आधार पर लोक-सभा अनुपूरक, अतिरिक्त और पूर्व प्राक्कलित मात्रा से अधिक व्ययो के लिये अनुदान करती है। ऐसे किसी भी विवरण के सम्बन्ध मे वही पद्धति अपनायी जाती है जो वार्षिक वित्त-विवरण के सम्बन्ध मे पहले बतायी जा चुकी है।

अग्रिम और असाधारण अनुदानों के सम्बन्ध में लोक-सभा के अधिकार

यदि किसी वर्ष के वित्तीय विवरण मे प्राक्कलित व्यय के लिये अनुदान की माग पर विचार नही किया जा सका हो तो लोक-सभा उस वित्तीय वर्ष के किसी अनुदान के सम्बन्ध मे अग्रिम रुपया दे सकती है।

इसी प्रकार यदि किसी सेवा की विशालता अथवा अनिश्चितता के कारण उसके सम्बन्ध में की गयी मांग उचित ब्योरे के साथ नहीं दी जा सकी है तो लोक-सभा ऐसी असाधारण मांग की पूर्ति के लिये अनुदान कर सकती है।

यदि कोई अनुदान ऐसा हो जिसे किसी वित्तीय वर्ष की चालू सेवा का भाग माना जा सकता हो तो लोक-सभा ऐसे अपवादीय अनुदान करने की शक्ति रखती है।

इन विशिष्ट अनुदानों के करने की सामर्थ्य के साथ ही संसद को यह भी अधिकार है कि वह इन अनुदानों के लिये आवश्यक धन राशियां भारत की संचित निधि से निकालना विधि द्वारा प्राधिकृत कर दे।

वित्त-विधेयक

धन-विधेयक के अन्तर्गत आने वाले प्रथम छः विषयों के सम्बन्ध में यदि कोई संशोधन-सम्बन्धी अथवा अन्य विषयक विधेयक लोक-सभा के सम्मुख रखा जाता है तो ऐसे विधेयक को वित्त-विधेयक कहते हैं। इन्हें सर्वप्रथम लोक-सभा के सम्मुख राष्ट्रपति की सिफारिश के साथ रखा जाता है।

धन-विधेयक

जिस किसी भी विधेयक का निम्नलिखित विषयों मे से सब से अथवा किसी एक से सम्बन्ध हो उसे धन-विधेयक समझा जाता है :—

१. किसी कर का आरोपण, उन्मूलन, छूट, परिवर्तन या विनियमन।

२. भारत सरकार द्वारा धन उधार लेने अथवा कोई प्रत्याभूति देने का विनियमन अथवा भारत सरकार द्वारा लिये गये अथवा लिये जाने वाले किन्हीं वित्तीय आधारों से सम्बद्ध विधि का संशोधन।

३. भारत की संचित निधि अथवा आकस्मिकता निधि की अभिरक्षा; ऐसी किसी निधि में धन डालना अथवा उसमें से धन निकालना।

४. भारत की संचित निधि में मे धन का नियोजन।

५. किसी व्यय को भारत की संचित निधि पर भारित व्यय घोषित करना अथवा ऐसे किसी व्यय की राशि बढ़ाना।

६. भारत की संचित निधि के या भारत के लोक-लेखे के मध्ये धन प्राप्त करना अथवा ऐसे धन की अभिरक्षा या निकासी करना अथवा संघ या राज्य के लेखाओं का लेखा-परीक्षण।

७. उपर्युक्त छः विषयों में से किसी का कोई आनुषंगिक विषय।

उपर्युक्त प्रकार के विधेयकों के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि कोई विधेयक

केवल इस कारण से धन-विधेयक नही माना जा सकता कि उसमें जुर्मानों या अन्य आर्थिक दण्डों के आरोपण का समावेश है अथवा उसमें अनुज्ञा-पत्रों के लिये फीसों या अन्य सेवाओं के लिये फीसो की माग का या भुगतान का उपबन्ध है। इसी प्रकार यदि किसी विधेयक में किसी स्थानीय प्राधिकारी अथवा निकाय द्वारा स्थानीय प्रयोजनों के लिये किसी कर के आरोपण, उन्मूलन, छूट, परिवर्तन अथवा विनिमय का उल्लेख है तो उसे भी धन-विधेयक नही कहा जा सकता।

किसी भी विधेयक के सम्बन्ध मे धन-विधेयक होने का विवाद यदि उठ खड़ा होता है तो उस पर लोक-सभा के अध्यक्ष का निर्णय ही मान्य होता है।

धन-विधेयकों को पारित करने की प्रक्रिया

धन विधेयको को सर्वप्रथम लोक-सभा के सम्मुख रखा जाता है। लोक-सभा से पारित होने के पश्चात् उन्हे राज्य-सभा के सम्मुख उसकी सिफारिशो के लिये रखा जाता है। राज्य सभा विधेयक की प्राप्ति की तारीख से चौदह दिनों के भीतर उसे अपनी सिफारिशों सहित लोक-सभा को लौटा देती है। लोक-सभा, राज्य-सभा की सिफारिशो मे से सबको या किसी को स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। यदि राज्य-सभा की सिफारिशों मे से किसी को लोक-सभा स्वीकार कर लेती है तो धन विधेयक उन सिफारिशो के अनुरूप उचित सशोधनो सहित दोनो सदनों द्वारा पारित समझा जाता है। यदि राज्यसभा की सिफारिशो मे से किसी को भी लोक-सभा स्वीकार नही करती तो विधेयक को उन सिफारिशो मे दिये गये संशोधनो के बिना पारित समझा जाता है। यदि लोक-सभा द्वारा पारित और राज्य-सभा को उसकी सिफारिसो के लिये भेजा गया धन-विधेयक नियत अवधि के भीतर लोक सभा को लौटाया नही जाता तो उस अवधि के समाप्त होने पर लोक सभा द्वारा उसके पारित रूप को दोनो सदनों द्वारा पारित समझा जाता है। दोनों सदनों द्वारा पारित होने पर धन-विधेयक को राष्ट्रपति के समक्ष उनकी अनुमति के लिये उपस्थित किया जाता है। राष्ट्रपति की अनुमति के पश्चात् विधेयक विधि का रूप ले लेता है। सामान्य विधेयको को राष्ट्रपति लोक-सभा के पुनः विचारार्थ लौटा सकते है। लेकिन धन-विधेयक, चूकि राष्ट्रपति की सिफारिश के ही साथ सभा के समक्ष रखा जाता है, इसीलिए लोक-सभा से पारित होने के पश्चात् उस पर राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त होना स्वाभाविक है।

धन-विधेयकों को राष्ट्रपति की सिफारिशों के साथ लोक-सभा के समक्ष

रखने के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि यद्यपि अधिकांश धन-विधेयकों पर यह नियम लागू होता है लेकिन किसी कर को घटाने या हटाने के निमित्त किये जाने वाले संशोधन के प्रस्ताव को लोक-सभा के सम्मुख लाने के लिये राष्ट्रपति की सिफारिश आवश्यक नहीं होती। (अनुच्छेद ११७)

राज्यों में वित्तीय प्रशासन

राज्यों में वित्तीय प्रशासन ठीक लगभग वैसे ही चलता है जैसे संघ-सरकार के सम्बन्ध में इसके पहले बतलाया गया है।

वार्षिक वित्त-विवरण

प्रत्येक वित्तीय वर्ष के बारे में राज्य के विधान मण्डल के सदन अथवा सदनों के सम्मुख राज्यपाल उस वर्ष के लिये प्राक्कलित प्राप्तियों और व्ययो का विवरण रखवाता है। इस विवरण में दिखाये जाने वाले व्ययों को दो वर्गों में विभक्त करके दिखाया जाता है। संविधान के अनुसार राज्य की संचित निधि पर भारित व्यय को एक वर्ग में दिखाया जाता है और संचित निधि से नियोजित किये जाने के उद्देश्य से प्रस्तावित व्ययो को दूसरे वर्ग मे दिखाते है। इसी प्रकार राजस्व खाते से किये जाने वाले व्ययों को अन्य व्ययों से अलग दिखाया जाता है।

राज्यों में संचित और आकस्मिकता-निधियाँ

संघ की तरह राज्यों में सचित निधि और आकस्मिकता-निधि की व्यवस्था है। राज्य सरकार द्वारा प्राप्त सभी राजस्व, राज कोष पत्रो के निर्गमन से प्राप्त ऋण, अन्य ऋण, अर्थोपाय पेशगियां, उस राज्य सरकार द्वारा प्राप्त ऋणो के भुगतान की राशियां संचित निधि मे आती है। राज्य सरकार द्वारा जो अन्य सार्वजनिक राशियां प्राप्त होती हैं उन्हें राज्य के लोक-खाते में जमा किया जाता है।

संविधान के अनुसार राज्य विधान मण्डल को अपने यहां आकस्मिकता-निधि स्थापित करने का अधिकार है। राज्य का राज्यपाल आकस्मिकता निधि से उन अप्रत्याशित व्ययों के लिये पेशगी दे सकता है, जिन्हें आगे चलकर विधान-मण्डल प्राधिकृत करेगा। आकस्मिकता-निधि में तत्सम्बन्धी कानून के अनुसार धन राशियां जमा की जाती हैं।

राज्य की संचित निधि पर निम्नलिखित व्यय भारित होते हैं—

१. राज्यपाल को प्राप्त होने वाली उपलब्धियां और भत्ते तथा उसके पद से सम्बद्ध अन्य व्यय।

२. विधान सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते। यदि उस राज्य में विधान परिषद भी है तो उसके भी सभापति और उपसभापति के वेतन और भत्ते।

३. ऐसे ऋण-भार जिनका दायित्व राज्य पर है। व्याज, निक्षेपनिधि-भार और मोचन-भार के अतिरिक्त ऋण-सेवा और ऋण-मोचन सम्बन्धी अन्य व्यय भी उनके अन्तर्गत आते है।

४. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन और भत्ते।

५. किसी न्यायालय या मध्यस्थ न्यायाधिकरण के निर्णय, आज्ञप्ति या पंचाट के भुगतान के लिये अपेक्षित राशियां।

६. इस सविधान द्वारा अथवा राज्य के विधान मण्डल द्वारा किसी कानून के अन्तर्गत इस निधि पर भारित घोपित किया गया अन्य कोई व्यय।

व्ययों के सम्बन्ध की प्रक्रिया

राज्य की संचित निधि पर भारित व्ययों का प्राक्कलन विधान सभा के सम्मुख मतदान के लिए उपस्थित नहीं किया जाता। लेकिन विधान मण्डल को यह अधिकार है कि वह इन प्राक्कलनों में से किसी पर विचार-विमर्श कर सकता है।

अन्य व्ययो से सम्बन्धित प्राक्कलनों को अनुदान की मांग के रूप में विधान सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। विधान सभा को इनमें से किसी को स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करने अथवा उनकी राशि को घटाने का पूरा अधिकार है। अनुदान के लिए किसी भी माँग को विधान सभा के सम्मुख रखने से पहले राज्यपाल की सिफारिश आवश्यक है।

नियोजन विधेयक

विधान सभा द्वारा अनुदान सम्बन्धी माँग को स्वीकार किये जाने के पश्चात् यथासम्भव शीघ्र ही संचित निधि से निम्नलिखित आवश्यक राशि नियोजित करने के लिए एक नियोजन-विधेयक विधान सभा के सम्मुख लाया जाता है—

१. संविधान द्वारा स्वीकृत माँगों से सम्बन्धित अनुदान।

२. संचित निधि पर भारित वे व्यय जिनकी राशियां विधान सभा के सम्मुख इससे पूर्व प्रस्तुत विवरण में उल्लिखित राशियों से अधिक न हों।

नियोजन विधेयक में राज्य विधान मण्डल के किसी भी सदन द्वारा संशोधन का कोई ऐसा प्रस्ताव नहीं लाया जा सकता जिससे अनुदान की राशि में परिवर्तन हो जाय अथवा अनुदान का लक्ष्य बदल जाय अथवा जिससे राज्य की संचित-निधि पर भारित व्यय की राशि परिवर्तित हो जाय। राज्य की संचित निधि से कोई भी राशि तबतक नहीं निकाली जा सकती जबतक कि नियोजन विधेयक द्वारा उसे निकालने की व्यवस्था न कर दी गयी हो। नियोजन-विधेयक विधान-सभा द्वारा पारित होने पर नियोजन अधिनियम बन जाता है।

अनुपूरक, अतिरिक्त और असामान्य व्ययों की व्यवस्था

यदि किसी विशेष सेवा पर, चालू वित्तीय वर्ष के लिए, व्यय सम्बन्धी प्राधिकृत राशि उस वर्ष के प्रयोजनों की पूर्ति के लिए अपर्याप्त पायी जाती है, अथवा जब उस वर्ष के वार्षिक वित्त-विवरण में अपेक्षित न की गयी किसी नयी सेवा पर अनुपूरक अथवा अतिरिक्त व्यय की आवश्यकता उत्पन्न होती है अथवा किसी वित्तीय वर्ष मे किसी सेवा पर उस वर्ष के लिए अनुदान की गयी राशि से अधिक धन व्यय हो गया है तो ऐसी परिस्थिति मे राज्यपाल ऐसे अतिरिक्त, अनुपूरक अथवा बढ़े हुए व्ययों की प्राक्कलित राशि के लिए एक दूसरा विवरण विधान-मण्डल के सदन अथवा दोनों सदनो के सम्मुख रखवाता है ताकि ऐसी अधिकता के लिए विधान-सभा द्वारा अनुदान दिए जा सके। ऐसे किसी भी विवरण के सम्बन्ध में प्रायः वैसी ही व्यवस्था की जाती है जैसी वार्षिक वित्त-विवरण तथा उसमे वर्णित व्यय अथवा अनुदान की किसी माग के सम्बन्ध मे अपनायी जाती है।

अग्रिमों और असाधारण अनुदानों के सम्बन्ध में राज्य-सभा के अधिकार

यदि किसी वित्तीय वर्ष के वित्तीय विवरण मे प्राक्कलित व्यय के लिए अनुदान की मांग पर विचार नही किया जा सका है तो विधान सभा उस वित्तीय-वर्ष के किसी अनुदान के सम्बन्ध में अग्रिम दे सकती है।

इसी प्रकार यदि किसी सेवा की विशालता अथवा अनिश्चितता के कारण उसके सम्बन्ध में की गयी माँग उतने ब्योरे के साथ नहीं दी जा सकी है जितना वार्षिक वित्त-विवरण में साधारणतः दिया जाता है तो विधान सभा उस राज्य के

सम्पत्ति-स्रोतों पर होने वाली ऐसी अप्रत्याशित माँग की पूर्ति के लिए अनुदान कर सकती है।

यदि कोई अनुदान ऐसा हो जिसे किसी वित्तीय वर्ष की चालू सेवा का भाग न कहा जा सकता हो तो ऐसे आपवादिक अनुदान भी विधान सभा द्वारा दिये जा सकते हैं।

उपर्युक्त प्रकार के विशेष अनुदान देने के साथ ही विधान-मण्डल को यह भी शक्ति है कि वह इन अनुदानों के लिए आवश्यक राशियों को राज्य की संचित निधि से निकालना विधि द्वारा प्राधिकृत कर दे। यहा यह स्मरणीय है कि उपर्युक्त अनुदान देने अथवा उनके सम्बन्ध में उचित राशियां प्राधिकृत करने के क्रम को अनुच्छेद २०३ के प्रावधान नियन्त्रित करते है।

वित्त-विधेयक

धन विधेयक के अन्तर्गत आने वाले प्रमुख विषयों के सम्बन्ध मे यदि किसी प्रकार का विधेयक या सशोधन विधान-सभा के सम्मुख रखा जाता है तो उस पर राज्यपाल की सिफारिश अनिवार्य है। ऐसे विधेयको को वित्त-विधेयक कहते है। इन्हे सर्वप्रथम विधान सभा के सम्मुख ही रखा जाता है।

यदि किसी कर मे घटाव करने अथवा उसे हटाने के लिये कोई संशोधन विधान सभा के सम्मुख प्रस्तावित किया जा रहा है तो उस पर राज्यपाल की सिफारिश आवश्यक नही है। कभी-कभी जुर्माना अथवा अर्थदण्ड के आरोपण अथवा अनुज्ञा-पत्र से सम्बन्धित फीसों की माँग अथवा किसी की हुई सेवा की फीसों की माँग के लिए जो विधेयक प्रस्तुत किये जाते है उन्हे वित्त-विधेयक मानने लगते है। लेकिन इन विषयों से सम्बन्धित विधेयको को वित्त-विधेयक मानना भूल है। (अनुच्छेद २०७ के अनुसार)। इसी प्रकार किसी स्थानीय प्राधिकारी या निकाय द्वारा स्थानीय प्रयोजनो के निमित्त लगाये जाने वाले करों के आरोपण, उन्मूलन, छूट, परिवर्तन या विनियमन से सम्बन्धित विधेयको को भी वित्त-विधेयक नही माना जा सकता।

राज्य का विधान सभा द्वारा किसी भी ऐसे विधेयक को राज्यपाल की सिफारिश बिना पारित नही किया जा सकता, जिसके लागू होने से सचित निधि से व्यय होने की सम्भावना हो।

इन विवरणों से स्पष्ट है कि राज्य सरकारों की वित्त-प्रक्रियाएँ संघ की

वित्त-प्रक्रियाओं से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। राज्य सरकारों के धन-विधेयक भी संघ सरकार के धन-विधेयक और उसके सम्बन्ध में अपनायी जाने वाली प्रक्रियाओं से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। राज्य के धन-विधेयकों का विवरण नीचे दिया गया है :—

धन-विधेयक

राज्यों में वे विधेयक जो निम्नलिखित विषयों में से सब अथवा किसी एक से सम्बन्ध रखते हों, धन-विधेयक कहलाते हैं :—

१. किसी कर का आरोपण, उन्मूलन, छूट, परिवर्तन या विनियमन।

२. राज्य द्वारा धन उधार लेने अथवा कोई प्रत्याभूति देने का विनियमन, अथवा राज्य द्वारा लिये गये अथवा लिये जाने वाले किन्हीं वित्तीय आभारों से सम्बद्ध कानून का संशोधन।

३. राज्य की संचित निधि अथवा आकस्मिकता निधि की अभिरक्षा; ऐसी किसी निधि में धन डालना अथवा उसमें से निकालना।

४. राज्य की संचित निधि में से धन का नियोजन।

५. किसी व्यय को राज्य की संचित निधि पर भारित व्यय घोषित करना अथवा ऐसे किसी व्यय की राशि को बढाना।

६. राज्य की संचित निधि के या राज्य के लोक-लेखे मध्ये धन प्राप्त करना अथवा ऐसे धन की अभिरक्षा या निकासी करना।

७. उपर्युक्त विषयों में से किसी का आनुषंगिक कोई विषय।

जिस प्रकार संघ सरकार के किसी विधेयक के सम्बन्ध मे यह विवाद उठने पर कि यह धन-विधेयक है या नहीं, लोक-सभा के अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम होता है उसी प्रकार राज्य सरकार में किसी विधेयक के सम्बन्ध मे यह विवाद उठने पर विधान सभा के अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम होता है। धन-विधेयकों को विधान-परिषद् के सम्मुख रखते समय अथवा राज्यपाल के समक्ष उसकी अनुमति के लिये उपस्थित करते समय विधान सभा के अध्यक्ष का इस आशय का एक प्रमाण-पत्र भी संलग्न कर दिया जाता है कि वह धन-विधेयक हैं।

धन-विधेयक पारित करने की प्रक्रिया

दो सदनों वाले राज्य विधान मण्डलों में भी धन विधेयकों को सर्वप्रथम

विधान सभा के ही समक्ष रखते हैं। विधान सभा द्वारा उसका जो रूप पारित होता है उसे विधान परिषद को उसकी सिफारिशों के लिये भेज दिया जाता है। विधेयक की प्राप्ति के चौदह दिन की अवधि के भीतर विधान परिषद विधान-सभा को उक्त विधेयक अपनी सिफारिशों के साथ भेजती है। विधान सभा को परिषद की सिफारिशों को मानने अथवा न मानने का पूर्ण अधिकार है। यदि विधान सभा परिषद की सिफारिशें मान लेती है तो उनमें प्रस्तावित संशोधनों के साथ विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता हैं।

यदि विधान-सभा परिषद को धन सम्बन्धी सिफारिशें नहीं मानती तो विधान सभा द्वारा पारित विधेयक को ही दोनों सदनों द्वारा पारित विधेयक मान लेते हैं। इसी प्रकार यदि विधान-परिषद् के पास भेजा गया विधेयक उक्त १४ दिन की अवधि में वापस नहीं किया जाता तो उसके बीतने के पश्चात् विधान-सभा द्वारा पारित विधेयक के रूप को ही दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है।

निष्कर्ष

इस अध्याय में दिये गये वित्तीय प्रशासन के विवरणो से यह प्रकट होता है कि जो अधिकार संसद को अपने वित्तीय क्षेत्रो में सुलभ है और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए जिस प्रकार की प्रक्रियायें संघ मे अपनायी जाती है लगभग वैसे ही अधिकार राज्यो के विधान-मण्डलों को अपने वित्तीय क्षेत्रों में सुलभ हैं। परिशिष्ट में दी गई सघ-सूची, राज्य-सूची और समवर्ती सूची से सघ और राज्यों के कार्य क्षेत्र और उनसे सम्बन्धित वित्तीय प्रशासन के क्षेत्र स्पष्ट होते हैं। जिन राज्यो मे विधान मण्डल के दो सदन हों वहां वित्तीय प्रशासन संसद के वित्तीय प्रशासन से पूर्णतः मिलता है। नियोजन-विधेयक, वित्त-विधेयक, और धन-विधेयक के रूप और उन्हें पारित करने की प्रक्रियायें संघ और राज्यों में लगभग समान है। वित्तीय प्रशासन की यह समानता राज्यों की स्वायत्तता की द्योतक है। संघ और राज्यों में पाये जाने वाले वित्तीय सम्बन्ध केवल सम्पूर्ण राष्ट्र को समन्वित ढंग से प्रगतिशील बनाने के माध्यममात्र है।

अध्याय ४

आय-कर

स्वतन्त्रता मिलने के बाद से और विशेषतः सगठित आयोजनो के सचालन के प्रारम्भ होने के बाद से भारत की कर-व्यवस्था में प्रत्यक्ष करो का महत्त्व बढ़ गया है। कर-भार के वितरण को अधिक से अधिक समान बनाने और कर देने की क्षमता के अनुसार उसे उचित सीमाओ मे रखने का क्रम प्रत्यक्ष करो के अन्तर्गत सरल है। इनसे विकास के क्रम मे निजी सम्पत्तियो के असमान रूप मे बढने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को नियमित रखना सम्भव है ताकि अधिकाश जनता पर पड़ने वाले भार की वृद्धि के साथ ही सम्पत्तिवान अल्पसख्यको की बढ़ती सम्पन्नता अधिक कर-भार द्वारा सीमित रखी जा सके। प्रत्यक्ष करो के अन्तर्गत आय-कर, अतिकर, सम्पत्तिकर, व्ययकर, देनकर, भू-राजस्व आदि प्रमुख है। इनमे आय-कर और भू-राजस्व अधिक पुराने है। शेष का प्रारम्भ आर्थिक आयोजनो के चलने के बाद से ही हुआ है। इस अध्याय में भारत के आय-कर का विवरण दिया जा रहा है।

भारतीय आय-कर के प्रमुख अग निम्नलिखित है.—(१) मुख्य आय-कर (२) एक निश्चित सीमा से ऊपर वाली आय पर लगाया जाने वाला अतिकर जो आयकर के अतिरिक्त होता है, (३) कम्पनियो पर लगने वाला अतिकर जो विशेषतः निगम-कर के रूप में प्रसिद्ध है। और (४) अतिरिक्त कर जो उपर्युक्त पहले और दूसरों करो पर आवश्यकतानुसार समय-समय पर लगाये जाते है।

इनके अतिरिक्त युद्धकाल मे आय-कर के अन्तर्गत ही अधिलाभ-कर लगाने की व्यवस्था की गयी थी। द्वितीय युद्धकाल मे लगे अधिलाभ-कर को १९४६ तक लागू रखा गया था। १ अप्रैल १९४६ को इसके स्थान पर व्यवसाय-लाभ-कर लगाया गया जिसे ३१ मार्च १९४९ तक चालू रखा गया।

जैसा कि आगे दिये विवरण से स्पष्ट होगा, आय-कर के ये विविध रूप सरकारी आय बढ़ाने तथा आर्थिक असमानता को अधिक से अधिक कम करने के लिए समय-

समय पर प्रयोग में लाये जाते है। इनकी दरे प्रत्येक वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ में वित्त अधिनियम द्वारा निश्चित की जाती हैं। इन्ही के आधार पर वर्ष भर कर-निर्धारण होता रहता है। दरों के निश्चयन में सरकार की आय सम्बन्धी आवश्यकता तथा जनता की कर-देय क्षमता को दृष्टि में रख कर ही कर-भार विशेषतः घटाया-बढ़ाया जाता है।

आय-कर का पिछला इतिहास

भारत मे आय-कर का वर्तमान रूप पिछले सौ वर्ष के क्रमिक विकास का परिणाम रहा है। इसका प्रारम्भ १८६० ई० मे वित्त-सदस्य जेम्स विल्सन द्वारा किया गया था। लेकिन १८८६ तक इसका क्रमबद्ध रूप प्रस्तुत न हो सका था। इन २६ वर्षो मे कई प्रयोग हुए। साधारण पेशा-कर से लेकर आय-कर के सामान्य रूप तक व्यवहार मे आये। १८८६ का आयकर अधिनियम इसका सबसे पहला सुसगठित विधान था। उसी समय से भारत की कर-व्यवस्था मे आय-कर का स्थायी स्थान बना। इस अधिनियम मे ५०० रुपये की आय पर कर लगाने की व्यवस्था की गयी थी। १९०३ मे कर लगने की न्यूनतम सीमा को बढा कर १००० रुपये कर दिया गया। १९१६ मे पुन. कुछ परिवर्तन लाये गये और ५००० रुपया तथा अधिक के लिए तीन और वर्ग बनाये गये तथा पहले की अपेक्षा बढ़ी दर पर कर लगाने की व्यवस्था प्रारम्भ की गयी। १९१८ मे आय-कर का नया अधिनियम बनाया गया जिसमे पहले प्रावधानो को मूलतः परिवर्तित कर दिया गया। इसकी सबसे बडी विशेषता यह थी कि वर्ष की आय पर उसी वर्ष कर लगाने की व्यवस्था थी। इससे कराधान का क्रम वर्ष के अन्त तक पूर्ण न होता था। इस दोष तथा अन्य सीमाओ के कारण आयकर-विधान मे पुन. परिवर्तन करने की आवश्यकता का अनुभव कुछ समय बाद ही होने लगा। परिवर्तन का क्रम निश्चित करने के लिए १९२१ मे एक समिति नियुक्त की गयी। उसी के सुझावो के आधार पर १९२२ मे फिर नया आय-कर-अधिनियम बनाया गया। वही अब तक चल रहा है।

१९२२ से लेकर अब तक अधिनियम मे अनेक सशोधन हुए है जिनसे उसे सामयिक आवश्यकताओ के अनुरूप रखा जा सका है। सशोधनो की सख्या ५० से भी अधिक है। यह सशोधन और परिवर्तन होने मे कराधान-जांच-आयोग १९२४-२५, आयकर समिति १९३५-३६, आयकर-अनुसधान आयोग १९४७, और कराधान-जाँच आयोग १९५३-५४ की सस्तुतियों का विशेष प्रभाव पड़ा

है। इनका उद्देश्य आयकर द्वारा अधिक से अधिक राजस्व प्राप्त करना, आयकर-प्रशासन संबंधी किसी असुविधा को दूर करना, अदालती निर्णयों को आयकर-विधान में सम्मिलित करना तथा अधिक से अधिक आय को कराधान क्षेत्र में लाना रहा है। इनके अतिरिक्त देश की बदलती आर्थिक स्थिति के अनुसार आयकर को परिवर्तित करते रहना भी विधान में संशोधन लाने का एक प्रमुख कारण है।

आय-कर और राज्य-सरकारें

हमारे यहां आय-कर लगाने और वसूलने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को है। इसकी व्यवस्था (प्रशासन) केन्द्रीय राजस्व परिषद (सेन्ट्रल बोर्ड आव रेवेन्यू) कराती है। प्रशासन-क्रम में राज्य सरकारें भी योग देती हैं। कर से होने वाली कुछ शुद्ध प्राप्ति को संविधान में दिये नियम के अनुसार राज्य सरकारों और केन्द्र सरकार के बीच वितरित किया जाता है। अनुच्छेद २७० के अनुसार केन्द्र-सरकार और राज्य-सरकारों के बीच शुद्ध आयकर प्राप्ति का वितरण हर पांचवें वर्ष नियुक्त किये जाने वाले वित्त आयोग की संस्तुतियों के आधार पर होता है। प्रथम वित्त आयोग ने, जिसकी संस्तुतियाँ १९५२ मे लागू की गयी, कुल शुद्ध आय-कर प्राप्ति का ५५ प्रतिशत राज्यो में वितरित करने की सिफारिश की थी। इस विभाज्य राशि का ८० प्रतिशत जन-संख्या के आधार पर तथा २० प्रतिशत वसूली हुई शुद्ध आय-कर राशि के अनुसार वितरित करने का सुझाव था।

१९५७ में द्वितीय वित्त-आयोग की संस्तुतियों को लागू करने के पूर्व तक प्रथम वित्त आयोग की संस्तुतियों के अनुसार शुद्ध आयकर प्राप्ति का वितरण राज्यों और केन्द्र-सरकार के बीच होता रहा। द्वितीय वित्त आयोग ने कुल शुद्ध आय-कर-प्राप्ति का ६० प्रतिशत राज्यों में वितरित करने की संस्तुति की। इस विभाज्य राशि का ९० प्रतिशत राज्यो की जन-संख्या के अनुसार तथा शेष १० प्रतिशत राज्यों में वसूली गयी शुद्ध आय-कर राशि के अनुपात मे वितरित करने का सुझाव था। इन्ही सुझावों के आधार पर केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच आय-कर की शुद्ध प्राप्ति का वितरण होता है। यह क्रम तृतीय वित्त आयोग की संस्तुतियाँ आने तक चलता रहेगा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आय-कर केवल केन्द्रीय सरकार के लिए ही राजस्व का स्रोत नहीं है बल्कि राज्य सरकारों को भी इससे उचित प्राप्ति हो जाती

है। इस प्रकार केन्द्र और राज्य सरकारों की वित्त व्यवस्था में आय-कर का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। राज्य सरकारों को आय-कर वसूलने का पूर्ण अधिकार इसलिए नहीं दिया गया कि इससे कर-क्षेत्र संबंधी संघर्ष की संभावना बढ़ जाती।

इन प्रारम्भिक बातों के बाद आय-कर के प्रमुख तत्त्वों का विश्लेषण अधिक स्पष्ट हो सकेगा। आयकर-दायित्व के आधार, कृषि-आय पर कराधान, कर-छिपाव और बचाव की समस्या आय-कर व्यवस्था के प्रमुख अंग है। इनके अतिरिक्त विभिन्न वर्षों में आय-कर से क्या प्राप्तियाँ रही हैं तथा अन्य देशों की तुलना में भारतीय आय-कर की क्या विशेषताएं हैं, इनका विश्लेषण भी होगा।

आयकर-दायित्व के आधार

दायित्व के आधार का अध्ययन दो खंडों में विभक्त हो सकता है—

(१) कर देने के दायित्व का आधार अर्थात् निवासियों और विदेशियों पर कराधान, और

(२) शुद्ध आय—आयकर पूँजी अथवा उस कुल आय पर नहीं लगता जिसमें से आय कमाने में हुआ व्यय नही निकाला गया। शुद्ध आय की व्याख्या के अन्तर्गत ही कुल आय में से विभिन्न घटावो और छूटों को निकालने की बात पर विचार किया जाता है।

इन दोनों में से पहला केवल कानूनी व्याख्या से सम्बद्ध है जिसे कर-अधिकारी विदेशियों की आय पर कर लगाने की इच्छा और आवश्यकता के अनुसार निश्चित करते है। दूसरा राजवित्त के अन्तर्गत उन महत्त्वपूर्ण मसलों से सम्बद्ध है जिन्हे पूजी-निर्माण तथा काम करने और बचत बढ़ाने की इच्छा के सम्बन्ध में बहुत ही विचारणीय माना जाता है।

निवासी का अभिप्राय

१८८६ के आयकर-अधिनियम में निवासी और विदेशी की परिभाषा नहीं दी गयी थी। ब्रिटिश न्यायालयों के निर्णयों के मुताबिक ही इनकी व्याख्या की जाती थी। किसी विदेशी को उसके प्रतिनिधि द्वारा भारत में प्राप्त होने वाली अथवा मिलने वाली आय पर कर लगाया जाता था। १९२२ में पहली बार निवासियों को ब्रिटिश भारत से बाहर 'व्यवसाय' के मद में प्राप्त होने अथवा निकलने वाली आय

पर प्रेषणा के आधार पर कर लगाने की व्यवस्था प्रारम्भ की गयी। सबसे अधिक परिवर्तन १९३९ में किया गया जबकि एक निवासी की सभी आयों पर, चाहे वे ब्रिटिश भारत को हों अथवा बाहर को, कर लगाने की व्यवस्था की गयी।

निवास-स्थान सम्बन्धी दायित्वों का विश्लेषण आय-कर-अधिनियम १९२२ की धारा ४, ४अ, और ब में दिया गया है। निवास-सम्बन्धी तीन वर्ग किये गये है– साधारण निवासी, असाधारण निवासी और विदेशी। करक्षेत्र अथात् भारत संघ में जो आय उत्पन्न, उपार्जित अथवा प्राप्त होती है अथवा जिसे उत्पन्न, उपार्जित अथवा प्राप्त हुआ माना जाता है उस पर साधारण निवासी, गैर-साधारण निवासी तथा विदेशी, तीनों को कर देना पड़ता है। कर-क्षेत्र अर्थात् भारत सघ के बाहर उपार्जित अथवा उत्पन्न होने वाली आय पर विदेशी से कर नही लिया जाता। लेकिन साधारण निवासियों को इस पर कर देना पड़ता है। गैर-साधारण निवासी को ऐसी आय पर कर तभी देना होता है यदि वह ऐसे व्यवसाय, पेशा अथवा उद्यम से प्राप्त हो जो भारत में स्थापित हो अथवा भारत से नियत्रित हो। साधारण निवासियों को उपर्युक्त प्रकार की विदेशी आय (न भेजी गयी राशि मे १९५८-५९ वित्त वर्ष तक ४५०० रुपये छोड़कर शेष) पर आय-कर देना होता है। विदेशी आय के उस अंश पर, जिस पर कर नही लगा है और जो १ अप्रैल १९३३ के पश्चात् का है, भारत मे प्राप्त होने पर कर लगाया जाता है यदि उसको प्राप्त करने वाला साधारण अथवा गैर-साधारण निवासी है। विदेशी को ऐसी आय की प्राप्ति पर कर नही देना होता।

देशी रियासतों के मिलने के बाद से गैर-निवासियो की समस्या सम्पूर्ण देश के लिए समान रूप से सुलझाई जा सकी है। आयोजनो की वित्त व्यवस्था के क्रम में विदेशों से बड़ी मात्रा मे पूजी का आयात हो रहा है। इनमे कर-सम्बन्धी विशेष समस्याये उत्पन्न हुई है जिनके उचित सुलझाव के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगो से संबधित कर-दायित्व को निश्चित करने वाले वर्तमान विधान का सशोधन उचित जान पड़ता है।

आय का रूप

आयकर-अधिनियम मे कर-देय आय की उचित परिभाषा नही दी गयी है। इसकी व्याख्या इसके सामान्य अर्थ से मिलती-जुलती है। किसी निश्चित स्रोत से नियत अवधि पर मुद्रा में अथवा मुद्रा द्वारा आँके जा सकने वाले अन्य किसी रूप

में जो प्राप्ति होती है वही सामान्यतः आय मानी जाती है। इसमें पूंजी संबन्धी प्राप्तियां नहीं आती और न देन ही आती है।

आय-कर-गणना की सुविधा की दृष्टि से कुल आय को स्रोत के अनुसार ६ खण्डो में विभाजित किया जाता है:—

(१) वेतन
(२) प्रतिभूतियों पर ब्याज
(३) गृह सम्पत्ति से आय
(४) व्यवसाय, पेशा अथवा उद्यम से प्राप्त लाभ,
(५) अन्य स्रोतों से प्राप्त आय,
(६) पूजी-लाभ

पूंजी-लाभ पर कर लगाने का क्रम प्रथम बार १९४६ में प्रारम्भ किया गया था लेकिन दो वर्ष बाद ही इसे स्थगित करना पड़ा। १९५६-५७ वित्त-वर्ष से उत्पन्न अथवा प्राप्त पूजी-लाभ पर १९५७-५८ से कर लगाने का क्रम पुनः प्रारम्भ किया गया है।

आय-कर, अति-कर तथा अधि-कर की दरें

प्रत्येक वित्त वर्ष के प्रारम्भ मे ही इन विविध करों की दरें नये वित्त-अधिनियम द्वारा निश्चित की जाती है। करदाता के स्तर के अनुसार कर की दरें, छूट की सीमायें आदि अलग अलग होती है। करदाता एक व्यक्ति, सयुक्त परिवार, साझेदारी सस्था, स्थानीय सरकार, कम्पनी अथवा व्यक्तियों का सघ हो सकता है। वित्त-अधिनियम के अन्तर्गत छूट की एक न्यूनतम सीमा निश्चित की जाती है, जिसके नीचे कर नही लगता। १९५८-५९ वर्ष वाली आयों में १९५९ वित्त अधिनियम के अनुसार ३००० रुपये से कम आय वाले व्यक्तियों तथा ६००० रुपये से कम आय वाले सयुक्त हिन्दू परिवारों को कर नही देना पडता। कर देने वाले लोगो मे भी विवाहित व्यक्तियों तथा २०००० रुपये वार्षिक से कम आय वाले संयुक्त हिन्दू परिवारो को अपनी आय के प्रथम ३००० रुपये पर कर नही देना पड़ता। एक आश्रित बच्चा अथवा एक नाबालिग साझेदार रहने पर छूट की सीमा ३३०० रुपये तथा दो अथवा दो से अधिक आश्रित बच्चे या नाबालिग साझेदार रहने पर छूट की सीमा ३६०० रुपये हो जाती है। अविवाहित व्यक्तियों तथा २०००० से अधिक वार्षिक आय वाले संयुक्त हिन्दू परिवारों, अपंजीकृत साझे-

दारी संस्थाओं अथवा व्यक्तियों के अन्य संघों को कर-देय आय के प्रथम १००० रुपये पर कर नहीं देना होता।

अति-कर २०,००० रुपये वार्षिक से कम आय पाने वाले व्यक्तियों, संयुक्त हिन्दू परिवारों, अपंजीकृत फर्मों तथा अन्य संघों को नहीं देना पड़ता। स्थानीय सरकार को कुल आय का १६ प्रतिशत, सहकारी समितियों को प्रथम २५,००० रु० को छोड़कर शेष पर १६ प्रतिशत, जीवन बीमा प्रमण्डल के कुल लाभ पर ११ प्रतिशत तथा अन्य कंपनियों की कुल आय पर ५० प्रतिशत अतिकर देना होता है।

आय-कर और अति-कर दोनों पर अधिकर लगता है। अति-कर और आय-कर का एक निश्चित प्रतिशत इस रूप में वसूला जाता है। कुल कर-दायित्व अधि-कर सम्मिलित करके निकाला जाता है। आय-कर पर अधि-कर लगाने का क्रम कुछ निश्चित सीमाओं के बाद होता है: १९५९-६० वित्त वर्ष में संयुक्त हिन्दू परिवार के लिए १५०००रु० से अधिक वार्षिक आय, और किसी व्यक्ति के सम्बन्ध मे ७५०० रुपये से अधिक आय होने पर ही अधि-कर लगता है।

क्रमिकता की समस्या

आय के सम्बन्ध में लागू दरों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि किसी कर-दाता पर पड़ने वाले कर-भार के निश्चयन में शुद्ध आय को ही आधार माना जाता है। कुल आय को करदेय शुद्ध आय के रूप मे लाने में निम्नलिखित तरीके अपनाये जाते हैं:—

कर की दरों में क्रमवर्द्धता लाना, कराधान-शिला-पद्धति का प्रयोग प्रारम्भ कराना, छूट की सीमायें निश्चित करना, उपार्जित और अनुपार्जित आयो मे विभेद, संयुक्त हिन्दू परिवारों के संबंध में कर-दर निश्चित करते समय विशेष सावधानी करना।

१८८६ के आय-कर-अधिनियम के अन्तर्गत चार स्रोतों से सुलभ होने वाले आयों पर ही कर लगता था। ये वेतन, प्रतिभूतियों पर व्याज, व्यावसायिक लाभ तथा अन्य स्रोतों से सुलभ होने वाली आयें थी। १९१६ से पूर्व आय-कर की दरो में क्रम-वर्द्धता का समावेश नाम-मात्र था। २००० रुपये से अधिक कुल आय पर ५ पाई प्रति रुपये के हिसाब से कर लगता था। प्रथम महायुद्ध के कारण उत्पन्न वित्तीय कठिनाई के अन्तर्गत १९१६ में वस्तुतः क्रमवर्द्धता का प्रयोग प्रारम्भ हुआ।

आय के आठ विभिन्न वर्ग बनाये गये और प्रत्येक वर्ग के लिए अलग-अलग दरें निश्चित की गयी। दोनों महायुद्धों के बीच की अवधि में सरकार की वित्तीय आवश्यकताओं के अनुसार कर की दरों में परिवर्तन होता रहा।

१९३६ में आय-कर-जांच समिति की संस्तुतियों के परिणाम स्वरूप कराधान की सोपान पद्धति को हटा कर उसके स्थान पर कराधान की शिला-पद्धति का प्रयोग १९३९ में प्रारम्भ किया गया। शिला-पद्धति के प्रयोग से आय-कर में बहुत कुछ समत्व आ गया और शुद्ध-आय के अभिप्राय में भी पर्याप्त व्यापकता आयी।

१९३९ से अब तक आय-कर और अति-कर की दरो में अनेक बार परिवर्तन किये गये। उसी वर्ष कर-योग्य आय के प्रथम १५०० रुपये पर कर छूट की व्यवस्था प्रारम्भ की गयी। आय-शिलायें १९३९ से अब तक मूलतः अपरिवर्तित रही हैं। केवल विवाहित और अविवाहित व्यक्तियों तथा २०,००० रुपये से कम अथवा अधिक आय वाले सयुक्त हिन्दू परिवारों में भेद करने के लिए प्रथम दो शिलाओं में कुछ परिवर्तन किए गये है । लेकिन अति-कर सबंधी कर-शिलायें तथा कर-दरें दोनो बहुत परिवर्तित होती रही है।

निचली आय वाले वर्ग पर कम कर-भार रखने के लिए भारतीय आय-कर-व्यवस्था मे प्रारम्भ से ही कुछ सीमा तक आय को कराधान से मुक्त रखा गया है। १९२२ से १९४७ तक २००० रुपये से कम वार्षिक आय पर कर नही लगता रहा। १९४७ से इस छूट की सीमा मे लगातार वृद्धि होती रही। १९५६ तक ४२०० रुपये वार्षिक तक की आय व्यक्तियो के लिए तथा ८४०० रुपये तक की आय सयुक्त हिन्दू परिवारो के लिए कर-मुक्त थी। १९५७ मे कर-मुक्त आय को घटा कर ३००० रुपये (विवाहित व्यक्ति के लिए) और ६००० रुपये (संयुक्त हिन्दू परिवार के लिए) कर दिया गया।

आय-कर संबंधी छूट की व्यवस्था आय-कर-भार को ठीक रखने के लिए की गयी है। इनसे बचत और विनियोग बढ़ाने का प्रोत्साहन मिलता है। १८८६ से ही करदाता के अपने जीवन तथा अपनी स्त्री के जीवन पर कराये गये जीवन बीमा की किस्त पर कर-छूट दी जाती है। इसी प्रकार १९१८ से प्राविडेंट फंड के लिए कटने वाली आय पर भी कर-छूट की व्यवस्था है। चालू वित्त वर्ष (१९५९-६०) मे प्राविडेन्ट फण्ड और बीमा-किश्त दोनों को मिलाकर कुल आय की चौथाई राशि अथवा ८००० रुपये तक, जो भी कम हो, छूट दी जाती है। संयुक्त हिन्दू

परिवार के लिए छूट की यह सीमा राशि में दुगुनी (अर्थात् १६,०००) रुपये तक है।

उपार्जित और अनुपार्जित आय के विभेद के आधार पर भी कर-दायित्व में अन्तर हो जाता है। १९४५ से ही उपार्जित आय का एक निश्चित अनुपात अथवा एक नियत राशि, दोनो मे जो भी कम हो, आय कर से मुक्त रही है। १९५५-५६ वित्त वर्ष मे यह कर-मुक्ति कुल उपार्जित आय के पांचवें भाग अथवा ४००० रुपये तक, जो भी कम हो, सीमित थी। १९५६-५७ वित्त वर्ष में उपार्जित आय संबंधी कर-मुक्ति मे वेतन सबंधी आय को अन्य उपार्जित आय से भिन्न मानने का क्रम अपनाया गया। वेतन के पांचवे भाग को ४००० रुपये तक कर मे मुक्त रखा गया। अन्य उपार्जित आय पर यदि वह २५,००० रुपये तक है तो ४००० रुपये कर-मुक्ति दी जाती थी। २५,००० रुपये से जितनी अधिक अन्य उपार्जित आय होती थी उसका पांचवा भाग कर-मुक्ति की उच्चतम सीमा ४००० रुपये मे से घटा दिया जाता था। किसी भी परिस्थिति मे उपार्जित आय पर ४००० रुपये से अधिक कर-मुक्ति नही दी जाती थी। १९५७-५८ वित्त-वर्ष मे वेतन और अन्य उपार्जित आय के भेद को समाप्त करके सभी उपार्जित आय पर २५,००० रुपये तक कुल उपार्जित आय के पाचवे भाग अथवा ४००० रुपये, जो भी कम हो, की कर-मुक्ति दी जाती थी। उस अधिकता के पांचवे भाग मे कर-मुक्ति की उच्चतम सीमा, ४००० रुपये को कम कर दिया जाता था। इस प्रकार ४५,००० रुपये अथवा अधिक उपार्जित आय पर उपार्जन सम्बन्धी कर-मुक्ति पूर्णतः समाप्त कर दी गयी। १९५८-५९ मे उपार्जित आय के निश्चित अनुपात अथवा ४००० रुपया, जो भी कम हो, की कर-मुक्त सीमा को हटा दिया गया। केवल कर-गणना मे उपार्जित तथा अनुपार्जित आयो का भेद कर दिया जाता है। उपार्जित आयो को प्रारम्भिक आय-शिलाओ तथा अनुपार्जित आयो को बादवाली शिलाओ के अन्तर्गत कराहित करते है। इस प्रकार कर-देय आय की सामान्य छूट उपार्जित आय की छूट हो जाती है जो विवाहित व्यक्ति अथवा २०,००० रुपये से कम वार्षिक आय रखने वाले सयुक्त हिन्दू परिवार के लिए ३००० रुपये है, एक आश्रित बच्चा अथवा नाबालिग आश्रित पट्टीदार होने पर ३३०० रुपये तथा एक से अधिक होने पर ३६०० रुपये है। अतिरिक्त-कर-गणना मे भी इसी प्रकार छूट मिलती है। अति-कर तथा तत्संबन्धी अतिरिक्त कर की गणना में उपार्जित आय पर छूट इसी क्रम से दी जाती है।

कुछ देशों, विशेषतः संयुक्त राज्य अमेरिका में धार्मिक, सामाजिक, अथवा अन्य दातव्य उद्देश्यों से दिये हुए ऐच्छिक दानों के लिए छूट दी जाती है। भारतीय आय-कर-विधान के अन्तर्गत २५० रुपये से लेकर १,००,००० रुपये तक किसी दातव्य उद्देश्य से स्थापित संस्था अथवा कोष को दिए हुए दान पर कर-छूट मिलती है। लेकिन छूट दिये जाने वाले दान की मात्रा किसी भी परिस्थिति में करदाता की कुल आय के पांचवें भाग से जिसमें से विधान के अन्तर्गत सुलभ अन्य छूटों को निकाल दिया गया है अधिक नही हो सकती।

इन विविध छूटों मे कर-दायित्व और कर-दर दोनों को करदाता के पक्ष में प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है। कुछ विशेष क्रियाओं को इनसे प्रोत्साहन भी मिलता है। लेकिन अभी तक ऐसा ठोस क्रम नही स्थापित हो सका जिससे कर-दाता की घरेलू परिस्थितियों का साम्य उसके कर-दायित्व से हो सके। पिछले कुछ वर्षों से अविवाहितो अथवा बिना बच्चों वाले विवाहितो की तुलना में विवाहितो अथवा आश्रित बच्चो वाले कर-दाताओं को कर-मुक्त आय की सीमा बढा दी गयी है। इन नयी व्यवस्थाओं के होने पर भी भारतीय परिवारों के अन्य उत्तरदायित्वों के अनुरूप कर-दायित्व मे परिवर्तन सम्भव नही हो सका है।

अधिलाभ-कर

भारत मे अधिलाभ-कर लगाने का क्रम पहली बार १९१९ में प्रारम्भ किया गया। प्रथम युद्धकालीन परिस्थितियो में व्यावसायिक संस्थाये असाधारण लाभ कमाती थी। उसी पर कर लगाने के लिए एक वर्ष के लिए अधिलाभ-कर का प्रयोग हुआ। द्वितीय युद्धकाल मे १ सितम्बर, १९४० से इसका पुन. प्रारम्भ हुआ। ३१ मार्च, १९४६ तक यह प्रचलित रहा। १ अप्रैल, १९४६ से इसके स्थान पर व्यावसायिक लाभ-कर लगाया जाने लगा। इन ५ वर्षों की अवधि मे यह लगभग सभी व्यवसायो और पेशो के लाभ पर लगाया जाता था। केवल निम्नलिखित व्यवसायो और पेशो के लाभो पर यह नहीं लगता था—

१. जीवन-बीमा व्यवसाय,

२. वे पेशे जिनमे लाभार्जन वैयक्तिक योग्यता पर आधारित होते थे,

३. वे लाभ जिन पर प्रेषण के आधार पर कर लगता था, और

४. ३१ मार्च, १९४२ के पश्चात् देशी रियासतों में होने वाले लाभ। अधिलाभ-कर लगाने का क्रम इस प्रकार था:—

इस कर की अवधि में पड़ने वाले प्रत्येक खाता-वर्ष का प्रामाणिक लाभ निकाला जाता था। १ सितम्बर, १९४० से ३१ मार्च १९४१ तक प्रामाणिक लाभ से अधिक लाभ पर ५० प्रतिशत कर लगता था। १ अप्रैल, १९४१ से ३१ मार्च, १९४६ तक अधि-लाभ पर ६६ प्रतिशत कर लगता रहा। नीचे दी हुई तालिका में १९४०-४१ से १९४५-४६ तक की अवधि में अधि-लाभ-कर की मांग और वसूली स्पष्ट की गयी है।

लाख रुपयों मे

वर्ष निम्नांकित तिथि को समाप्त होने वाले,	अधिलाभ पर लगानेवाले कर की मात्रा	वर्ष में हुई वसूली
३१–३–४१	५६	५४
३१–३–४२	९२२	७८५
३१–३–४३	२६२१	२०७८
३१–३–४४	६००७	६०३०
३१–३–४५	११४००	१०२१५
३१–३–४६	१०१३४	८८३१

व्यावसायिक लाभ-कर

३१ मार्च, १९४६ को अधिलाभ-कर समाप्त कर दिया गया। उसी वर्ष की पहली अप्रैल से व्यावसायिक-लाभ-कर लगने लगा। इसे ३१ मार्च, १९४९ तक मुद्रा-स्फीति रोकने के साधन-रूप मे प्रयोग मे लाया गया। इसे लगाने की विधि और क्षेत्र लगभग वे ही रहे जो अधिलाभ-कर के लिए थे। प्रामाणिक लाभ से अधिक लाभ पर कर लगता था। लाभ के कर न लगने वाले अश को 'छूट' कहते थे। कम्पनियों के लिए कार्यशील पूंजी पर ६ प्रतिशत छूट की रकम थी जिसकी उच्चतम सीमा ३१ मार्च, १९४७ तक १ लाख रुपये थी। १ अप्रैल १९४७ से उच्चतम सीमा २ लाख रुपये कर दी गयी। इस कर की दर ३१ मार्च, १९४७ तक १६$\frac{2}{3}$ प्रतिशत थी। उसके बाद से इसे घटा कर १० प्रतिशत कर दिया गया।

पूंजी-लाभ पर आय-कर

भारत में पूंजी-लाभ पर आय-कर पहली बार १९४६ में लागू किया गया।

इसे १ अप्रैल १९५० तक प्रचलन में रखा गया। इसमें कराधान की शिला-पद्धति प्रयुक्त रही। १५,००० रुपये से कम लाभ पर कर नहीं लगता था। १०,००,००० रुपये से अधिक पूंजी-लाभ पर ५ आने प्रति रुपये की उच्चतम-दर लागू होती थी। इससे प्रतिवर्ष लगभग एक करोड़ रुपयों की प्राप्ति होती रही। १ अप्रैल, १९५६ से पूँजी-लाभ को फिर से प्रारम्भ किया गया। ३१ मार्च, १९५६ के बाद पूंजी सम्पत्तियों के विक्रय, विनिमय, हस्तांतरण अथवा परित्याग से जो भी लाभ होता है, उस पर कर लगता है। यह अन्य आयों के साथ जुट कर आय कर का आधार बनता है। कम्पनियों को सुलभ होने वाले पूंजी-लाभ पर आय-कर लगता है, लेकिन अतिकर नहीं लगता। अन्य करदाताओं के सम्बन्ध में भी पूंजी-लाभ पर अतिकर नहीं लगता। आय-कर भी निम्नलिखित विशेष ढंग पर लगता है:—

कुल पूंजी-लाभ का तिहाई अन्य आयों में जोड़ दिया जाता है। उस आधार पर आय-कर की दर निश्चित की जाती है, यही दर सम्पूर्ण पूंजी-लाभ पर लागू होती है। लेकिन पूंजी-लाभ पर लगने वाला कुल कर किसी भी हालत में उस रकम के आधे से अधिक नहीं होगा, जितने से पूंजी-लाभ ५००० रुपये से अधिक होगा। यदि पूंजी-लाभ ५००० रुपये से कम है अथवा पूंजी-लाभ के साथ अन्य सभी आय १०,००० रुपये से कम है तो आय-कर नही लगता। अन्य आयों पर दिये जाने वाले कर (आयकर और अतिकर) पूंजी-लाभ को निकालने के बाद शेष कुल आय के आधार पर निकाला जाता है।

आयकर-प्राप्तियाँ

आयकर की शुद्ध वसूली प्रारम्भ मे बहुत कम रही। १९१५ तक यह २ करोड़ रुपये के आसपास ही सीमित थी। लेकिन १९१६ से क्रमवर्द्धता का प्रारम्भ होने, कुल आय के अभिप्राय में परिवर्तन आने तथा अतिकर लगाये जाने से शुद्ध प्राप्ति १९१९-२० तक लगभग २२ करोड़ रुपये हो गयी। १९३०-३९ की अवधि में शुद्ध प्राप्ति १५ से १८ करोड़ रुपयों के बीच होती रही। १९३९ मे आय-कर-विधान मे संशोधन होने तथा कराधान की शिलापद्धति का प्रारम्भ किये जाने से शुद्ध प्राप्ति १९४०-४१ में २६ करोड़ रुपये हो गई। द्वितीय महायुद्ध काल में आय-कर की शुद्ध प्राप्ति में अपूर्व वृद्धि हुई। १९४४-४५ में यह राशि बढ़ कर १९१.३ करोड़ रुपये हो गयी। नीचे दी गयी तालिका में आय-कर की शुद्ध प्राप्तियों का उल्लेख है:—

वर्ष	आयकर और अतिकर की शुद्ध प्राप्तियां
१९४८-४९	१८३
१९४९-५०	१६०
१९५०-५१	१७३
१९५१-५२	१८८
१९५२-५३	१८५
१९५३-५४	१६३
१९५४-५५	१६०
१९५५-५६	१६८
१९५६-५७	१८९
१९५७-५८	२०८ (संशोधित बजट के अनुसार)

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि पिछले कुछ वर्षों से आय-कर की शुद्ध-प्राप्तियां बढ़ रही हैं। यद्यपि १९५३-५४ में कुछ गिराव हुआ। लेकिन १९५५-५६ से पुनः बढ़ने की प्रवृत्ति देखी जाती है। इस वृद्धि में आय-कर-प्रशासन की कुशलता तथा अपूर्व आर्थिक विकास के कारण कर-देय-क्षमता मे वृद्धि का विशेष योग रहा है।

आय-कर से होने वाली शुद्ध-प्राप्ति के परिवर्तन के साथ ही करदाताओ की संख्या और करदेय आय की मात्रा मे भी परिवर्तन हुए है। १९०४-५ मे, जबकि कर-छूट की सीमा १००० रुपये थी, करदाताओ की सख्या २,४३,००० थी। १९२२-२३ में कर-छूट की सीमा २,००० कर देने पर भी करदाताओं की सख्या २,७३,-३११ रही। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ के ठीक पूर्व १९३९ मे २,८५,९४० आय-कर-दाता थे। युद्ध प्रारम्भ होने के बाद युद्ध सम्बन्धी तैयारियों पर व्यय बढ़ने और परिणामस्वरूप मुद्रा-स्फीति फैलने से आय-कर-दाताओ की सख्या में अपूर्व वृद्धि हुई। १९४६-४७ में कुल कर-दाता ४,४७,४८४ हो गये। १९४८-४९ से करदाताओं की सख्या बढ़ती रही है। १९५२-५३ मे इनकी संख्या ९ लाख के लगभग थी।

कराहित आय की मात्रा में भी करदाताओं की संख्या की भांति वृद्धि हुई

है। १८८६-८७ में कराहित आय ३३ करोड़ रुपये थी। १९२२-२३ में यही बढ़ कर २३६ करोड़ रुपये हो गयी। १९३७-३८ में कराहित आय १७४ करोड़ रुपये रही। यह कमी मुद्रा-अवस्फीति के परिणामस्वरूप रही है। लेकिन द्वितीय युद्ध के पश्चात् से कराहित आय की मात्रा बढ़ती रही है। १९४६-४७ मे कराहित आय की राशि ४८३ करोड़ रुपये थी। १९५२-५३ में यह ७१० करोड़ रुपये हो गयी।

कर-वंचन की समस्या

आय-कर की शुद्ध-प्राप्ति सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय की तुलना में बहुत ही कम है। इसका कारण देश की आर्थिक विपन्नता के साथ कर-टाल अथवा कर-वंचन भी है। इससे कुल राजस्व की कितनी क्षति होती है यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। छिपे आयकर-दायित्व को प्रकट करने का जो आन्दोलन केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रारम्भ किया गया उससे प्राप्त सूचनाओ से स्पष्ट हुआ है कि पहले कर-दायित्व के सम्बन्ध मे जितनी सूचनाये मिली थी उनसे लगभग ५० प्रतिशत अधिक सूचनाये आन्दोलन के क्रम मे सुलभ हुई। इससे ज्ञात होता है कि कुल कर-दायित्व का लगभग ६० प्रतिशत गुप्त रह जाता है।

इतने बड़े पैमाने पर कर-वंचन होने से कर लगाने का उद्देश्य पूरा होना कठिन हो जाता है। ईमानदार करदाताओ पर अधिक कर-भार पड़ता है और कर-दायित्व छिपाने वाले लोग आसानी से मुक्त हो जाते है। आय-कर से सुलभ होने वाली प्राप्तियों मे कमी होने से सरकार को अन्य स्रोतों से राजस्व बढ़ाने का प्रयास करना पड़ता है। इस असुविधा को दूर करने तथा आय-कर से उचित प्राप्ति सुलभ कराने के लिए कर-वचन रोकना अनिवार्य है। इसके लिए कराधान-जांच आयोग (१९५३-५४) ने नीचे लिखे कुछ विशेष सुझाव दिये थे।

आयकर-प्रशासन को इस प्रकार सुगठित किया जाय कि नये कर-दाताओं का पता आसानी से चल जाय और पुराने कर-दाताओ से प्राप्त आय-सम्बन्धी जांच भी हो सके। इसके लिए बाह्य सर्वेक्षण, पुराने करदाताओं के सम्बन्ध मे सुलभ सूचनाओ को अदल-बदल करके तथा बाहरी स्रोतों से उचित सूचनाये एकत्र कर वास्तविक स्थिति जांची जा सकती है। बड़ी मात्रा मे होने वाली कर-वचना को रोकने के लिए विशेष प्रबन्ध किया जाय। आयकर-अधिनियम की धारा ३४ के अन्तर्गत पिछली अवधियों से सम्बन्धित आय पर कर लगाने का वैधानिक प्रबन्ध हो ताकि जिस भी आय की सूचना बाद में मिले उस पर कर लग सके। कर-वंचकों की

खुली भर्त्सना की जाय। आय-कर-वसूली में पूर्ण तत्परता दिखाई जाय। छिपी आय को प्रकट करने की सुविधा दी जाय।

इन सुझाओं को बहुत कुछ व्यवहार में लाया जा रहा है। धन-कर और व्यय-कर के लागू होने से आय-कर विधान का प्रशासन बहुत सुगम हो गया है। तीनों एक दूसरे के पूरक बन ग ं हैं। इससे आय-करदाताओं की आय निश्चित करने तथा उन पर आय-कर लगाने में विशेष सुविधायें हो गयी हैं।

आय-कर-भार

आय-कर के विभिन्न पहलुओं में कर-भार का विश्लेषण का भी महत्वपूर्ण स्थान है। सामान्य जनता का इसके इसी पक्ष से विशेषतः संबंध होता है। इसमें होने वाले प्रत्येक परिवर्तन इसी दृष्टि से आंके भी जाते है। कुछ लोगो का यह कहना है कि भारत में आय-कर-भार अन्य विकसित देशो की तुलना में बहुत अधिक है और संयुक्त राज्य तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे बच्चों तथा पत्नी जैसे आश्रितो के लिए बहुत सी ऐसी छूटें दी जाती है जो भारत में प्रचलित नही है।

लेकिन विभिन्न देशों में प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ने वाले आय-कर-भार का अनुमान केवल कर-मात्रा से नहीं किया जा सकता। प्रत्येक देश मे आय-कर-दायित्व निश्चित करने की अलग नीतियाँ होती हैं। करदेय-आय के स्रोत समान नहीं होते। इस सम्बन्ध मे पहले यह निश्चित कर लेना चाहिए कि व्यक्ति की कुल आय के प्रमुख स्रोत क्या हो सकते है और कर के लिए उनमे से प्रत्येक के प्रति उन देशो मे कैसा रुख अपनाया जाता है। जिस देश में लगभग सभी स्रोतो से उत्पन्न होने वाली आय पर कर लगेगा वहां कर-भार उस देश की तुलना मे जहा कुछ स्रोतों से होने वाली आय पर ही कर लगता है अधिक होगा।

कृषि से होने वाली आय पर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, यू०के०, केनाडा मे आय-कर लगता है लेकिन भारत में ऐसी आय कर-मुक्त होती है। पूंजी लाभ पर भी १९५६ के पूर्व तक कर नही लगता था। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे यह कर-मुक्त नही है।

संयुक्त राज्य (ब्रिटेन) में भी केवल विशेष परिस्थितियों में पूजीलाभ पर कर नहीं लगता। कैनाडा में सम्पत्तियों की बिक्री से होने वाले पूजी-लाभ पर कर लगाया जाता है। इसी प्रकार किसी नौकरी के छूटने पर जो हर्जाना की रकम मिलती है वह भी संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और कैनाडा मे कर-मुक्त नहीं होती।

भारत में द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् से और विशेषत: विकासवादी योजनाओं का संचालन प्रारम्भ करने के बाद से नव यंत्र-स्थापन तथा भवन-निर्माण के लिए आय-कर संबंधी विशेष छूटें दी गयी हैं। इन विविध छूटों की दृष्टि से भारत के आय-कर का भार अन्य विकसित देशों के भार की तुलना में बहुत सीमित है।

इसके अतिरिक्त आय की निम्नतम तथा शिलाओं पर लागू दर की दृष्टि से भी भारत मे बहुत अधिक कर-भार नहीं माना जा सकता। नीचे दी गयी तालिका के आंकड़े इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं:-

देश और वर्ष	आय की न्यूनतम शिला	दर प्रतिशत	आय की उच्चतम शिला	दर प्रतिशत
भारत (१९५२-५३)	५००० रु० तक	४.९	१,५०,००० से अधिक	८२
ब्राजील (१९५१-५२)	१५५४४ ,,	३	७,७७,२०० ,,	५०
मिश्र (१९५१-५२)	२०६२५ ,,	८	६,९७,५०० ,,	७०
फ्रांस (१९५१-५२)	२७५९ ,,	९	८२,७५० ,,	७८
स्वीडन (१९५१-५२)	९२६ ,,	१०	१,८५,१८५ ,,	७०
यू० के० (१९५२-५३)	१३३० ,,	१५	२,००,००० ,,	९७.५
कैनाडा (१९५०-५१)	४५८० ,,	१५	१८,३२,००० ,,	८०
स० रा० अमेरिका (१९५१-५२)	९५४० ,,	२०	९,५४,००० ,,	९१

कृषि आय-कर

केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रशासित आय-कर में कृषि आय पर कर न लगाने की प्रथा प्रचलित है। जब से भारत में आय-कर लगाने का क्रम प्रारम्भ हुआ केवल दो बार केन्द्रीय आय-कर को कृषि आय पर लागू किया गया। पहली बार प्रारम्भ

में ही १८६० से १८६५ तक इसे लागू रखा गया। दूसरी बार १८६९ से १८७३ तक कृषि-आय पर कर लगाया जाता रहा। उसके बाद से अब तक केन्द्रीय आय-कर में इसे सम्मिलित नहीं किया जा सका है। लेकिन इस सम्बन्ध में अनेक विवाद समय-समय पर उठते रहे है। १९२५ की भारतीय कराधान-जाँच समिति ने इसे कराहित करने की सिफारिश की थी। उनका यह विचार था कि किसी भी सैद्धान्तिक अथवा ऐतिहासिक आधार पर कृषि से उत्पन्न होने वाली आय को करमुक्त रखना उचित नहीं। इसे करदाता की अन्य आय पर लगने वाले कर की दर स्थिर करने के लिए उसकी कुल आय में जोड़ना आवश्यक है। यद्यपि इस सस्तुति को देते समय समिति इससे सम्बन्धित प्रशासनिक कठिनाई से परिचित रही और उस ओर संकेत करते हुए उसने यह स्पष्ट कर दिया था कि जहां तक प्रशासन की दृष्टि से सम्भव हो कृषि-आय को कर-देय आय मे सम्मिलित किया जाय।

समिति के इन सुझावों को १९३५ तक कोई सक्रिय रूप नही दिया जा सका। भारत सरकार १९३५ के अधिनियम के अनुसार प्रान्तीय स्वायत्त शासन का प्रयोग १९३७ में प्रारम्भ होने के साथ ही कृषि-आय पर कर लगाने का अधिकार प्रान्तों को पहली बार दिया गया।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत भी आय-कर को दो कोटियो मे विभक्त किया गया है—एक कृषि-आय के अतिरिक्त अन्य स्रोतो से होने वाली आय पर आय-कर, दूसरे कृषि आय-कर। कृषि के अतिरिक्त अन्य स्रोतो से होने वाली आय पर कर लगाने का भार केन्द्रीय सरकार पर छोड़ा गया, लेकिन उससे होने वाली शुद्ध-प्राप्ति को राज्य सरकारों और केन्द्र मे वितरित करने का क्रम अपनाया गया। कृषि आय पर कर लगाने और वसूलने और उससे होने वाली शुद्ध-प्राप्ति को रखने का अधिकार राज्य सरकारों को दिया गया है।

राज्यों द्वारा कृषि-आयकर लगाने का क्रम सबसे पहले विहार मे प्रारम्भ किया गया। इसके बाद धीरे-धीरे अन्य राज्यों मे भी कृपि-आय कर सम्बन्धी विधान बनाया गया। भूधृति और बन्दोबस्त के अनुसार अलग-अलग राज्यो मे लागू किये गये विधानों मे अन्तर रहा है। स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्र बगाल, बिहार, और उड़ीसा में आय-कर से होने वाली प्राप्ति कम थी; क्योंकि स्थायी बन्दोबस्त के कारण राजस्व की मात्रा नियत थी। मद्रास मे केवल बगान से होने वाली आय को ही कराहित किया गया। हैदराबाद तथा ट्रावनकोर कोचीन में भारत में उनके विलयन के पूर्व अन्य आयों के साथ कृषि-आय पर भी कर लगता था।

नीचे दी गई तालिका से यह स्पष्ट विदित होगा कि किस राज्य में किस समय से कृषि-आय-कर से कितनी प्राप्तियां होती रही है।

राज्य पुनर्गठन के पूर्व की स्थिति

राज्यों के नाम	१९४०-४१	१९४५-४६	१९५०-५१	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५
बिहार	१५	३१	६९	५७	४६	३५	२२
आसाम	३९	४९	७९	९१	१०८	८९	६९
प० बगाल	—	—	६३	६४	६१	६३	६४
उड़ीसा	—	—	१०	१३	—	८	८
उत्तर प्रदेश	—	—	१३८	१००	७१	५८	३६
हैदराबाद	—	—	—	११	३	५	५
ट्रावन्कोर कोचीन	—	—	५०	९९	९६	९०	९०
मद्रास	—	—	—	—	—	—	—
राजस्थान	—	—	—	—	—	—	१५
भोपाल	—	—	—	—	—	—	२
विध्य प्रदेश	—	—	—	—	१	१	३

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राज्यों की आय के साधन रूप में कृषि-आयकर भारत मे पर्याप्त व्यापक हो गया है। अब यहीं कृषि-आय के उस रूप को समझ लेना चाहिए जिस पर कर लगता है।

कृषि-आय का रूप

हमारे सविधान के अनुच्छेद ३६६ के अन्तर्गत कृषि-आय के सबंध में आय-कर अधिनियम मे वर्णित परिभाषा का सकेत किया गया है। भारतीय आय-कर अधिनियम (१९२२) की धारा २ (२) के अनुसार कृषिआय में निम्नलिखित आते है—

(अ) ऐसी भूमि से प्राप्त किराया या राजस्व जो कृषि कार्य के लिए व्यवहृत

हो और जिस पर या तो मालगुजारी लगती हो या स्थानीय कर तत्सम्बन्धी अधिकारियों द्वारा लगाया और वसूला जाता हो।

(ब) इस प्रकार की भूमि से निम्नांकित क्रम में जो भी आय हो कृषि-आय कहलायेगी :—

(१) कृषि से होनेवाली आय, अथवा (२) कृषक द्वारा अथवा वस्तु में मालगुजारी पाने वाले द्वारा उपज को बाजार में बेचने योग्य बनाने के लिए जो कार्य किया जाय, उससे प्राप्त आमदनी अथवा; (३) कृषक या वस्तु में मालगुजारी पाने वाले व्यक्ति द्वारा उपजायी अथवा प्राप्त की गयी वस्तु के विक्रय से जो आय हो। इस उपज के सम्बन्ध में कोई ऐसी प्रक्रिया न अपनायी गयी हो जो इस खंड के दूसरे भाग में बतायी प्रक्रिया के अतिरिक्त हो।

(स) किसी मकान से उत्पन्न होने वाली आय जिसका स्वामित्व और कब्जा उस भूमि की मालगुजारी प्राप्त करने वाले व्यक्ति अथवा उसके कृषक अथवा वस्तुओं में मालगुजारी पाने वाले व्यक्ति का हो। लेकिन वह मकान कृषि-भूमि पर ही हो अथवा उससे बहुत ही निकट हो और उसमें कृषक अथवा मालगुजारी पाने वाला रहता हो अथवा उसे अपने गोदाम या बाहरी गृह के रूप में इस्तेमाल करता हो।

आय-कर-विधान में दिये गये कृषि आय के रूप की और स्पष्ट व्याख्या कानूनी निर्णयों से हुई है, क्योंकि इससे सदेहास्पद तथ्यों का स्पष्टीकरण विशेष रूप से हो सका है और निम्नलिखित आयों को भी कृषि-आय माना जाने लगा है :—

१. चरागाह को लगान पर उठाने से होने वाली आय, यदि चरागाह में केवल कृषि से सम्बन्धित पशु ही चराये जाते हो।

२. भोग बन्धक के अन्तर्गत बंधक-दाता से बन्धकग्राही को जो भी भुगतान किया जाय चाहे वह राशि बन्धक के मूलधन अथवा सूद के लिए अपलिखित हो अथवा नहीं।

३. किसी भूमि के मालिक को अपने सभी अधिकारों के समर्पण के बदले जो मालिकाना राशि दी जाय। ऐसी भूमि का प्रयोग चाहे कृषि-कार्य के लिए किया जाय अथवा न किया जाय।

४. बकाया लगान के लिए जो सूद देय होता है उसे भी कृषि-आय मानते हैं यद्यपि यह सूद कृषि-कार्य के लिए भूमि का प्रयोग करने के बदले नही लिया जाता बल्कि भुगतान में विलम्ब होने के कारण लिया जाता है।

कृषि-आय-कर-भार

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कृषि-आयकर का रूप विभिन्न राज्यों में अलग अलग है। इसी कारणवश कर-भार में भी विभिन्नता है। यद्यपि केन्द्रीय आय-कर की भाँति कृषि-आय-कर भी प्रायः गत वर्ष की आय पर लगता है और करदाता व्यक्ति, संयुक्त हिन्दू परिवार, फर्म या कम्पनी होते हैं, फिर भी कर की दरें और छूट की सीमायें भिन्न होती हैं। कुछ राज्यों में कर की दरें स्थायी होती हैं अन्य में प्रतिवर्ष वार्षिक वित्तीय अधिनियमों द्वारा उन्हें निश्चित किया जाता है। इसी प्रकार कर-छूट की सीमा में भी समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। अधिक राजस्व प्राप्त करने के लिए प्रायः छूट की सीमा घटा दी जाती है।

बिहार के कृषि-आय-कर अधिनियम (१९३८) में कर-छूट की सीमा ५००० रुपये थी। न्यूनतम कर की दर ६ पाई प्रति रुपये और उच्चतम दर १५ लाख रुपये से अधिक आय पर ३० पाई प्रति रुपये थी। १९५३-५४ में छूट की सीमा घटा कर ३००० रुपये तथा न्यूनतम और उच्चतम दरों को बढ़ाकर ९ पाइयां प्रति रुपये और ४८ पाइयां प्रति रुपये कर दिया गया। अधिनियम में अधिकर लगाने की भी व्यवस्था रही है। २५००० रुपये से ३५००० रुपये तक की आय पर १ आना प्रति रुपया अधिकर लगता रहा है। १५ लाख रुपये से अधिक आय पर ५ आने ३ पाइयां प्रति रुपये की दर से अधिकर रखा गया है। ट्रावन्कोर-कोचीन में कर-छूट की सीमा प्रारम्भ में २००० रुपये रखी गयी थी लेकिन बाद में उसे ३००० रुपये कर दिया गया था। कर की दरें ९ पाइयां प्रति रुपये से ४ आने प्रति रुपये तक रही। ऊंची दर २५००० रुपये से अधिक आय पर लागू होती रही। ४५००० रुपये से अधिक आय पर अतिकर लगाया जाता था। अतिकर की दरें १½ आने से ६ आने प्रति रुपये तक होती थीं।

बंगाल में कर-छूट की सीमा केवल आय के आधार पर ही नहीं बल्कि जोती भूमि के आधार पर निश्चित होती रही है। छूट की सीमा ३००० रुपये अथवा ८० एकड़ जोती भूमि रही है। हैदराबाद में छूट की सीमा और कर की दरें अन्य सभी राज्यों की अपेक्षा कम रही है। कर-छूट की सीमा १०,००० रुपये थी और कर की दरें ६ पाई प्रति रुपये से ३ आने प्रति रुपये तक थीं।

सभी राज्यों में प्रचलित कृषि-आय-कर शिला-पद्धति पर आधारित है। केन्द्रीय आय-कर की भाँति (१९५६ के पूर्व की स्थिति) १५०० रुपये वाली आय की

प्रथम शिला प्रायः कर से मुक्त रहती थी। केवल उड़ीसा में यह कर-मुक्त प्रथम शिला ३००० रुपये तक थी।

इन उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि राज्यों में प्रचलित कृषि-आय-कर का क्रम गैरकृषि-आय पर लगने वाले कर की व्यवस्था से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। भूमि पट्टा तथा भूमि के बन्दोबस्त सम्बन्धी पद्धतियों में अन्तर होते हुए भी कृषि-आय-कर की व्यवस्था में पायी जाने वाली समानता देखते हुए यह सम्भव-सा प्रतीत होता है कि आगे चलकर सभी आयकरों को एक साथ ही मिला लिया जाय। लेकिन यदि मालगुजारी की पद्धति में विशेष विभिन्नता रही अथवा और लायी गयी तो इस प्रकार का सामंजस्य व्यावहारिक नही होगा। फिर भी, भूमि-व्यवस्था में मध्यस्थों का लोप होने, भूमि के स्वामित्व पर सीमा लगाने तथा सामूहिक खेती का प्रादुर्भाव होने से कृषि-आय-कर का भविष्य बहुत अनिश्चित होता जा रहा है।

अध्याय ५

धन-कर

जैसा कि पिछले अध्याय में बताया गया है, आय-कर आय की वर्तमान असमानता कम करने में सहायक है, लेकिन आय की असमानता के मूल कारणों पर इसका विशेष प्रभाव नही पड़ता। आय-कर सम्बन्धी आँकड़ों से यह स्पष्ट होता है कि देश की कुल जनसंख्या का १ से १·५ प्रतिशत ही आय-कर के अन्तर्गत आता है। शेष लगभग ९९ प्रतिशत जनता प्रतिवर्ष ३,६०० रुपये से भी कम आय पाती है। यदि अति-कर सम्बन्धी आँकड़ों का विश्लेपण किया जाय तो विदित होगा कि सम्पूर्ण देश मे लगभग ६०० ऐसे व्यक्ति है जिनकी आय वर्ष भर में २ लाख रुपये से अधिक है। इन विवरणों से स्पष्ट है कि देश में आय बहुत ही केन्द्रित है। केवल आय-कर द्वारा आय-वितरण मे समानता लाना सम्भव नहीं है। आय के आधार, सम्पत्तियों और पूंजी, के वितरण की असमानता मिटाना आवश्यक है। तभी आय-वितरण की असमानता को स्थायी रूप से मिटाया जा सकना है।

भारत मे समाजवादी सामाजिक ढांचे को लाने के लिये आय-वितरण की असमानता के इस प्रमुख कारण को मिटाने का प्रयास स्वतन्त्रता के बाद से ही प्रारम्भ किया गया है। पहले सम्पदा-कर का प्रारम्भ किया गया जिससे उत्तराधिकारिता के कारण प्राप्त होनेवाली सम्पत्तियों और उनसे सुलभ होने वाले अवसरो की असमानता को धीरे-धीरे घटाया जा सके। लेकिन सम्पदा-कर का प्रभाव लम्बी अवधि के पश्चात् प्रगट होता है। सम्पत्ति-वितरण की असमानता को सीमित अवधि में मिटाया जा सकना केवल इसी विधि से सम्भव नही है। यही कारण है कि सम्पदा-कर लागू करने के कुछ वर्षों बाद ही धन पर वार्षिक कर लगाने का क्रम अपनाया गया। इस अध्याय में धन-कर से सम्बन्धिय सैद्धान्तिक तथ्यो तथा भारत में उसके प्रयोग पर प्रकाश डाला जायगा। विषय की उचित समीक्षा को दृष्टि में रखते हुए विश्लेषण चार खण्डों में विभक्त किया गया है।

पहले खण्ड में समाजवादी सामाजिक ढांचे में धन-कर की वांछनीयता की व्याख्या हुई है। दूसरे खण्ड में धन-कर के सिद्धान्त का विश्लेषण है। तीसरे खण्ड में भारत के धन-कर की प्रमुख विशेषतायें उल्लिखित हैं। चौथे खण्ड मे धन-कर की प्रशासन से सम्बन्धित समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है।

प्रथम खण्ड

समाजवादी ढाँचे में धन-कर की वांछनीयता

समाजवादी सामाजिक ढांचा :—भारतीय गणतन्त्र का आधार संविधान ही समाजवादी समाज स्थापित करने की प्रेरणा देता है। इस के आमुख में इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख है कि भारत की जनता अपने सभी नागरिकों के लिये सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय सुरक्षित करने के लिये प्रयत्नशील रहेगी। नागरिकों के मौलिक अधिकारों के अंतर्गत भी इस बात को दुहराया गया है कि अवसर और पद की समानता राज्य के सभी नागरिकों को दी जायगी। राजनीति के निर्देशक सिद्धान्तों में यह स्पष्ट किया गया है कि हमारे सविधान का प्रमुख उद्देश्य समाजवादी समाज की रचना है। वे सिद्धान्त सरकार पर यह दायित्व लाते हैं कि वह अपनी प्रशासन-नीति इस प्रकार रखे कि नर-नारी सभी नागरिकों को समान रूप से उचित जीविकोपार्जन का साधन पाने का अधिकार हो; समाज के भौतिक साधनों का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार वितरित रहे कि उससे जन-साधारण का अधिक से अधिक हित हो सके, और अर्थ-व्यवस्था का संचालन इस प्रकार हो कि उत्पादन के साधनों और धन का केन्द्रीकरण न हो सके।

देश में आर्थिक आयोजनों का संचालन ऊपर बताये गये सिद्धातों और भावनाओं से ही प्रेरित है। हमारी द्वितीय पंचवर्षीय योजना इसी तथ्य को लेकर प्रारम्भ की गयी कि प्रगति के क्रम व्यक्तिगत लाभों के आधार पर नही, बल्कि सामाजिक उन्नति के अनुसार निश्चित किये जाया करे। आर्थिक विकास से होने वाली सुविधायें अधिक से अधिक ऐसे लोगों को मिलें जिनका स्थान समाज मे अपेक्षाकृत पिछड़ा है। आर्थिक शक्ति, धन और आय का केन्द्रीयकरण उत्तरोत्तर कम किया जाय। इस प्रकार की व्यवस्था उत्पन्न करनी है जिसमें साधारण व्यक्ति को, जिसे अब तक संगठित प्रयास द्वारा सुलभ होनेवाली विकास की अतुल सम्भावनाओं का अनुभव करने तथा उनमें हाथ बंटाने का क्षेत्र बिल्कुल ही न मिलता था,

देश की समृद्धि बढ़ाने और अपने रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने मे यथा-शक्ति प्रयत्न करने का अवसर मिल सके।

इन विवरणों से यह स्पष्ट है कि समाजवादी सामाजिक ढाँचे की रचना के लिये आर्थिक समानता लाना आवश्यक है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि क्या पूर्ण समानता लाना सम्भव है? इस सबंध में बेंथम का यह कथन विचारणीय है कि पूर्ण समानता स्थापित कर सकना काल्पनामात्र है। अधिक से अधिक यही किया जा सकता है कि असमानता को कम से कम रखा जाय। असमानता कम करने में हम लोग कहाँ तक सफल हो सकते है यह राष्ट्र द्वारा इस सम्बन्ध में किये गये प्रयत्नो पर निर्भर है। इतना तो कहा ही जा सकता है कि वर्तमान पीढ़ी में पूर्ण समानता लाना अथवा असमानता को न्यूनतम कर देना कठिन है, लेकिन असमानता कम करने मे हम जितना ही आगे बढ़ते है उतना ही अधिक प्रोत्साहन और अवसर साधारण व्यक्ति को अपनी स्थिति-सुधार के सम्बन्ध मे मिलता जाता है।

असमानता कैसे कम हो?—असमानता कम करने के प्रयत्न के क्रम मे उन कारणो पर विचार करना आवश्यक है जिनसे असमानता उत्पन्न होती और बढ़ती है। कुछ लोगो का यह कहना है कि प्राकृतिक प्रतिभा की असमानता के कारण ही आय की असमानता होती है। लेकिन यदि इस पर विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि जिस प्रकार की आर्थिक असमानता समाज मे देखी जाती है उसका प्रमुख कारण प्राकृतिक प्रतिभा की विभिन्नता नही है। प्रोफेसर डाल्टन ने ठीक ही कहा है कि आय की विषम असमानताये इस कारण होती है कि कुछ लोगो को आय कमाने के अच्छे अवसरो से जीवन प्रारम्भ करने की सुविधा मिलती है। जीवन मे सफलता प्राप्त करने के उचित अवसर साधन-सम्पन्न व्यक्तियों को ही प्राप्त होते है। अनेक प्रतिभावानो की प्रतिभा अवसर के अभाव में कुण्ठित रह जाती है और अपनी आय के साथ-साथ राष्ट्रीय आय बढ़ाने में वे जितना योग दे पाते, नही दे सकते है। इस प्रकार प्रतिभा के वितरण की असमानता से आय की प्रस्तुत असमानता को सम्बद्ध करना भ्रामक है।

पिछड़े देशों में, जहां सम्पत्ति और साधन कुछ अल्प-संख्यकों में ही केन्द्रित होते है, जन-साधारण को प्रगति के अवसरो से प्रायः विमुख रहना पड़ता है। सामाजिक प्रथायें, रूढ़ियां और कानून भी अवसर की असमानता को स्थायी रखने में सहायक रहते है। अविकसित देशों में अवसरों की समानता लाने तथा

आय की असमानत मिटाने के लिये आर्थिक शक्तियों का केन्द्रीयकरण समाप्त करना आवश्यक है।

इस प्रकार यदि असमानता के कारणों को संक्षेप में कहा जाय तो उनकी दो कोटियां हो सकती हैं। एक कोटि में उत्तराधिकार से प्राप्त सम्पत्तियों और वातावरणों से सुलभ होने वाली वे सुविधायें आती हैं, जिनसे आय कमाने की पूरी प्राकृतिक शक्ति का विकास सम्भव है। दूसरी कोटि मे जन्मजात प्रतिभा के वे अन्तर आते हैं जिनसे एक व्यक्ति की आय स्वाभाविक क्रम में दूसरे से भिन्न हो जाती है।

दूसरे प्रकार के कारणों से उत्पन्न होने वाली आय की असमानता सामाजिक प्रगति के लिये आवश्यक है। लेकिन इनकी विशेष विषमताओं को सीमित किया जाना चाहिए। लेकिन दूसरे प्रकार के कारणों को मिटाना आर्थिक असमानता कम करने के लिये आवश्यक है। भारत में समाजवादी सामाजिक ढांचे की रचना तभी सम्भव है जबकि इन कारणों को लगभग समाप्तप्राय कर दिया जाय। इससे राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को आर्थिक प्रगति की समानता सुलभ की जा सकेगी। समाजवादी सामाजिक ढाचे की व्याख्या के क्रम में यह बताया जाता है कि समाज में प्रत्येक बच्चे को पर्याप्त भोजन, कपड़ा, चिकित्सा की व्यवस्था, शिक्षा का प्रबध और अन्य आवश्यक सुविधाओं को देना अनिवार्य है। इसी से आनेवाली पीढ़ी को समान रूप में आगे बढ़ने की परिस्थितियाँ और अवसर सुलभ हो सकेंगे। इससे सभी कार्यकर्त्ताओं को रोजगारी की निश्चितता रहेगी और सभी अपनी शक्ति के अनुसार आय कमाने का क्षेत्र पा सकेंगे। आय कमाने के भौतिक आधारो के वितरण की असमानता भी कम से कम होगी, जिससे आय की असमानता कम हो सकेगी।

उपर्युक्त विवरणो से स्पष्ट है कि समाजवादी सामाजिक ढांचे की रचना के लिए प्रस्तुत और भावी आयों की असमानता कम करना आवश्यक है। यह क्रम करारोपण द्वारा अपनाया जा सकता है तथा सार्वजनिक व्ययो की वृद्धि द्वारा जनता की उत्पादन शक्ति भी बढ़ायी जा सकती है। इन्ही प्रयत्नो से समाजवादी समाज बन सकेगा।

लेकिन इन प्रयासों को सक्रिय रूप देने के क्रम में धन और उत्पादन के साधनों का असमान वितरण समाप्त करना अनिवार्य है। सम्पन्नों से विपन्नों के हाथ सम्पत्ति स्थानान्तरित की जाय। इसके लिये धन-कर का उपयोग वांछनीय ही

नहीं, बल्कि अत्यन्त ही आवश्यक है। भारत-ऐसे देश में, जहां सम्पत्ति का वितरण बहुत ही असमान है और आय बढ़ाने के अवसर कुछ ही लोगों तक सीमित हैं, सम्पत्ति का पुनर्वितरण धन-कर की प्रत्यक्ष विधि द्वारा किया जाना अनिवार्य है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के अंतर्गत समाजवादी समाज स्थापित करने के लिए धन पर वार्षिक कर लगाना अपरिहार्य है। इसके बिना केवल आय-कर और सम्पदा-कर से विकास के उचित अवसर देने वाली सम्पत्तियों मे समान वितरण लाना सीमित अवधि मे सम्भव नहीं है।

द्वितीय खण्ड

धन-कर का सैद्धान्तिक आधार

देश मे सम्पत्ति के वितरण की असमानता मिटाने के लिये प्राय: तीन प्रकार के करो का आश्रय लिया जाता है—पूजी-कर, सम्पदा-कर, और धन पर वार्षिक कर। पूजी-कर या तो विशेष अवसरों पर लगाया जाता है अथवा आवश्यकता के अनुसार इसे कुछ बार दुहरा सकते है। विशेष रूप से उन परिस्थितियों में, जबकि सरकार को किसी बडे दायित्व के भुगतान के लिए अधिक राजस्व की आवश्यकता होती है पूजी-कर लगाया जाता है। युद्धकालीन परिस्थितियो मे जबकि जनता से प्राप्त होने वाले ऋणो की मात्रा बहुत बढ जाती है और मुद्रा-स्फीति से उत्पन्न विशेष आमदनियो के कारण जनता के पास धन की असाधारण मात्रा एकत्र हो जाती है तो उस अतिरिक्त राशि को प्राप्त करके ऋण की अदायगी करने के लिये पूजी-कर का प्रयोग विशेषत किया जाता है। मुद्रा-स्फीति के कुप्रभावो को मिटाने में भी इसका प्रयोग होता है। लेकिन जैसा कि पहले बताया गया है, इसका प्रयोग यदाकदा ही हो सकता है। इसी से भारत की वर्तमान परिस्थितियो मे इसका प्रयोग बहुत उपयुक्त नही माना जा सकता।

सम्पदा-कर का प्रयोग किसी न किसी रूप मे लगभग सभी प्रजातन्त्र देशों में किया जाता है। इसमे मृतक से किसी जीवित व्यक्ति को हस्तातरित होने वाली सम्पत्ति पर कर लगाया जाता है। इसलिये आय-कर की तुलना में इस प्रकार के कर में करदेय-क्षमता का लाभ उठाना अधिक सम्भव है। यह भी माना जाता है कि किसी एक प्रकार के कर से नागरिकों की शक्ति के अनुसार कर वसूलना सम्भव नही है, क्योंकि करदेय-योग्यता केवल आय अथवा पूजी या बचत या व्यय से नहीं

आंकी जा सकती। यही कारण है कि कर-व्यवस्था को ऐसा रखा जाता है जिसमें सभी दृष्टि से निश्चित की जाने वाली करदेय-योग्यता पर कर-भार आधारित किया जा सके। आय-कर के साथ सम्पदा-कर, पूंजी-कर आदि का प्रयोग किया जाता है। सम्पदा-कर किसी व्यक्ति की सम्पत्ति के सम्बन्ध में केवल एक बार लगता है, इसलिये आय-कर का उचित पूरक इसे नहीं माना जा सकता।

सम्पदा-कर और पूजी-कर की इसी सीमा को मिटाने तथा आय के साथ-साथ सम्पत्ति पर प्रतिवर्ष कर लगाने के लिये ही धन-कर का प्रयोग किया जाता है। यह व्यक्ति की सम्पत्ति पर प्रतिवर्ष लगाया जाता है। वार्षिक आय-कर और धन-कर में यही अन्तर है कि धन-कर धन पर लगाया जाता है और आय-कर व्यक्ति की वार्षिक आय पर।

सैद्धान्तिक दृष्टि से आय-कर और धन-कर में यह अन्तर माना जाता है कि आय-कर की अदायगी आय में से, तथा धन-कर की अदायगी सम्पत्ति में से की जाती है। लेकिन व्यवहार में ऐसा अन्तर बहुत कम देखा जाता है। किसी भी व्यक्ति द्वारा आय-कर को धन से और धन-कर को आय से दिया जाना सम्भव है। इससे धन-कर लगाने का उद्देश्य पूरा हो सकना सन्दिग्ध हो जाता है और इसके लगाने के बाद भी धन-वितरण की वर्तमान असमानता जारी रहना बहुत कुछ स्वाभाविक है।

इस सीमा के रहते हुए भी प्रत्यक्ष कर के रूप में धन-कर का बहुत महत्व है। करदेय-योग्यता के अनुसार कर-दायित्व को रखना धन-कर से विशेषत सम्भव है। यों तो प्रत्यक्ष कर कई है और सभी से करदायित्व को करदेय-योग्यता के अनुसार रखने का प्रयास किया जाता है, लेकिन जितनी सफलता इस सम्बन्ध मे धन-कर के प्रयोग से मिलती है उतनी अन्य में नही। धन का स्वामित्व ऐसी सामाजिक और आर्थिक सुविधायें देता है जिनसे व्यक्ति आय कमाने के अवसरों को आसानी से बढ़ा सकता है। अब यह बात साधारणतः मान ली गयी है कि आधुनिक समाज में आय की असमानता का सबसे प्रधान कारण उत्तराधिकार से प्राप्त सम्पत्तियों की असमानता है। जब तक सम्पत्ति की असमानता अधिक से अधिक कम नहीं कर दी जाती, सामाजिक सुरक्षा का व्यापक प्रसार कठिन है। सम्पत्ति की असमानता से ही "पूंजीपति की बचत" (कैपटलिस्ट सरप्लस) उत्पन्न होती है जिससे एक व्यक्ति की आय कमाने की योग्यता अन्य से भिन्न हो जाती है। समाज के समाजवादी ढाँचे की रचना के क्रम में इस पूंजीपतीय बचत को समाप्त करना आवश्यक है। उद्देश्य की इस पूर्ति के लिए ही भारत में धन-कर का प्रयोग आवश्यक समझा गया है।

धन-कर को अन्य प्रत्यक्ष करों, विशेषतः आय-कर की अपेक्षा अधिक महत्व देने का एक और कारण है। कार्य-प्रेरणा और प्रयत्नशीलता पर आय-कर का बड़ा ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। लेकिन चूंकि धन पर लगाया जाने वाला वार्षिक कर, चाहे आय से ही यह क्यों न चुकाया जाय, स्वामी की पहले कमाई हुई आय से अथवा उत्तराधिकार के क्रम में प्राप्त हुई संपत्ति से सम्बन्ध रखता है, इसलिये यह आय कमाने की प्रेरणा पर विपरीत प्रभाव नहीं डालता।

कुछ लोगों का धन-कर के विपक्ष में यह कहना है कि इसमें धीरे-धीरे समाज की पूंजी का उपभोग होने लगता है क्योंकि धन-कर का प्रत्येक भुगतान विनियोग की राशि में कमी लाने का कारण बनता है। लेकिन इस प्रकार की आपत्ति तभी मान्य हो सकती है जब कि सम्पूर्ण समाज में धन-कर के भुगतान वाली राशि के अनुरूप बचत नहीं बढ़ती। ऐसी अर्थ-व्यवस्था मे जहाँ नित्य प्रति सरकारी विनियोग बढ़ रहे हों इस प्रकार की सम्भावना बहुत कम है। सामान्य परिस्थितियों में भी धन-कर के कारण समाज में बचत कम होने का संशय बहुत कम होता है।

इस प्रकार करदेय-योग्यता की दृष्टि से धन-कर को उचित माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, करदाता की भुगतान संबधी अधिमान्यता की दृष्टि से धन-कर के औचित्य की पुष्टि की जा सकती है। कर-दाता सम्पूर्ण कर भी अपनी वार्षिक आय से देना चाहेगा अथवा कुछ आय से और कुछ सम्पत्ति से। दूसरे शब्दो में इसी बात को इस प्रश्न के रूप मे रखा जा सकता है कि क्या कर-दाता अपने कुल कर-दायित्व को आय-कर की ऊची दर के रूप मे बहन करना चाहेगा और अपनी सम्पत्ति सुरक्षित रखना चाहेगा अथवा कर-दायित्व का कुछ हिस्सा अपनी आय में से और कुछ अपनी सम्पत्ति मे से देना चाहेगा ?

इस प्रश्न का उत्तर यदाकदा लगने वाले पूजी-कर तथा जीवन काल में एक ही बार लगने वाले मृत्यु-कर के सम्बन्ध में आसानी से दिया जा सकता है। चूकि ये कर अनिश्चित प्रकार के होते है इसलिये इनकी अदायगी के लिये करदाता अपनी सम्पत्तियां बेच कर ही इनका भुगतान करना चाहेगा। लेकिन धन-कर के सम्बन्ध में वार्षिक नियमितता होने के कारण करदाता इन दोनों क्रमों में चुनाव करना चाहेगा कि वह अपनी सम्पत्ति के मूल्य में क्रमिक घटाव स्वीकार करे अथवा अपनी आय में कमी स्वीकार करके अपनी सम्पत्ति सुरक्षित रखे। धनकर दोनों क्रमों के अन्तर्गत करदाता की संतुष्टि में कमी लाने का कारण बनेगा चाहे आय में कमी आवे अथवा सम्पत्ति में। कर-दाता जिस पैमाने पर करदायित्व के भुग-

तान में इन दोनों प्रकारों से होने वाली संतुष्टि सम्बन्धी क्षतियों को सन्तुलित करना चाहेगा उसी के अनुसार उसकी इस सम्बन्ध की अधिमान्यता निश्चित हो सकेगी। यदि वह अपनी सम्पत्ति के आकार में कमी होने से सन्तुष्टि की क्षति का कम अनुभव करता है तो अपनी संपत्ति से ही कर के अतिरिक्त दायित्व का भुगतान करेगा। इसके विपरीत, यदि उसकी आय अधिक है तो वह कर के अतिरिक्त दायित्व को अपनी सम्पत्ति की अपेक्षा आय से ही चुकायेगा।

धन-कर के सम्बन्ध में करदाता की अधिमान्यता को एक गणितीय उदाहरण से भी स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये करदाता को धन-कर के रूप में एक लाख रुपया चुकाना है। उसे वह या तो अपनी सम्पत्ति में से दे देगा अथवा बैंक से उधार लेकर भुगतान करेगा। बैंक के ऋण पर प्रतिवर्ष नियत दर से सूद वह अपनी आय से चुका सकता है। यदि सूद की दर को तीन प्रतिशत वार्षिक मान ले तो एक लाख रुपये धन-कर की बराबरी सूद के लिए दिये जाने वाले, तीन हजार रुपये से की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, करदाता को एक लाख रुपये धन-कर देने से होने वाली क्षति को उसकी वार्षिक आय में तीन हजार रुपये की क्षति के बराबर माना जा सकता है। अब अगर करदाता यह समझे कि वार्षिक आय में तीन हजार रुपये की कमी होने के कारण सनुष्टि का जितना ह्रास होता है वह सम्पत्ति में एक लाख रुपये की कमी के कारण होने वाली सनुष्टि-क्षति से बहुत अधिक है तो वह अपनी सम्पत्ति को बेचकर ही धन-कर चुकायेगा। इसके विपरीत स्थिति में वह अपनी आय से धन-कर चुकाना चाहेगा।

धन-कर के सम्बन्ध मे स्पष्ट किया गया उपर्युक्त सैद्धान्तिक विश्लेषण लोक-ऋण के सिद्धान्त से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। लोक-ऋण मे सम्बन्धित नीचे दिया हुआ उदाहरण इस समता को पुष्ट करने मे सहायक हो सकेगा।

मान लीजिये किसी समाज मे सरकार एक हजार करोड़ रुपये का असाधारण कर लगाना निश्चित करती है और इस सम्बन्ध मे प्रत्येक नागरिक को दस हजार रुपये देना आवश्यक हो जाता है। अब यह माना जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति कर की बड़ी राशि चुकाने के लिये ऋण लेने तथा ऋण पर सूद की अदायगी अपनी वार्षिक आय से करने का निश्चय करता है और अपनी सम्पत्ति का कोई हिस्सा बेचकर वह कर का भुगतान नहीं करना चाहता। ऐसी परिस्थिति में सरकार यह सोच सकती है कि कर लगाने की अपेक्षा उन व्यक्तियों अथवा व्यक्ति से जो कर देने वाले व्यक्तियों को ऋण देते हैं असाधारण कर की राशि तक ऋण ले

लिया जाय और उन्हें निश्चित दर पर सूद दिया जाय। सूद देने के लिये केवल सूद की राशि तक समाज के सदस्यों से कर लेने का क्रम अपनाया जाय। इससे भारी असाधारण कर लगाने से उत्पन्न जटिलता बहुत कुछ कम की जा सकती है। सरकार के लिये लोक-ऋण पर दिया जाने वाला सूद केवल जमा और नाम करने-मात्र की बात है। इससे प्रत्येक नागरिक को अतिरिक्त कर का विशेष भार नहीं उठाना पड़ेगा। उसे उतना ही कर देना पड़ेगा जितना वह स्वयं बड़ी मात्रा में लगाये जाने वाले कर के सम्बन्ध मे बैंक से लिए हुए ऋण पर सूद के रूप देता।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि धन-कर के सम्बन्ध में नागरिको द्वारा अपनाया गया क्रम सरकार द्वारा उगाहे जाने वाले असाधारण ऋण के क्रम से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। धन पर लगने वाला कर व्यवहार मे करदाता के लिये वार्षिक आय मे कुछ कमी का कारण मात्र बनता है।

तृतीय खण्ड

भारतीय धन-कर की प्रमुख विशेषताएँ

भारत मे धन-कर का प्रारम्भ सन् १९५७-५८ के बजट से किया गया है। उस समय के वित्त-मत्री श्री कृष्णमाचारी ने एक साथ ही दो अपूर्व करों को लगाने का निश्चय इन उद्देश्यों से किया कि भारत की कर-व्यवस्था अधिक विवेकपूर्ण आधारों पर आधारित हो सके, समाज के अधिक से अधिक लोगो पर कर-भार वितरित किया जा सके और कर-वंचन की समस्या सुलझाते हुए अधिक से अधिक राजस्व प्राप्त हो सके। धन-कर और व्यय-कर ये ही दो नये कर प्रारम्भ किये गये।

धन-कर का विश्लेषण नीचे दिये हुए वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

१. शुद्ध धन की गणना जिसके आधार पर धन-कर लगाया जाता है।
२. धन-कर-सम्बन्धी छूटे।
३. धन-कर निर्धारण का क्रम।
४. धन-कर की दरे।
५. धन-कर के सम्बन्ध में किये जाने वाले बचाव पर वैधानिक कार्यवाही।

शुद्ध धन की गणना

किसी भी व्यक्ति के शुद्ध धन की गणना में वे सभी सम्पत्तियां सम्मिलित की जाती हैं जो गणना की तारीख को उसके स्वामित्व में हैं। वे सम्पत्तियां उसके अधिकार में हो सकती हैं अथवा उसकी पत्नी या अवयस्क बच्चों के अधिकार में। लेकिन यदि पत्नी को किसी सम्पत्ति का हस्तांतरण पर्याप्त प्रतिफल के बदले हुआ हो अथवा उसे अलग जीवन-निर्वाह के लिये दिया गया हो तो ऐसी सम्पत्तियों को व्यक्ति के धन में नहीं जोड़ा जायगा। इसी प्रकार यदि किसी विवाहित कन्या को कोई सम्पत्ति हस्तांतरित कर दी गयी हो, अथवा किसी भी बच्चे को पर्याप्त प्रतिफल के बदले सम्पत्ति का हस्तांतरण हो तो उसे भी व्यक्ति के धन में सम्मिलित नहीं किया जायगा।

कभी-कभी अवयस्क बच्चे अथवा पत्नी अथवा अपनी स्वयं सुविधा के लिए कुछ व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का कुछ अंश किसी दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के संघ को हस्तांतरित कर देते हैं। ऐसी सम्पत्तियों को भी उन व्यक्तियों के धन में धन-कर लगाने के लिये जोड़ लिया जाता है।

कुछ लोग खण्डनीय हस्तांतरण द्वारा अपनी कुछ सम्पत्तियां किसी दूसरे व्यक्ति अथवा संघ को दे देते हैं। लेकिन इन सम्पत्तियों को भी धन-कर लगाते समय हस्तान्तरणकर्ता के धन में सम्मिलित कर लेते है।

उपर्युक्त परिस्थितियों में यदि हस्तांतरण के पश्चात् हस्तांतरणकर्ता के धन में जोड़ी जाने वाली हस्तांतरित सम्पत्ति में किसी प्रकार का परिवर्तन कर दिया गया हो तो उस परिवर्तन के कारण उसे छूट नहीं मिल सकती।

यदि कोई व्यक्ति किसी फर्म में साझेदार हो अथवा किसी संघ का सदस्य हो तो उस फर्म अथवा संघ में उस व्यक्ति का जितना हित होता है उसे भी निश्चित करके धन-कर लगने वाले धन में सम्मिलित कर लिया जाता है।

शुद्ध धन के निश्चय के क्रम में सम्मिलित की जाने वाली सम्पत्तियों को मालूम करने के बाद नकद रोकड़ के अतिरित अन्य सभी सम्पत्तियों का मूल्यांकन किया जाता है। मूल्यांकन करने में धन-कर अधिकारी यह अनुमान लगाता है कि यदि खुले बाजार में उस सम्पत्ति को बेचा जाय तो कितना मूल्य प्राप्त हो सकेगा। किसी व्यवसाय की सम्पत्तियों का मूल्यांकन उसके आर्थिक चिट्ठे में दी गई राशियों के आधार पर किया जाता है। मूल्यांकन प्रायः एक निश्चित तिथि के आधार पर किया जाता है। करदाता के आय-कर-निर्धारण-सम्बन्धी "प्रतिवर्ष" की अंतिम

तिथि को मूल्यांकन-तिथि मानते हैं। लेकिन यदि किसी करदाता द्वारा आय के विभिन्न स्रोतों के लिये अलग-अलग "पूर्व वर्ष" हों तो अंतिम "पूर्व वर्ष" की अंतिम तिथि धन-कर-सम्बन्धी मूल्यांकन तिथि मान ली जाती है। मूल्यांकन-विधि सेन्ट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू द्वारा निश्चित नियमों के अनुकूल अपनायी जाती है। कुल सम्पत्ति के मूल्य में से करदाता के उन ऋणों की राशि घटा दी जाती है जो धन-कर अधिनियम के अन्तर्गत मान्य है। गैर-निवासियों के लिये तथा उन निवासियों के लिये जो साधारण नहीं हैं, भारत के बाहर स्थित ऋण को सम्पत्ति के मूल्य से घटाने का अधिकार नहीं होता, इसी प्रकार उन सम्पत्तियों से सम्बन्धित ऋणों को भी शुद्ध धन का मूल्य निकालते समय घटाने का अधिकार नहीं होता, जिन पर धन-कर-सम्बन्धी छूट रहती है।

धन-कर सम्बन्धी-छूटें

कर-देय शुद्ध धन की गणना के सम्बन्ध में उन सम्पत्तियों का उल्लेख आवश्यक है जिनपर धन-कर नहीं लगता। ऐसी सम्पत्तियां निम्नांकित हैं:

१. वह सम्पत्ति जिसे करदाता सार्वजनिक उद्देश्य, जैसे धर्मार्थ अथवा दातव्य कार्य के लिये, किसी ट्रस्ट के अन्तर्गत रखता हो।

२. किसी संयुक्त हिन्दू परिवार का सदस्य होने के नाते सहभागिता वाली सम्पत्ति का हिस्सा।

३. किसी देशी रियासत के शासक के स्वामित्व और अधिकार में रहने वाला वह भवन जिसे केन्द्रीय सरकार ने सन् १९४९ वाले विलीन रियासतों-सम्बन्धी (कर-छूट) आदेश के पैरा १३ अथवा सन् १९५० वाले "बी" वर्ग के राज्यों से सम्बन्धित (कर-छूट) आदेश के पैरा १५ के अन्तर्गत उस शासक के निवास-स्थान के रूप में घोषित किया है।

४. किसी व्यक्ति द्वारा अपने निवास स्थान के लिये ही व्यवहृत अपना निजी मकान जो ऐसे स्थान पर स्थित हो जिसकी जन-संख्या १० हजार से कम हो और जो उस क्षेत्र से ५ मील से अधिक दूर हो जिसके लिये नगरपालिका की व्यवस्था हुई हो, और जहां की जनसंख्या १० हजार से अधिक हो।

५. किसी एकत्व अथवा प्रतिलिप्यधिकार के अन्तर्गत करदाता को प्राप्त होने वाले अधिकार, यदि उन्हें वह अपने व्यवसाय, पेशा अथवा उद्यम की सम्पत्ति नहीं बनाता और उनसे उसे किसी प्रकार की आय अथवा सुविधा नहीं सुलभ होती।

६. करदाता का किसी बीमा-पत्र के अन्तर्गत निहित अधिकार अथवा स्वत्व—इसे तभी तक छोड़ा जायगा जबतक कि बीमा-पत्र की राशि प्राप्य नहीं हो जाती।

७. करदाता को अपनी पिछली सेवाओं के बदले नियोक्ता से पेंशन अथवा आमरण वार्षिकी पाने का अधिकार।

८. फर्नीचर, घरेलू बर्तन, पहनने के वस्त्र, भोजन-सामग्री और अन्य वे सभी वस्तुयें जो सामान्यतः करदाता अपने व्यक्तिगत अथवा घरेलू प्रयोग मे लाता है।

९. वे औजार जिन्हें करदाता कृषि-उत्पादन मे इस्तेमाल करता है।

१०. वे औजार जिनसे करदाता अपना व्यवसाय या उद्यम करता हो; लेकिन इन पर २० हजार रुपये तक ही छूट मिलती है।

११. करदाता द्वारा वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला औजार।

१२. कोई कलात्मक पदार्थ अथवा वैज्ञानिक, पुरातन या अन्य प्रकार का कलात्मक संग्रह अथवा पुस्तके या हस्तलेख, जो करदाता के स्वामित्व मे हो लेकिन जिसे विक्री के लिए न रखा गया हो।

१३. कोई चित्र, तस्वीर, छापा और इस प्रकार की और कोई उत्तरा-धिकार के क्रम में प्राप्त वस्तु जिसे विक्री के लिए न रखा गया हो और जो इसके पहले वाले खण्ड में नहीं आती। लेकिन इसमे जवाहरात को सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

१४. किसी शासक के अधिकार में स्थित वे जवाहरात जो उसकी निजी सम्पति में नहीं आते और जिसे धन-कर-अधिनियम बनने के पहले से ही केन्द्रीय सरकार द्वारा उसकी पैतृक सम्पत्ति मान लिया गया था। लेकिन जहां इस प्रकार की मान्यता नहीं है वहाँ भी यदि सेन्ट्रल बोर्ड आफ़ रेवेन्यू केन्द्रीय सरकार द्वारा इस सम्बन्ध में बनाये गये किसी कानून के अन्तर्गत उसे प्रथम कर-निर्धारण के समय पैतृक सम्पत्ति मान लेता है, तो इस प्रकार के जवाहरातों पर धन-कर नही लगेगा।

१५. २० हजार रूपये के मूल्य तक के करदाता के निजी जवाहरात।

१६. १० वर्षीय ट्रेजरी सेविंग्स डिपाजिट सर्टिफिकेट, १५ वर्षीय वार्षिकी सर्टिफिकेट, पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक की जमा, पोस्ट आफिस कैश सर्टिफिकेट्स और पोस्ट आफिस नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट्स जो करदात के नाम हो।

१७. नियोक्ता के यहां जमा करदाताओं का प्राविडेण्ट फण्ड, जिसे प्राविडेन्ट फंड अधिनियम, १९२५ के अन्तर्गत रखा गया हो अथवा जिसे आयकर-अधिनियम के अध्याय ९ के अन्तर्गत मान्यता दी गयी हो।

१८. करदाता द्वारा सरकार से प्राप्त की जाने वाली वह संपत्ति जो केन्द्रीय सरकार द्वारा संस्थापित या मान्य किसी बहादुरी अथवा योग्यता के पुरस्कार के रूप में दी गयी हो।

१९. यदि करदाता एक कम्पनी है तो उसके द्वारा दूसरी कपनी के रखे गये अंश।

२०. धन-कर अधिनियम की धारा ४५ के खण्ड "डी" में उल्लिखित किसी कम्पनी में रखे गये अंशों के मूल्य, यदि मूल्यांकन की तिथि पर उस कम्पनी पर धन-कर लागू नही किया जा रहा हो।

२१. जो कम्पनियां धारा ४५ के खण्ड "डी" की व्याख्या के अन्तर्गत भारत में औद्योगिक कार्य सचालित रखने के लिए स्थापित की गयी हों, उनकी शुद्ध सम्पत्ति का वह अश जो इस अधिनियम के लागू होने के बाद कम्पनी के कार्य-क्षेत्र में फैलाव होने के कारण एक नई और विलग कंपनो मे लगा हुआ है।

उपर्युक्त अपवादों को छोड़कर शेष सभी सम्पत्तिया धन-कर निर्धारण का आधार बनती है। करदेय सम्पत्तियों पर धन-कर-निर्धारण की विधि का उल्लेख नीचे किया गया है।

धन-कर-निर्धारण की पद्धति

धन-कर-निर्धारण करदाताओं की तीन कोटियों की दृष्टि से किया जाता है। व्यक्ति, हिन्दू अविभक्त परिवार और कम्पनियां—ये तीन कोटियां हैं। फर्मों और व्यक्तियो के अन्य संघों को धन-कर-अधिनियम के क्षेत्र से परे रखा गया है। इसका यह कारण है कि इनकी शुद्ध सम्पत्ति को साझीदारों अथवा सदस्यो के हिस्सों के रूप में उन साझीदारो अथवा सदस्यो के हाथो में ही करारोपित कर लेते है।

प्रत्येक व्यक्ति को, जिसके शुद्ध धन का मूल्य २ लाख रुपये से अधिक है प्रति वर्ष वित्त-अधिनियम में उल्लिखित दर से धन-कर देना होता है। करा-रोपण में शिला-पद्धति का प्रयोग किया जाता है। सन् १९५९ के वित्त-अधिनियम के अनुसार शुद्ध धन के मूल्य के प्रथम २ लाख रुपये पर कुछ भी कर नहीं लगता।

अगले १० लाख रुपये पर एक प्रतिशत, दूसरे १० लाख रुपये पर डेढ़ प्रतिशत और शेष पर दो प्रतिशत की दर से धन-कर लगता है।

करदाता (व्यक्ति) का धन-कर-सम्बन्धी दायित्व उसके निवास से भी प्रभावित होता है। जो व्यक्ति संविधान के अनुच्छेद ५ के अनुसार भारत के नागरिक नहीं हैं और जो आयकर-अधिनियम के अनुसार गैर-निवासी अथवा असाधारण निवासी हैं उनकी भारत के बाहर वाली संपत्तियों तथा ऋणों को धन-कर लगाने के सम्बन्ध में की जाने वाली शुद्ध धन की गणना के अन्तर्गत नहीं लिया जाता। लेकिन नागरिक साधारण निवासियों की सभी सम्पत्तियां चाहे वे जहां भी स्थित हों, धन-कर लगते समय सम्मिलित की जाती है।

उन गैर-निवासयिों की जो भारत के नागरिक नहीं है विदेशी सम्पत्ति तो छोड़ ही दी जाती है, उनकी भारत की सम्पत्ति पर भी ५० प्रतिशत छूट दी जाती है।

हिन्दू अविभाजित परिवार

धन-कर सम्बन्धी करदाताओं की दूसरी कोटि हिन्दू अविभाजित परिवारों की है। आय-कर की तरह धन-कर के अन्तर्गत दो वयस्क सदस्यों वाले अविभाजित परिवार तथा दो से अधिक वयस्क सदस्यों वाले हिन्दू परिवारो में अन्तर नहीं किया जाता। सभी के धन-कर-दायित्व समान विधि से निश्चित किये जाते है। उनके शुद्ध-धन के प्रथम ४ लाख रुपये पर कुछ भी धन-कर नही लगता। अगले ९ लाख रुपये पर एक प्रतिशत, दूसरे १० लाख रुपये पर डेढ़ प्रतिशत और शेष पर २ प्रतिशत की दर से वित्त-अधिनियम सन् १९५९ के अनुमार धन-कर लगता है। व्यक्तियों की तरह गैरनिवासी अथवा असाधारण निवासी हिन्दू परिवारों की विदेशी संपत्तियों तथा ऋणों को धन-कर निर्धारण के क्रम में सम्मिलित नहीं किया जाता। निवासी परिवारों की विदेशी शुद्ध सम्पत्ति का ५० प्रतिशत छोड़ दिया जाता है।

कम्पनियाँ

धन-कर दाताओं की तीसरी कोटि कम्पनियों की है जिसमें भारतीय और विदेशी दोनों प्रकार की कम्पनियाँ आती है। धन-कर सम्बन्धी उनके दायित्व भारत में उनके निवासी होने या न होने पर निर्भर होते हैं। कम्पनियों के निवास का निश्चय आयकर-अधिनियम में दिये गये नियम के अनुसार ही किया जाता है।

अर्थात् यदि वह कम्पनी भारतीय है अथवा उसकी व्यवस्थाओं का नियन्त्रण और प्रबन्ध सम्बन्धित वर्ष (पूर्व-वर्ष) में भारत में ही पूर्णतः स्थित है तो उसे भारत का निवासी माना जायगा।

निवासी कम्पनी की भारतीय और विदेशी दोनों सम्पत्तियाँ धन-कर-निर्धारण के अन्तर्गत आयेंगी। व्यक्तियों और हिन्दू अविभाजित परिवारों की भांति विदेशी सम्पत्ति पर ५० प्रतिशत छूट कम्पनियों को नहीं मिलती। उन कम्पनियों की जो भारत के निवासी नहीं हैं विदेशी सम्पत्तियों और ऋणों को धन-कर-निर्धारण के सम्बन्ध में सम्मिलित नहीं किया जाता। विदेशी कम्पनी को भारतीय सम्पत्ति पर छूट भी नहीं मिलती।

कम्पनियों के शुद्ध धन के प्रथम ५ लाख रुपयों पर धन-कर नहीं लगता। शेष पर आधे प्रति सैकड़ा की दर से धन-कर लगाया जाता है। लेकिन उन कम्पनियों को जिहोंने किसी 'पूर्व वर्ष' में शुद्ध हानि उठायी है और अपने "इक्विटी शेयर' पर उस वर्ष के लिये लाभांश घोषित नहीं किया है उस समय के धन-कर-दायित्व से मुक्त कर दिया जाता है। इसी प्रकार यदि किसी वर्ष कम्पनी का शुद्ध लाभ धन-कर चुकाने के लिये अपर्याप्त है तो उस पर धन-कर शुद्ध लाभ के बराबर ही लगेगा। लेकिन यह व्यवस्था तभी संभव है जबकि उस कम्पनी ने उस वर्ष अपनी "इक्विटी पूंजी" पर लाभांश घोषित न किया हो। बैंकिग-कम्पनियों, बीमा-कम्पनियों, औद्योगिक वित्त-प्रमण्डलों, जहाजी कम्पनियों और सन् १९५६ के कम्पनी-अधिनियम की धारा २५ के अन्तर्गत स्थापित अलाभकर संघों को धन-कर के दायित्व से पूर्णतः मुक्त कर दिया गया है। कम्पनियों को धन-कर के सम्बन्ध में दी जाने वाली ये छूटें उनकी प्रगति को दृष्टि में रखते हुये अधिनियम में सम्मिलित की गयी हैं। कम्पनियो की सम्पत्ति से चुकाया जाने वाला धन-कर उनकी कार्य-व्यवस्था को शिथिल बना सकता है। इससे समाज की आर्थिक प्रगति ढीली पड़ सकती है। औद्योगिक क्षेत्र को विकास की प्रेरणा देने के लिये नयी औद्योगिक संस्थाओं को उनकी स्थापना की तिथि से ५ वर्षों तक धन-कर से मुक्त रखा गया है। यदि कोई औद्योगिक कम्पनी एक नई और विलग इकाई स्थापित करती है तो उस इकाई में लगी हुई शुद्ध धन-राशि को भी ५ कर वर्षों तक धन-कर-मुक्त रखा जाता है। ये प्रावधान औद्योगिक क्षेत्रों में नयी कम्पनियों को खोलने तथा पुरानी कम्पनियों को अपना कार्य-क्षेत्र और विस्तृत बनाने का प्रोत्साहन देते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि औद्योगिक क्षेत्र में लगी हुई कम्पनियों में विनियोगों को प्रोत्साहित करने

के लिए उनके अंशों को भी धन-कर से मुक्त रखा गया है। लेकिन औद्योगिक अंशों के स्वामियों को इन अंशों के सम्बन्ध में दी जाने वाली छूट तभी तक मिलती है जबतक कि उन अंशों वाली कम्पनी को धन-कर से छूट मिलती रहती है।

धन-कर-निर्धारण के क्रम में करदाताओं के कर्तव्य

धन-कर-अधिनियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को जिसका शुद्ध धन कर-योग्य-न्यूनतम राशि से अधिक है, कर-निर्धारण वर्ष के ३० जून के पहले ही अपना धन-सम्बन्धी पूरा विवरण धन-कर-अधिकारी के यहां भेजना पड़ता है। यदि वह व्यक्ति जिसका शुद्ध धन कर-योग्य सीमा से अधिक है, उपर्युक्त तिथि पर धन-सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत नही करता तो धन-कर-अधिकारी उसे धन-सम्बन्धी विवरण भेजने की सूचना दे सकता है। इस सूचना के पाने के पश्चात् निश्चित अवधि के भीतर ही उस व्यक्ति को विवरण भेजना चाहिए। यदि इस पर भी विवरण प्राप्त नही होता तो धन-कर अधिकारी उस व्यक्ति की अनुपस्थिति मे ही कर-निर्धारण कर सकता है। ऐसे कर-निर्धारण के क्रम मे देय कर से डयोढ़ा कर लगाया जा सकता है।

यदि उचित अवधि के भीतर धन-सम्बन्धी विवरण धन-कर अधिकारी के यहां प्रस्तुत कर दिया जाता है तो कर-अधिकारी विवरण में दिये हुए तथ्यों के प्रमाण के लिए उचित लेखा-पुस्तकों और प्रपत्रों की मांग करता है। उनके आधार पर शुद्ध धन का निश्चय करके धन-कर का निर्धारण किया जाता है।

धन-कर-वंचन-सम्बन्धी प्रावधान

धन-कर-अधिनियम में धन-कर की वचना करने वाले व्यक्तियो के विरुद्ध उचित कार्रवाई करने की व्यवस्था अधिनियम की धारा १७ में दी हुई है। यदि कर-अधिकारी को यह विश्वास हो कि करदाता के दुराव के कारण उसके शुद्ध सम्पत्ति के कुछ हिस्से पर कर नही लग सका है अथवा कम दर पर लगा है अथवा यदि कर-अधिकारी को ऐसी सूचना मिले कि करदाता के दुराव के बिना ही साधारण क्रम में कुछ शुद्ध धन पर कर कम लगा अथवा एकदम नही लग सका तो वह करदाता के दुराव के कारण होने वाली कर की क्षति को ८ वर्षों तक पुनः कर-निर्धारण द्वारा पूरा कर सकता है। यदि साधारण क्रम में किसी सम्पत्ति पर धन-कर लगाना

छूट गया है अथवा कम दर से कर लगा है तो उसे कर-अधिकारी उस कर-वर्ष के अगले ४ वर्षों के भीतर पुनः करारोपित कर सकता है।

यदि कर-अधिकारी को किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह सूचना मिले कि उसने जान-बूझकर शुद्ध धन सम्बन्धी विवरण निश्चित अवधि में उचित रीति से प्रस्तुत नही किया है अथवा वह किसी विशेष कारण के अभाव में विवरण प्रस्तुत करने की सूचना के अनुसार कार्य करने में असफल रहा है अथवा उसने विवरण में जान-बूझकर सम्पत्ति के किसी मद को छिपा लिया है अथवा उसके सम्बन्ध में अशुद्ध विवरण प्रस्तुत किया है तो धन-कर अधिकारी उससे साधारण धन-कर के अतिरिक्त कुछ और कर वसूल कर सकता है; लेकिन अतिरिक्त कर-राशि साधारण धन-कर के ड्योढ़े से अधिक न हो सकेगी।

चतुर्थ खण्ड

धन-कर-प्रशासन की व्यवस्था

धन-कर प्रशासन के सम्बन्ध में अभी तक अलग व्यवस्था नही हो सकी है। आयकर-अधिकारी को ही धन-कर लगाने और वसूलने का अधिकार प्राप्त है। ऊपरी प्रशासन-व्यवस्था आयकर-प्रशासन-व्यवस्था का ही एक अग है। न्यायिक निर्णयो के लिये भी धन-कर के सम्बन्ध मे अलग व्यवस्था नही हो सकी है। करदाता धन-कर सम्बन्धी तथ्यो में यदि कर-अधिकारी द्वारा कोई अनुचित कार्य पाता है तो उसके विरुद्ध सहायक आयकर-आयुक्त और तत्पश्चात् अपिलेट ट्रिब्यूनल तक उचित निर्णय के लिये जा सकता है। उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय तक वह केवल कानूनी मामलों को ही ले जा सकता है। धन-कर-निर्णय-सम्बन्धी तथ्यों के विषय में अन्तिम अपील ट्रिब्यूनल तक ही की जा सकती है।

अध्याय ६

सम्पत्ति-शुल्क

भारत में सम्पत्ति-शुल्क का इतिहास

भारत में सम्पत्ति-शुल्क लगाने का विचार पहली बार सन् १९२४-२५ के कराधान-जाँच-समिति के सुझावों के रूप में उठा था लेकिन उसे सन् १९५३ के पहले कार्य रूप में परिणत नही किया जा सका। कराधान-जाँच समिति के सुझावों के आने के साथ ही संवैधानिक परिवर्तन की चर्चा भी प्रारम्भ हो गयी थी। सन् १९२८ में वैधानिक आयोग की स्थापना के बाद से सन् १९३५ के भारत-सरकार-अधिनियम के बनने तक सम्पदा-कर की चर्चा गौण हो गयी। उसके पश्चात् कुछ ही वर्षो में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। इस युद्धकाल में व्यक्तियों की बढ़ती हुई सम्पत्ति पर सरकारी नियन्त्रण लगाने की बात सोची जाने लगी। उस क्रम में सम्पत्ति-शुल्क लगाने की चर्चा पुनः प्रारम्भ हुई। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा प्रश्न यह था कि भारत में सम्पत्ति शुल्क का क्या रूप रखा जाय; ग्रेट ब्रिटेन में प्रचलित व्यवस्था लागू की जाय अथवा कोई दूसरा क्रम अपनाया जाय।

ब्रिटेन जैसा सम्पत्ति-शुल्क लगाने में संवैधानिक कठिनाई प्रमुख थी। सन् १९३५ के भारत-सरकार-अधिनियम के अन्तर्गत उस प्रकार का कर लगाना सम्भव नहीं था। इसलिए सन् १९४४ में १९३५ वाले अधिनियम को संशोधित करके केन्द्रीय विधान-मण्डल को यह अधिकार दिया गया कि वह कृषि-भूमि को छोड़ कर अन्य सम्पत्तियों पर सम्पत्ति-शुल्क लगा सके। सन् १९४६ में किसी व्यक्ति के मरने पर हस्तांतरित होने वाली अथवा हस्तांतरित की जांने की सम्भावना वाली सम्पदाओं पर कर लगाने के सम्बन्ध में एक विधेयक केन्द्रीय-विधान-मण्डल के सम्मुख प्रस्तुत किया गया, लेकिन अनेक कारणों से तत्काल ही उस पर विचार नहीं किया जा सका।

स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् सन् १९४८ में सम्पत्ति-शुल्क-विधेयक संसद के सम्मुख पुनः प्रस्तुत किया गया। यद्यपि इस पर प्रवर-समिति द्वारा विचार कर

लिया गया था लेकिन प्रथम चुनाव के पश्चात् पूर्ण संवैधानिक संसद बनने के पूर्व इसे अधिनियम-रूप में पारित नहीं किया जा सका। भारत में इसकी चर्चा प्रारम्भ होने के लगभग २७ वर्ष बाद संपत्ति-शुल्क सन् १९५३ में अधिनियम का रूप ले सका। इसे १५ अक्टूबर सन् १९५३ से प्रयोग में लाया गया है। इसकी प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालने के पूर्व इसके सैद्धान्तिक तथ्यों पर विचार करना अधिक उपयोगी होगा। प्रस्तुत अध्याय में सम्पत्ति-शुल्क के सैद्धान्तिक तथ्यों के विश्लेषण को ही प्रमुखता दी गयी है।

सम्पत्ति-शुल्क का सिद्धान्त

यह विश्लेषण व्याख्या-सम्बन्धी स्पष्टता की दृष्टि से चार प्रमुख खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड में कर व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पत्ति-शुल्क के औचित्य पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे खण्ड में सम्पत्ति-शुल्क के सम्बन्ध में उठायी जाने वाली शंकाओं का विवरण है। तृतीय खण्ड में सम्पत्ति-शुल्क के विविध प्रचलित रूपों की व्याख्या है और चतुर्थ खण्ड में हिन्दू समाज के उत्तराधिकार से सम्बन्धित उन दो विधानों का विवरण है जिनसे सम्पत्ति-शुल्क को क्रियात्मक रूप देने मे कठिनाई उत्पन्न होती है।

कर-व्यवस्था में सम्पत्ति-शुल्क का स्थान

आज के लगभग सभी प्रजातन्त्र देशों में मृतक से उत्तरजीवी को हस्तान्तरित होने वाली सम्पदाओं पर लगाया जाने वाला कर उनकी संपूर्ण कर-व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अग बन गया है। इस कर के औचित्य को सामाजिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों से प्रतिपादित किया गया है। यह बात सर्वमान्य है कि जिस प्रकार सरकार किसी व्यक्ति की सम्पत्ति की सुरक्षा का भार उसकी मृत्यु के उपरान्त उठाती है उसी प्रकार उत्तराधिकारियों को उसके हस्तांतरित होते समय उसका कुछ अंश लेना भी उसके लिए उचित है। उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे श्री ग्लैडस्टन द्वारा प्रगट किया गया यह विचार बहुत ही उपयुक्त है कि सरकार के लिए नागरिकों की सम्पत्तियों को पूर्ण सुरक्षा के साथ उस बड़ी बाधा के जिसे मृत्यु एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के बीच खड़ा कर देती है। पार ले जाना एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य है, सभ्य संस्थाओं की शक्ति का यह एक बहुत ही उपयुक्त परिचायक है। इससे मानव जाति को सुसंस्कृत संस्थाओं और सुगठित विधान से सुलभ होने वाली

महान् सुविधाओं का ज्ञान होता है। इस क्रम में, जैसा कि उपर्युक्त महाशय ने स्पष्टतः कहा है, यदि सरकार मृत्यु के उपरान्त मृतक की सम्पत्ति के कुछ अंश को जन-हित के लिए उत्तराधिकारी से ले लेती है, तो इसे तनिक भी अनुचित नहीं माना जा सकता। इस प्रकार यदि सरकार कोई ऐसा विधान बनावे जिसमें मृतक-द्वारा भोगी जाने वाली सम्पत्ति का हस्तांतरण मृतक से किसी अन्य व्यक्ति को किये जाने पर कर लगाया जा सके तो वह विधान सर्वथा न्यायपूर्ण ही होगा।

सम्पत्ति-शुल्क के औचित्य को केवल सामाजिक दृष्टि से ही सिद्ध नही किया जा सकता बल्कि कराधान के सिद्धान्तों के आधार पर भी इसकी उपयुक्तता प्रमाणित की जा सकती है। यह प्रमाण कर देने की योग्यता, तथा सुविधा के सिद्धान्तों के आधार पर दिया जा सकता है। यद्यपि करदेय योग्यता का सर्वश्रेष्ठ मापदण्ड आय है लेकिन इसी को पूर्ण मापदण्ड नहीं माना जा सकता। सम्पत्ति पर लगने वाला कर जिसमें सम्पत्ति-शुल्क प्रमुख स्थान रखता है, आय-कर की कमी को पूरा कर सकने में बहुत कुछ सहायक है। जैसा कि धन-कर के अध्याय में स्पष्ट किया गया है, करदेय-योग्यता का माप केवल किसी व्यक्ति की आय से ही नहीं, बल्कि उसकी सम्पत्ति से भी किया जा सकता है। इस प्रकार आय-कर के साथ सम्पत्ति-शुल्क लगाने से योग्यता के अनुसार करारोपण की जो सीमा आयकर में विशेषतः स्पष्ट होती है उसे बहुत कुछ मिटाया जा सकता है। इस तथ्य की व्याख्या नीचे दिये हुए उदाहरण से की जा सकती है।

मान लीजिए तीन व्यक्तियो की आय किसी वर्ष समान होती है, लेकिन आय के स्रोत अलग-अलग है। एक अपने पेशे मे प्रयास करके आय कमाता है, दूसरा अशो की सट्टेबाजी से उतनी ही आय कर लेता है और तीसरा उत्कृष्ट कोटि की प्रतिभूतियों के स्वामित्व से वही आमदनी प्राप्त करता है। यदि इन तीनों पर केवल आय-कर लगाया जाय तो वह औचित्य की दृष्टि से तीनो के लिए समान नही कहा जा सकता है। किसी पेशे में प्रयास करके आय कमाने वाले व्यक्ति की जो आर्थिक स्थिति है उससे अच्छी आर्थिक स्थिति अन्य दोनो की है। तीसरे व्यक्ति को निश्चित रूप से पहले दो व्यक्तियों की तुलना मे अधिक अच्छी आर्थिक स्थिति वाला माना जा सकता है। इन तीनों पर आय-कर-भार की समानता करदेय-योग्यता के अनुरूप नही कही जा सकती। आय-कर लगाने की विधि में अन्तर करने से भी योग्यता के अनुसार कर-भार को समान बनाना बहुत ही कठिन है। आय-कर की इस सीमा को सम्पत्ति-शुल्क लगाने से दीर्घकालीन अवधि में बहुत

कुछ कम किया जा सकता है। सम्पत्ति-शुल्क में प्रायः सम्पत्ति की अधिक मात्राओं पर ऊँची दर से कर लगाया जाता है।

सम्पत्ति-शुल्क एक और प्रकार से आय-कर के पूरक के रूप में उपयोगी सिद्ध होता है। आय-कर की पहुँच बहुत सीमित होती है। इसमें अथवा अन्य प्रत्यक्ष करों में व्यक्तिगत सम्पत्तियां जैसे जवाहरात, चित्र, फर्नीचर, और इस प्रकार की अन्य आय न उपार्जित करने वाली सम्पत्तियां करारोपित नहीं हो पाती। लेकिन सम्पत्ति-शुल्क मे मृतक से उत्तराधिकारी को हस्तांतरित होने वाली सभी सम्पत्तियों के मूल्य पर प्रायः कर लगाया जाता है। समय के परिवर्तन से सम्पत्तियों के मूल्य में जो परिवर्तन होता है उस पर भी सम्पत्ति-शुल्क लगा लिया जाता है।

सम्पत्ति-शुल्क से आय की असमानता को भी कम करने में सहायता मिलती है। जैसा कि धन-कर के अध्याय में स्पष्ट किया गया है, आय की असमानता का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण सम्पत्ति-वितरण की असमानता है। सम्पत्ति-वितरण की असमानता लाने मे उत्तराधिकारिता से प्राप्त होने वाली सम्पत्तियों का विशेष हाथ होता है। एक सम्पन्न मृतक के उत्तराधिकारी को अन्य उत्तराधिकारियों की तुलना मे आय कमाने की क्षमता और क्षेत्र बढाने के अधिक अवसर मिलते हैं। इसके परिणामस्वरूप आय की असमानता पीढी दर पीढ़ी कायम रहती है। इस क्रम को समाप्त करके नयी पीढ़ियों को आय कमाने का समान अवसर सुलभ करने के लिये उत्तराधिकारिता से प्राप्त सम्पत्तियों पर कर लगाना आवश्यक है। इससे नयी पीढ़ियों को पूर्वजों से प्राप्त होने वाली सम्पत्तियों के कारण सुलभ प्रगति के असमान अवसर धीरे-धीरे समान बनाये जा सकेंगे। अवसर की समानता होने पर आय कमाने की क्षमता और क्षेत्र की असमानता बहुत घटायी जा सकती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आय की असमानता के कारणों को मृत्यु के उपरान्त लगने वाले सम्पत्ति-शुल्क से बहुत कुछ कम किया जा सकता है।

सम्पत्ति-शुल्क में आदम स्मिथ के कर-सम्बन्धी निश्चितता और सुविधा के सिद्धान्तों की भी पर्याप्त पूर्ति होती है। किसी व्यक्ति से इस कर के रूप में प्राप्त होने वाली राशि सर्वथा निश्चित होती है। भुगतान का समय, ढंग और राशियां भी मृतक, करदाता तथा अन्य किसी भी व्यक्ति की दृष्टि से सरल और स्पष्ट होती हैं।

अन्त में यह भी कहा जा सकता है कि सम्पत्ति-शुल्क का भुगतान सम्पत्ति के स्वामी अथवा उसके उत्तराधिकारी की दृष्टि से बहुत ही सुविधापूर्ण होता है।

इसे विलम्बित आय-कर माना जा सकता है, क्योंकि इसका भुगतान उस समय तक के लिये स्थगित कर दिया जाता है जबतक कि मृतक से उत्तराधिकारी को सम्पत्तियों का हस्तांतरण नहीं होने लगता। प्रत्येक कर-व्यवस्था का यह प्रमुख सिद्धान्त माना जाता है कि कर-भुगतान-संबंधी त्याग करदाता के लिए न्यूनतम रखा जाय। यदि सरकार को आय-कर से अतिरिक्त राजस्व प्राप्त करना है तो आय-कर की दर बढ़ाने से करदाता की सन्तुष्टि-क्षति आय-कर की दर की वृद्धि की तुलना में अधिक होगी। लेकिन यदि इसी अतिरिक्त राशि को करदाता के जीवन-काल मे आय-कर के रूप में न वसूल कर उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति में से सम्पत्ति-शुल्क अथवा मृत्यु-कर के रूप में प्राप्त कर लिया जाय तो उससे मृतक के जीवन-काल मे अतिरिक्त आय-कर से होने वाली संतुष्टि-क्षति को मिटाया जा सकता है। इससे न तो मृतक प्रभावित होता है और न मृतक की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी ही कर के अनुरूप संतुष्टि-क्षति का अनुभव कर पाता है।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि सम्पत्ति-शुल्क, जिसे कुछ देशो में करारोपण की विधि के कारण मृत्यु-कर भी कहते है, आयकर के पूरक के रूप मे बहुत ही उपयोगी है। इससे आयकर की करारोपण-सबंधी सीमाये बहुत कुछ कम हो जाती हैं। राजकोषीय पद्धतियों द्वारा आय के वितरण की असमानता कम करने मे सम्पत्ति-शुल्क का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इससे आय की असमानता के मूल कारण सम्पत्ति के वितरण की असमानता को क्रमशः मिटाया जा सकता है। सम्पत्ति-शुल्क के पक्ष में, जैसाकि इसके पहले स्पष्ट किया गया है, कराधान के उन सिद्धान्तों की पूर्ति का भी उल्लेख हो सकता है, जिनकी दृष्टि से किसी भी कर की उपयुक्तता विचारणीय होती है। करदेय-योग्यता के अनुसार कर-भार-निर्धारण, कर की मात्रा की निश्चिन्तता तथा कर-भुगतान की सुविधा उनमें विशेषतः उल्लेखनीय है। इन्ही आधारों पर सम्पत्ति-शुल्क को किसी भी प्रजातन्त्र समाज मे उचित ठहराया जाता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नही कि इसके सबंध में आपत्ति ही नहीं की जाती। वास्तव में प्रत्येक समाज में इसके प्रयोग का विरोध भी उतनी ही उग्रता से किया जाता है जितना कि इसके प्रयोग का समर्थन। नीचे सम्पत्ति-शुल्क के इन्हीं विरोधों की व्याख्या की गयी है।

सम्पत्ति शुल्क अथवा मृत्यु-कर के विरोध में प्रस्तुत आपत्तियाँ

सम्पत्ति-शुल्क के प्रयोग के सम्बन्ध में दो आपत्तियाँ प्रायः उठायी जाती हैं।

एक तो यह कि किस वर्ष में इस कर से कितनी राशि सुलभ हो सकेगी, इसका कोई निश्चय नहीं रहता। वर्ष के प्रारम्भ में यह अनुमान लगाना बड़ा कठिन है कि किस वर्ग के कितने व्यक्ति वर्ष भर में मरेंगे जिससे उनकी सम्पत्ति का हस्तांतरण उनके उत्तराधिकारियों को होते समय यह कर लग सके। पिछले अनुभव केवल अनुमान-मात्र का ही आधार दे सकते हैं। सम्पत्ति-शुल्क के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि इससे सम्पदाओं पर पड़ने वाले कर-भार में असमानता उत्पन्न होती है। यह आवश्यक नहीं है कि एक ही मूल्य वाली विभिन्न नागरिकों की सम्पदायें कर की एक ही राशि के लिये देय हों, क्योकि दीर्घकालीन अवधि में जिस सम्पदा का मृत्यु के कारण हस्तांतरण जितनी अधिक बार होगा उस पर सपत्ति-शुल्क का भार भी उतना ही अधिक होगा। इसके विपरीत, जिस सम्पदा का हस्तातरण उस अवधि में कम बार अथवा एक ही बार होगा उस पर सम्पत्ति-शुल्क का भार भी कम होगा। इन दोनों आपत्तियों के कारण सम्पत्ति शुल्क पर अनियमितता का दोष लगाया जाता है। डाक्टर बेन्हम ने मृत्यु-कर की व्याख्या के अन्तर्गत इस सम्बन्ध मे की जाने वाली इन्ही दोनों आपत्तियों को प्रमुखता दी है?[1]

इन आपत्तियों के समक्ष अधिकांश देशों की कर-व्यवस्था मे मृत्यु-कर का प्रयोग किसी न किसी नाम के अन्तर्गत होता है। इस प्रयोग का सबसे बड़ा कारण वे गुण हैं जिनकी व्याख्या इसके पूर्व की गयी है। प्रजातन्त्रात्मक पद्धतियो से समाजवादी समाज की रचना का प्रयास जिस राष्ट्र में हो रहा है वहां इस कर का प्रयोग अपरिहार्य बन चुका है।

मृत्यु-कर के विविध प्रकार

मृत्यु-कर को प्रायः दो खण्डों में विभाजित किया जाता है :— १—सम्पत्ति-शुल्क जो मृतक की पूरी सम्पत्ति पर लगाया जाता है, २—उत्तराधिकार-कर, जिसे उत्तराधिकारी को प्राप्त होने वाली सम्पदा पर लगाया जाता है। पहले प्रकार के कर को हस्तांतरित होने वाली सम्पत्ति के कुल मूल्य के सन्दर्भ में निश्चित किया जाता है। इसमें विभिन्न उत्तराधिकारियों को कितनी राशि मिले इसका कोई विचार नहीं किया जाता।

१. देखिये—डा० बेन्हम द्वारा लिखित "अर्थशास्त्र" की पृष्ठ संख्या ३०६।

उत्तराधिकार-कर की दरें मृतक से उत्तराधिकारी का क्या सम्बन्ध है इसी पर आधारित की जाती है। मृतक की कुल सम्पत्ति की दृष्टि से उत्तराधिकार-कर नहीं लगता, बल्कि उत्तराधिकारी को उस सम्पत्ति से प्राप्त होने वाले अंश अथवा स्वत्व पर ही उत्तराधिकार-कर लगता है। मृतक और उत्तराधिकारी के सम्बन्ध की घनिष्ठता अधिक होने पर उत्तराधिकार-कर की दर कम और घनिष्ठता कम होने पर अथवा सम्बन्ध दूर का होने पर कर की दर अधिक हो जाती है।

मृत्यु-कर के इन दोनों रूपों में प्रशासनिक सुविधा तथा परिणाम की निश्चितता रहती है। उत्तराधिकार-कर समता की दृष्टि से भी उचित है। मृत्यु-कर की इन दोनों विधियों को कर-व्यवस्था में साथ-साथ रखा जा सकता है।

प्रत्यक्ष कर के अन्य रूपों की अपेक्षा मृत्यु-कर में क्रमबद्धता के कई आधार हो सकते हैं। कर की दरें हस्तांतरित होने वाली सम्पदा के आकार के आधार पर बदली जा सकती हैं। मृतक से उत्तराधिकारी के सम्बन्ध की दृष्टि से भी कर की दरों में विविधता लायी जा सकती है। कभी-कभी उत्तराधिकारी को मिलने वाली सम्पदा की राशि तथा उसकी आर्थिक स्थिति की दृष्टि से भी मृत्यु-कर की विभिन्न दरें हो सकती है। यूरोप के कुछ देशों में मृत्यु-कर की दरों को तीसरे ढंग से ही निश्चित करते हैं।

भारत में मृत्यु-कर की व्याख्या के सम्बन्ध में हिन्दू विधान के उन दो खण्डों को समझना आवश्यक है जिनसे हिन्दुओं की उत्तराधिकारिता प्रभावित होती रही है। ये खण्ड मिताक्षरा-विधान और दायभाग-विधान के नाम से प्रख्यात है। दायभाग-विधान का प्रचलन प्रायः बंगाल में ही केन्द्रित रहा है, लेकिन मिताक्षरा बंगाल के बाहर देश के सभी हिस्सों में प्रचलित है।

मिताक्षरा और दायभाग विधानों के अन्तर्गत उत्तराधिकार की व्यवस्था

मिताक्षरा-विधान में प्रत्येक बच्चा जन्म होने के साथ ही पैतृक सम्पत्ति में अपने पिता के बराबर स्वत्व रखने लगता है। पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र पारिवारिक सम्पत्ति को उसके उत्तराधिकारी के रूप में नहीं, बल्कि उत्तरजीवी के रूप में प्राप्त करता है। एक संयुक्त हिन्दू परिवार के सहभागी व्यक्तिगत रूप में नहीं, बल्कि संयुक्त रूप मे परिवार की सम्पत्ति के स्वामी होते है। यही कारण है कि हिन्दुओं के संयुक्त परिवार को एक ऐसा संयुक्त निकाय माना जा सकता है

जिसका सतत अस्तित्व होता है और जिसके किसी भी सदस्य की मृत्यु निकाय की सतत प्रकृति को प्रभावित नहीं करती।

दाय-भाग-विधान में पिता के जीवित रहते हुए पुत्रों को पैतृक सम्पत्ति में कोई स्वत्व प्राप्त नहीं होता। परिवार की सम्पत्ति के सम्बन्ध में उनके अधिकार पिता की मृत्यु के पश्चात् ही उत्पन्न होते है। फलतः परिवार में किसी बच्चे के जन्म से पारिवारिक सम्पत्ति के स्वामित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जबकि मिताक्षरा-विधान में अन्य सहभागियों के जन्म अथवा मरण से सभी सहभागियों के स्वत्वों में परिवर्तन होते हैं। उत्तराधिकार-सम्बन्धी विधान की विविधरूपता के कारण संयुक्त हिन्दू परिवारों के सम्बन्ध में मृत्यु-कर लगाना अनेक कठिनाइयां उपस्थित करता है। मिताक्षरा विधान के अन्तर्गत किसी मृतक की सम्पत्ति से विभिन्न व्यक्तियों को मिलने वाले हिस्सों का निश्चय करना और उन पर कर लगाना सरल नही है। उसमें मृतक से उत्तराधिकारी के सम्बन्ध को स्थिर करना और संबंध की घनिष्ठता के आधार पर दरों को क्रमिकता के सिद्धान्त के अनुसार निश्चित करना कठिन होता है। यही कारण है कि भारत में मृत्यु-कर के रूप का निश्चय करते समय इंगलैण्ड में प्रचलित उत्तराधिकार-कर को अव्यावहारिक माना गया।

मिताक्षरा-विधान के अन्तर्गत सम्पदा के जीवन-काल के अनुसार मृत्यु-कर की दरो मे परिवर्तन ला सकना भी सम्भव नही रहा है। अन्य देशों में मृत्यु-कर की दरो का निर्धारण सम्पदाओ के जीवनकाल के अनुसार किया जाता है। जो सम्पदा जितनी पुरानी होती है और उत्तराधिकार के क्रम में जितनी अधिक बार उसका हस्तांतरण हो चुका रहता है, कर की दरें भी उस पर उतनी ही अधिक होती हैं। मिताक्षरा-विधान में उत्तरजीविता के आधार पर उत्तराधिकारिता निश्चित होने के कारण सम्पदाओं के जीवन-काल की दृष्टि से मृत्यु-कर अथवा सम्पत्ति-शुल्क लगाना सरल नहीं है।

उत्तराधिकार-सम्बन्धी इन्हीं विधानों के कारण ही भारत मे उत्तराधिकार-कर लगाया जा सकना सम्भव नहीं रहा। इसीलिये यहां इंग्लैंड में प्रचलित मृत्यु-कर के प्रथम रूप सम्पत्ति-शुल्क का लगाना ही अधिक उपयुक्त समझा गया।

भारतीय सम्पत्ति शुल्क-अधिनियम की प्रमुख विशेषताएँ

भारतीय सम्पत्ति-शुल्क के सैद्धन्तिक आधारों का विश्लेषण करने के पश्चात्

उसके प्रमुख अंगों का विवेचन उन्हें बहुत स्पष्ट कर सकेगा। सम्पत्ति-शुल्क का वैधानिक रूप सन् १९५३ वाले अधिनियम से ही नहीं प्रारम्भ माना जा सकता। भारतीय संविधान में भी उसकी चर्चा हुई है। संविधान के अनुच्छेद ३६६ की कण्डिका ९ में इसकी परिभाषा निम्नांकित प्रकार से की गयी है :—

"सम्पत्ति-शुल्क" से अभिप्रेत है वह शुल्क जो मृत्यु पर रिक्थ हुयी, अथवा संसद या राज्य के विधान-मण्डल द्वारा उस शुल्क के सम्बन्ध में निर्मित विधियों से उपबन्धों के आधीन वैसी रिक्थ हुई समझी जाने वाली सारी सम्पत्ति के, उक्त विधियों के द्वारा या आधीन विहित नियमों के अनुसार अभिनिश्चित, मूल मूल्य पर या के निर्देश से परिगणित की जाती हो।"

इसे लगाने का अधिकार केवल केन्द्रीय सरकार को दिया गया है। जैसा कि संविधान में ७वीं अनुसूची की संघ-सूची के ८७वें और ८८वे मदों से स्पष्ट है, कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के बारे में सम्पत्ति-शुल्क अथवा उसके उत्तराधिकार के बारे में उत्तराधिकार-शुल्क लगाने का अधिकार संघ-सरकार को प्राप्त है। उसके सम्बन्ध में संसद को अधिनियम बनाने का अधिकार है। कृषि-भूमि के विषय में सम्पत्ति-शुल्क अथवा उसके उत्तराधिकार के विषय में उत्तराधिकार-शुल्क लगाने का अधिकार उपर्युक्त अनुसूची की राज्यसूची के अनुसार राज्यों को प्राप्त है। लेकिन इस सम्बन्ध में संविधान के २५२ वें अनुच्छेद का विवरण उल्लेखनीय है, क्योंकि उसमे राज्यों से संसद को राज्यो के विषयो पर विधान बनाने का अधिकार मिलने की व्याख्या है। इसके लिये यदि किन्ही दो अथवा अधिक राज्यों के विधान-मण्डल यह प्रस्ताव पास करे कि संसद उनके कुछ विषयो पर विधान बना सकता है, तो ऐसी स्थिति में संसद उनके लिये विधान बनाने का अधिकार रखता है। संसद द्वारा बनाया गया वह विधान अथवा विनियम अन्य राज्यों में उनके विधान मण्डल द्वारा पारित प्रस्ताव से अंगीकृत किया जा सकता है। इसी व्यवस्था के अनुसार आसाम, बिहार, बम्बई, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान, पंजाब, उत्तर प्रदेश, और राज्य-पुनर्गठन के पूर्व "सी" वर्ग के सभी राज्यों ने समद द्वारा बनाये गये सम्पत्ति-शुल्क को अपने यहां की कृषि-भूमि के सम्बन्ध में भी लागू मान लिया। इस प्रकार लगभग संपूर्ण भारत में सम्पत्ति-शुल्क का विधान सभी सम्पत्तियों के बारे में समान रूप से लागू होता है। इससे कर-भार-वितरण में समानता लाना तथा कर-क्षेत्र-सम्बन्धी संघर्षों को दूर रखना अपेक्षाकृत सरल हो गया है।

संघ-सरकार द्वारा लगाये जाने वाले सम्पत्ति-शुल्क से जितनी शुद्ध प्राप्तियाँ होती हैं उन्हें भारत के संघनित कोष में सम्मिलित नहीं करते, बल्कि उसे संविधान के अनुच्छेद २७२ के अनुसार उन्हीं राज्यों में बाँट दिया जाता है, जिनसे उसे एकत्र करने की व्यवस्था की गयी है।

सम्पत्ति-शुल्क के अन्तर्गत आनेवाली सम्पत्तियाँ

सम्पत्ति-शुल्क-अधिनियम के अनुसार सम्पत्ति-शुल्क उन सभी संपत्तियों के मूल्य पर लगाया जाता है जो किसी व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त किसी दूसरे पक्ष को हस्तांतरित होती है। सम्पत्ति की व्याख्या चल और अचल सम्पत्तियों की गणना के आधार पर की गयी है। नीचे दी हुई सम्पत्तियां इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है, क्योंकि वे सम्पत्ति-शुल्क के अन्तर्गत आती है :—

१. सम्पत्ति अथवा आस्ति के रूप में विदित सभी चल और अचल सम्पत्तियां—भूमि, भवन, व्यापार में अंतिम रहतिया, ख्यातिमूल्य और अन्य व्यावसायिक सम्पत्तिया, नकद रोकड़, बैंक बाकिया, अंश, स्कंध, प्रतिभूतियां और विनियोग, फर्नीचर, जवाहरात तथा अन्य व्यक्तिगत सामान आदि।

२. किसी चल अथवा अचल सम्पत्ति मे मृतक का स्वत्व जैसे मृतक के नाम रहन, सयुक्त परिवार की सम्पत्ति मे एक सहभागी के रूप में उसका हिस्सा आदि।

३. उपर्युक्त खण्ड २ में वर्णित किसी स्वत्व की बिक्री से प्राप्त मूल्य।

४ ऐसे किसी स्वत्व के बिक्री-मूल्य का प्रतिनिधित्व करने वाली मुद्रा-राशि अथवा विनियोग।

५ किसी भी तरह एक रूप से दूसरे रूप में बदली हुई कोई सम्पत्ति जैसे किसी भवन को बेचकर किसी कम्पनी के अशों की खरीद आदि।

६. किसी कानूनी कार्यवाही के क्रम में प्राप्त होने वाली राशि, जैसे किसी ऋण अथवा लगान को प्राप्त करने का न्यायालय से मिला अधिकार।

७. बीमा की राशि अथवा वार्षिकी के क्रय से प्राप्त होने वाली राशि।

८. अन्य कोई अधिकार जिसे मुद्रा में मूल्यांकित किया जा सके।

सम्पत्तियों का अर्पण

लगभग प्रत्येक देश के सम्पत्ति-शुल्क-सम्बन्धी विधानों में कुछ प्रकार के अर्पणों पर शुल्क सम्बन्धी छूट मिलती है। भारतीय सम्पत्ति-शुल्क अधिनियम के

अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि यदि मृत्यु को दृष्टि में रखते हुये मृतक ने कुछ सम्पत्तियों का अर्पण किया हो तो उस सम्पत्ति का हस्तांतरण अर्पणकर्ता की मृत्यु के पश्चात् माना जायगा और उस पर सम्पत्ति-शुल्क लगेगा। मृत्यु की दृष्टि से किया हुआ अर्पण वह है जो ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया हो जो बीमार हो अथवा किसी बीमारी के कारण जिसके शीघ्र ही मरने की सम्भावना हो। ऐसे अर्पण में चल सम्पत्ति का अधिकार किसी दूसरे व्यक्ति को सौप दिया जाता है। इन्हें 'मृत्यु-शय्या-अर्पण' के नाम से भी पुकारते हैं। भारतीय सम्पत्ति अधिनियम के अन्तर्गत इनके लिये छूट नहीं दी जाती।

सम्पत्तियों के अन्य अर्पणों के सम्बन्ध में अधिनियम में यह व्यवस्था की गयी है कि यदि कोई अर्पण एक निश्चित अवधि के भीतर का हो तो उसे सम्पत्ति-शुल्क से छूट नहीं मिलेगी। अवधि का विवरण दातव्य उद्देश्यों से किये गये अर्पणों तथा अन्य अर्पणों में भिन्न है। दातव्य-अर्पणों को मृत्यु के ६ महीने पहले तक और अन्य अर्पणों को मृत्यु के २ वर्ष पहले तक का होने पर छूट नही दी जाती।

अर्पण के अतिरिक्त बीमा-पत्रों के सम्बन्ध में भी सम्पत्ति-शुल्क की छूट लागू होती है।

बीमा-पत्रों से सम्बन्धित छूट

मृतक के जीवन पर लिये बीमा-पत्रों से सुलभ होने वाली बीमा-राशि को सम्पत्ति-शुल्क से छूट देने की व्यवस्था अधिनियम में है। बीमा-पत्र चाहे उत्तराधिकारी अथवा अभ्यर्पिती के हितों को दृष्टि में रखते हुये लिया गया हो अथवा अन्य किसी उद्देश्य से; छूट-सम्बन्धी व्यवस्था पर इसका कोई असर नहीं पड़ता। बीमा सम्बन्धी यह छूट निम्नांकित परिस्थितियों में ही सुलभ होती है:—

१. यदि बीमा-पत्र मृतक के जीवन पर सम्पत्ति-शुल्क के भुगतान के लिये लिया गया हो अथवा बीमा पत्र का अभ्यर्पण सरकार के नाम सम्पत्ति-शुल्क के भुगतान में किया गया हो; लेकिन उसकी राशि ५० हजार रुपये से अधिक न हो।

२. मृतक द्वारा अपने जीवन पर लिए हुये एक या अधिक बीमा-पत्रों पर सुलभ होने वाली राशि; लेकिन कुल राशि ५ हजार रुपये से अधिक न हो।

३. किसी मृतक (पिता, माता अथवा प्राकृतिक अभिभावक) द्वारा अपने पर आश्रित किसी सम्बन्धी कन्या के विवाह के निमित्त लिये गये बीमा-पत्र पर सुलभ होने वाली राशि जो ऐसे प्रत्येक सम्बन्धी के लिये ५ हजार रुपये से अधिक न हो।

इन शर्तों के बाहर जितने भी बीमा-पत्र होते हैं उन पर मिलने वाली राशि पर सम्पत्ति-शुल्क लगता है।

मृत्यु पर हस्तांतरित न समझी जाने वाली सम्पत्तियाँ

भारतीय सम्पत्ति-शुल्क-अधिनियम के अन्तर्गत कुछ ऐसी सम्पत्तियों का विवरण है जिनका हस्तांतरण मृत्यु के उपरान्त नहीं माना जाता। इसलिये उन पर सम्पत्ति-शुल्क नहीं लगता। ऐसी सम्पत्तियां निम्नांकित है :—

१. वे सम्पत्तियां, जिन्हें मृतक केवल किसी पद के धारक के रूप में अथवा किसी दान के हितों के प्राप्ति-कर्ता के रूप में अपने अधिकार में रखता है, उसकी मृत्यु के उपरान्त किसी अन्य पक्ष को हस्तांतरित नही मानी जातीं।

२. वे सम्पत्तियां जिन्हें मृतक प्रन्यासी के रूप मे रखता हो।

३. बन्दोबस्त की गयी ऐसी सम्पत्ति जिसमें मृतक के स्वत्व धारण-कर्ता के स्वत्व बनने के पहले ही समाप्त हो गये हों।

४. वे सम्पत्तियाँ जिन पर मृतक का अधिकार उसके जीवन-काल तक ही सीमित हो और जो उसकी मृत्यु के पश्चात् बन्दोबस्त करने वाले व्यक्ति को ही लौट जाँय।

सम्पत्ति-शुल्क अधिनियम के अन्तर्गत सामान्य छूटें

सम्पत्ति-शुल्क-सम्बन्धी छूटों को दो वर्गों मे बाँटा जा सकता है। एक तो वे छूटें है जिन्हें सम्पत्ति-शुल्क की दर निश्चित करते समय तथा सम्पत्ति-शुल्क लगाते समय छोड़ देते है। दूसरी प्रकार की ऐसी छूटें हैं जिनके अन्तर्गत उल्लिखित सम्पत्तियों को सम्पत्ति-शुल्क की दर निश्चित करते समय अन्य सम्पत्तियो के साथ जोड़ लेते है, लेकिन उन पर सम्पत्ति-शुल्क नही लगाते। प्रथम प्रकार की छूटो के अन्तर्गत निम्नांकित सम्पत्तियां उल्लेखनीय है :—

१. कर-क्षेत्र के बाहर स्थित सभी अचल सम्पत्तियां।

२. मृतक को मृत्यु के समय कर-क्षेत्र के बाहर स्थित सभी चल संपत्तियां यदि वह मृत्यु के समय भारत का निवासी न हो।

३. मृतक के घरेलू सामान जिनमें दस्तकारी अथवा कृषि के औजार अथवा अन्य औजार सम्मिलित हैं, जिनका प्रयोग मृतक अपने जीविकोपार्जन के सम्बन्ध में करता है। इन औजारों से सम्बन्धित छूट की उच्चतम सीमा दो हजार ५ सौ रुपये तक है।

४. वे पुस्तकें जिन्हें बिक्री के उद्देश्य से न रखा गया हो।

५. पहनने के वस्त्र आदि। लेकिन जवाहरात, कीमती पत्थर, आभूषण आदि इसमें नहीं आते।

६. चित्रकारी, हस्तलेख तथा कलात्मक रचनायें जो राष्ट्र के लिये वैज्ञानिक अथवा ऐतिहासिक महत्त्व की हों और जिन्हें मृतक के परिवार में रखने की व्यवस्था हो अथवा जिन्हें सरकार को, किसी विश्वविद्यालय को अथवा अन्य सार्वजनिक संस्था को दे दिया जाय।

द्वितीय प्रकार की छूटों में निम्नांकित सम्पत्तियां आती हैं :—

१. कृषि-भूमि।

२. वह सम्पत्ति जिनसे मृतक ने किसी सार्वजनिक दान के रूप में मृत्यु के छः महीने पहले की अवधि के अन्तर्गत अर्पित किया हो। इस प्रकार की छूट केवल २ हजार ५ सौ रुपये तक ही सीमित है।

३. वह सम्पत्ति जिनसे मृतक ने अपनी मृत्यु के २ वर्ष पूर्व की अवधि के भीतर किसी सार्वजनिक दातव्य उद्देश्य के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से अर्पित किया हो। यह छूट केवल १ हजार ५ सौ रुपये तक ही मिलती है।

४. मृतक द्वारा अपने जीवन पर लिये गये बीमा-पत्र के सम्बन्ध में सुलभ होने वाली बीमा-राशि; किन्तु कुल मात्रा पांच हजार रुपये से अधिक न हो।

५. किसी बीमा-पत्र के अन्तर्गत अथवा प्रन्यास की घोषणा में अलग की हुई वह राशि जिसे मृतक ने माता अथवा पिता अथवा स्वाभाविक अभिभावक के रूप में अपने पर आश्रित किसी अपनी सम्बन्धी लड़की के विवाह के लिये कायम किया हो। इस राशि की अधिकतम मात्रा प्रत्येक ऐसे संबंधी के लिये पांच हजार रुपये तक हो सकती है।

६. मृतक द्वारा अपने जीवन पर लिये गये एक अथवा अनेक ऐसे बीमा-

पत्रों पर सुलभ होने वाली राशि जिन्हें सम्पत्ति-शुल्क के भुगतान के लिये लिया गया हो अथवा जिन्हें सम्पत्ति-शुल्क के भुगतान में सरकार के पक्ष में अर्म्यापित किया गया हो। इस राशि की भी अधिकतम सीमा पचास हजार रुपये है।

७. सरकार के यहां सम्पत्ति-शुल्क के भुगतान के हेतु जमा की गयी राशि तथा उस पर अर्जित सूद जिसकी सम्मिलित राशि शुल्क की मात्रा तक हो। ऐसी राशि पर छूट की सीमा पचास हजार रुपये तक ही है।

सम्पत्ति-शुल्क-निर्धारण

इन छूटों को दृष्टि में रखते हुए मृतक की सम्पत्तियों पर शुल्क लगाने की व्यवस्था सम्पत्ति-शुल्क-अधिनियम के अन्तर्गत की जाती है। सम्पत्ति-शुल्क की दरे दो प्रमुख वर्गो मे विभक्त की जा सकती हैं। एक तो वे दरें है जो ऐसी सम्पत्तियों के सम्बन्ध में लागू होती है जो मिताक्षरा, मरुमक्कटट्यम अथवा अलियसन्तन विधानों द्वारा नियत्रित सयुक्त हिन्दू परिवारो की संपत्तियों से सम्बद्ध हैं। दूसरी वे दरे हैं जो अन्य सभी सम्पत्तियो पर लागू होती है।

भारत से बाहर संस्थापित किसी ऐसी कम्पनी के सदस्य द्वारा रखे जाने वाले अशो पर उसकी मृत्यु के उपरान्त लगने वाले सम्पत्ति-शुल्क की दरें सम्पत्तियों पर लागू दरो से भिन्न होती है। परतु ये दरें तभी लागू होती है जबकि वह कम्पनी शुल्क लगने वाले वर्ष के पहले तीन कर-निर्धारण-वर्षो मे से २ वर्षों के लिये भारतीय आयकर-अधिनियम के अनुसार निवासी मानी गयी हो। ऐसे अंशों पर-यदि उनका मूल्य पाच हजार रुपये से अधिक नही है तो, कुछ भी सम्पत्ति-शुल्क नही लगता। पाच हजार रुपये से उनका मूल्य जितना अधिक होगा उस पर साढ़े सात प्रति-सैकड़ा की दर से सम्पत्ति-शुल्क लगाया जाता है।

पूर्व लिखित सम्पत्ति-शुल्क की दरों के दोनों वर्गों का उल्लेख नीचे दी हुई तालिकाओं में किया गया है :—

सम्पत्ति-शुल्क की दरें

मिताक्षरा, मरुमक्कटट्यम अथवा अलियसन्तन विधानों द्वारा नियंत्रित संयुक्त-हिन्दू परिवारों से सम्बन्धित सम्पत्तियों पर लगने वाली सम्पत्ति-शुल्क की दरें :—

विवरण							कर की दरें		
सम्पत्ति के मूल्य के			प्रथम	५०	हजार	रुपये पर	कुछ नहीं		
,,	,,		अगले	५०	,,	,, ,,	५	प्रति	सैकड़ा
,,	,,		,,	५०	,,	,, ,,	७½	,,	,,
,,	,,		,,	५०	,,	,, ,,	१०	,,	,,
,,	,,		,,	१	लाख	,, ,,	१२½	,,	,,
,,	,,		,,	२	,,	,, ,,	१५	,,	,,
,,	,,		,,	५	,,	,, ,,	२०	,,	,,
,,	,,		,,	१०	,,	,, ,,	२५	,,	,,
,,	,,		,,	१०	,,	,, ,,	३०	,,	,,
,,	,,		,,	२०	,,	,, ,,	३५	,,	,,
शेष पर			.....				४०	,,	,,

अन्य सम्पत्तियों पर लागू होने वाली दरें—

विवरण							कर की दरें		
सम्पत्ति के मूल्य के			प्रथम	१	लाख	रुपये पर	कुछ नहीं		
,,	,,		अगले	५०	हजार	,, ,,	७½	प्रति	सैकड़ा
,,	,,		,,	५०	,,	,, ,,	१०	,,	,,
,,	,,		,,	१	लाख	,, ,,	१२½	,,	,,
,,	,,		,,	२	,,	,, ,,	१५	,,	,,
,,	,,		,,	५	,,	,, ,,	२०	,,	,,
,,	,,		,,	१०	,,	,, ,,	२५	,,	,,
,,	,,		,,	१०	,,	,, ,,	३०	,,	,,
,,	,,		,,	२०	,,	,, ,,	३५	,,	,,
शेष पर			.....				४०	,,	,,

सम्पत्ति-शुल्क का भार

सम्पत्ति-शुल्क की उपर्युक्त दरों का विश्लेषण उसके भार की व्याख्या के बिना पूर्ण नहीं माना जा सकता। सम्पत्ति के विभिन्न मूल्यों पर कर-भार कितना आता है इसे समझना इसलिये भी आवश्यक है कि सम्पत्ति-शुल्क लगाने के उद्देश्य की पूर्ति का अनुमान इसके भार की व्याख्या से ही किया जा सकता है। नीचे दी हुई तालिका में सम्पत्ति-मूल्य की विभिन्न शिलाओं पर सम्पत्ति-शुल्क का भार प्रदर्शित है :—

(अ) प्रथम वर्ष की शुल्क-दरों के सम्बन्ध में :—

सम्पत्ति-शिलायें	शुल्क की दरें%	सम्पत्तियोंका कुल मूल्य	दिया जाने वाला सम्पत्ति-शुल्क	औसत शु० दर%
प्रथम ५०,००० रुपये पर	—	५०,०००	—	—
अगले ,, ,, ,,	५	१,००,०००	२,५००	२.५०
अगले ,, ,, ,,	७½	१,५०,०००	६,२५०	४.१७
,, ,, ,, ,,	१०	२,००,०००	११,२५०	५.६३
,, १,००,००० ,, ,,	१२½	३,००,०००	२३,७५०	७.९२
,, २,००,००० ,, ,,	१५	५,००,०००	५३,७५०	१०.७५
,, ५,००,००० ,, ,,	२०	१०,००,०००	१,५३,७५०	१५.३८
,, १०,००,००० ,, ,,	२५	२०,००,०००	४,०३,७५०	२०.१९
,, १०,००,००० ,, ,,	३०	३०,००,०००	७,०३,७५०	२३.४६
,, २०,००,००० ,, ,,	३५	५०,००,०००	१४,०३,७५०	२८.०८
शेष पर	४०			

(ब) द्वितीय वर्ग की शुल्क-दरों के सम्बन्ध में :—

सम्पत्ति-शिलायें	शुल्क की दरें %	सम्पत्तियोंका कुल मूल्य (रुपये)	दिया जाने वाला शुल्क की सम्पत्ति-शुल्क (रुपये)	दर %
प्रथम १ लाख रुपये पर		१,००,०००	—	—
अगले ५० हजार ,, ,,	७½	१,५०,०००	३,७५०	२.५०
,, ५० ,, ,, ,,	१०	२,००,०००	८,७५०	४.३८
,, १ लाख ,, ,,	१२½	३,००,०००	२१,२५०	७.०८
,, २ ,, ,, ,,	१५	५,००,०००	५१,२५०	१०.२५
,, ५ ,, ,, ,,	२०	१०,००,०००	१,५१,२५०	१५.१३
,, १० ,, ,, ,,	२५	२०,००,०००	४,०१,२५०	२०.०६
,, १० ,, ,, ,,	३०	३०,००,०००	७,०१,२५०	२३.३८
,, २० ,, ,, ,,	३५	५०,००,०००	१४,०१,२५०	२८.०३
शेष पर.....	४०			

उपर्युक्त तालिकाओं में दिये गये विवरणों से स्पष्ट है कि सम्पत्ति-शुल्क का भार कम सम्पत्तियों की अपेक्षा बड़ी सम्पत्तियों पर अधिक है। पचास लाख या उससे अधिक मूल्य वाली सम्पत्तियां चार-पांच बार सम्पत्ति-शुल्क लगने के बाद ही बहुत कुछ समाप्त हो सकती है; अर्थात् इतनी मूल्य वाली सम्पत्तियो के अधिकारी सम्पत्ति-शुल्क के प्रभाव से चौथी पीढ़ी चलते-चलते सम्पत्ति-सम्बन्धी सुविधाओं से वंचित किये जा सकते है। लेकिन कम संपत्ति वाले लम्बी अवधि के पश्चात् ही सम्पत्ति-शुल्क से प्रभावित हो सकेंगे; युनाइटेड किंगडम की तुलना में हमारे यहां के सम्पत्ति-शुल्क का भार अपेक्षाकृत बहुत कम है। वहां की एक-लाख तक की सम्पत्तियों पर तीन प्रतिशत सम्पत्ति-शुल्क लगता है; जबकि भारत में डेढ़ लाख की सम्पत्ति पर केवल २.५ प्रतिशत शुल्क आता है। ५० लाख रुपये की सम्पत्ति पर युनाइटेड किंगडम में ६५ प्रतिशत सम्पत्ति-शुल्क लगता है और भारत में उतनी ही सम्पत्ति पर केवल २८ प्रतिशत शुल्क लगता है। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में १० लाख और उससे ऊपर वाली सम्पत्ति पर लगने वाला

सम्पत्ति-शुल्क भारत की तुलना में अधिक है, यद्यपि ५ लाख रुपये और उससे कम मूल्य वाली सम्पत्तियों पर भारतीय सम्पत्ति-शुल्क की औसत दर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की तुलना में अधिक है। इन आकड़ों से स्पष्ट है कि युनाइटेड किंगडम और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका इन दोनों देशों में अधिक मूल्यवाली सम्पत्तियों के कारण सम्पत्ति-वितरण की असमानता मिटाने का प्रयास भारत की तुलना में अधिक हो रहा है। इन देशों तथा कुछ अन्य देशों के आंकड़े नीचे दी हुई तालिका में प्रदर्शित है:—

भारत तथा अन्य देशों में प्रचलित सम्पत्ति-शुल्क के भार (प्रतिशत मे)[1]

सम्पत्तियों का मूल्य (रुपयो में)	भारत	युनाइटेड किंगडम	संयुक्तराष्ट्र अमेरिका	आस्ट्रेलिया	लंका	पाकिस्तान
१,००,०००	—	३.०	—	३.०	४.०	—
१,५०,०००	२.५	६.०	—	३.९	५.०	६.०
२,००,०००	४.४	८.०	—	५ २	७.२	६.०
३,००,०००	७.०	१५.०	—	७.१	८.०	८.०
५,००,०००	१०.०	२४.०	४.८	१०.३	१०.०	१२.०
१०,००,०००	१५.०	४०.०	१७.१	१५.५	१२.०	२५.०
१५,००,०००	१८ ४	५०.०	२२ ४	१६ ६	१४.०	३०.०
२०,००,०००	२०.०	५०.०	२५.२	२६ १	१६.०	३०.०
२५,००,०००	२२.०	५५.०	२७.८	२६.१	१८.०	३५.०
३०,००,०००	२३.३	६०.०	२९.५	२६.५	१८.०	३५.०
३५,००,०००	२५.०	६०.०	३१.०	२७ ०	२०.०	३५.०
५०,००,०००	२८.०	६५.०	३४.५	२७.२	२५.०	३५.०
१,००,००,०००	३४.०	७०.०	४२.५	२७.३	३०.०	३५.०

इन आंकड़ो से स्पष्ट है कि भारत में सम्पत्ति-शुल्क का भार अनेक देशों की तुलना मे कम है। पाकिस्तान में भी यहां की अपेक्षा सम्पत्ति-शुल्क की औसत दर अधिक है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लगभग सभी स्तरों पर सम्पत्ति-शुल्क की दर बढ़ायी जा सकती है।

१. सेन्ट्रल बोर्ड आफ रिवेन्यू द्वारा सन् १९५४ में प्रकाशित "एस्टेट ड्यूटेट फार दी लेमैन" के ९८ पृष्ठ से।

निष्कर्ष

भारत में सम्पत्ति-शुल्क के सम्बन्ध में दिये गये उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि इसके प्रारम्भ ने भारतीय-कर-व्यवस्था की एक बड़ी कमी पूरी कर दी है। समाजवादी सामाजिक ढाँचे की रचना के क्रम में अपनाये गये साधनों में भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है, यद्यपि इसका प्रभाव लम्बी अवधि के पश्चात् ही प्रकट होता है। इसके भार और छूटों को देखते हुये यह भी कहा जा सकता है कि सम्पत्ति-शुल्क से कार्य-प्रेरणा पर पड़ने वाले अनुचित प्रभावों को भी अधिक से अधिक सीमित रखने का प्रयास किया गया है। सम्पत्ति-शुल्क के सम्बन्ध में सबसे बड़ी हिचक उसके प्रशासन के बारे में होती है। इस शुल्क से सुलभ होने वाला राजस्व प्रशासन-संबंधी अनुपयुक्तता का ही संकेत करता है। सन १९५४-५५ में इससे कुल ८१ लाख रुपये प्राप्त हो सके थे। सन् १९५५-५६, १९५६-५७, १९५७-५८ के आंकड़े भी जो क्रमशः एक करोड़ ८१ लाख रुपये; २ करोड़ ५२ लाख रुपये तथा २ करोड़ ५२ लाख रुपये थे, सम्पत्ति-शुल्क से राजस्व संबंधी योग की अनुपयुक्तता प्रदर्शित करते हैं।

धन-कर का प्रारम्भ होने के बाद से यह आशा प्रकट की जाती है कि सम्पत्ति-सम्बन्धी आंकड़ों का उचित संग्रह होने से संपत्ति-शुल्क ठीक-ठीक लगाना सम्भव हो सकेगा। आंकड़ों के अभाव में ही सम्पत्ति-शुल्क का प्रशासन उचित रीति से नहीं हो पाता था। किन्तु क्या संपत्ति संबंधी आंकड़ों का ज्ञान ही सपत्ति-शुल्क-वंचन को रोकने में सहायक हो सकेगा? इसका उत्तर प्रशासन-स्तर को ऊंचा उठाये बिना संदिग्ध ही रहेगा। अन्य सभी प्रत्यक्ष करों की भाँति सम्पत्ति-शुल्क को राजस्व का प्रमुख स्रोत और समाजवादी सामाजिक ढाँचे की रचना का एक महत्त्वपूर्ण साधन बनाने के लिए उसकी प्रशासन-व्यवस्था को समुन्नत बनाना ही होगा।

अध्याय ७

व्यय-कर

पिछले कुछ वर्षों से भारतवर्ष की कर-व्यवस्था के अन्तर्गत दो और नये प्रत्यक्ष कर सम्मिलित किये गये हैं। व्यय-कर और उपहार-कर, ये दो नये कर हैं। इनका प्रयोग इसलिए प्रारम्भ किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति की करदेय-क्षमता के अनुसार कर लगाने की अधिक से अधिक व्यवस्था सम्भव हो सके, अधिक व्यय अथवा अर्पण द्वारा सम्पत्ति-शुल्क और धन-कर के प्रभावों को मिटाने के प्रयास सफल न हों तथा विकासवादी योजनाओं को चलाने के लिए राजस्व में उचित वृद्धि की जा सके।

प्रस्तुत अध्याय मे व्ययकर के और अगले अध्याय में उपहारकर के सैद्धांतिक आधारों तथा व्यावहारिक रूपों का विश्लेषण किया गया है।

सैद्धान्तिक आधार

विविधरूपीय कर-व्यवस्था के अन्तर्गत कर लगाने का आधार आय, पूजी तथा सम्पत्ति तो है ही, व्यय के आधार पर भी प्रत्यक्ष-कर लगाया जाता है। यों तो सीमा-शुल्क, उत्पादन-शुल्क, बिक्री अथवा क्रय-कर व्यय पर ही अप्रत्यक्ष रूप से लगने वाले कर है, लेकिन इनका प्रभाव व्यय पर प्रत्यक्ष रूप से लगाये जाने वाले कर की अपेक्षा सीमित होता है, क्योंकि उनका भार इच्छानुसार हटाया अथवा हस्तांतरित किया जा सकता है। छूट की ऊंची सीमा के साथ व्यक्तियों के व्यय पर लगाये जाने वाला कर एक ऐसा प्रगामी प्रत्यक्ष-कर बन जाता है जिसे एक अर्द्ध-विकसित देश के कर-ढांचे में सत्व की दृष्टि से इस्तेमाल किया जाना आवश्यक होता है। इससे निरर्थक व्ययों को रोक कर पूजी-निर्माण की वृद्धि की जा सकती है। आय-कर तथा-अन्य प्रत्यक्ष-करों के अन्तर्गत कर-वंचन रोकने के लिये भी व्यय-कर उपयोगी हो सकता है। व्यय-कर के पत्र में प्रगट किये जाने वाले इन प्रमुख विचारों का विश्लेषण आगे दिया गया है।

व्यय-कर के पक्ष में प्रगट किये जाने वाले विचार

जैसा कि पहले संकेत किया गया है, व्यय-कर से नीचे लिखी चार प्रमुख सुविधायें प्राप्त हो सकती हैं:—

१. इससे करदाता की बचत बढ़ाने तथा विनियोग करने की प्रवृत्ति को प्रभावित करके इस सम्बन्ध में होने वाले उसके व्यवहारों को बदला जा सकता है।

२. आय-कर सम्बन्धी कर-वंचन को रोककर उसके प्रशासन को अधिक कुशल और उपयुक्त बनाया जा सकता है।

३. व्यावसायिक खाते से व्यक्तिगत व्ययों को पूरा करने की नीति को रोका जा सकता है।

४. सम्पन्न वर्गों के व्ययों को नियन्त्रित रखकर पूंजी-निर्माण में वृद्धि की जा सकती है।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से व्यय-कर आय-कर से भी उत्तम है, क्योंकि आय की अपेक्षा व्यय की मात्रा ठीक-ठीक मालूम करना सरल है और व्यय ही किसी व्यक्ति की करदेय-योग्यता का अधिक परिचायक भी है।

करदाता के व्यवहार पर व्यय-कर का सम्भावित प्रभाव

भारत की वर्तमान आर्थिक स्थिति में, जबकि व्यक्तियों की आय बढ़नेके साथ साथ व्यय के बढ़ने की पूरी सम्भावना है, व्यय को नियन्त्रित रखने के लिये व्यय-कर लगाना आवश्यक है। आय-कर अथवा सम्पत्ति-शुल्क की दर में चाहे कितनी वृद्धि क्यों न कर दी जाय, किन्तु उससे व्यय को प्रत्यक्ष रूप से घटाने की व्यवस्था करना संभव नहीं है। इस सम्बन्ध में श्री कॉल्डर का यह कथन उपयुक्त है कि आय पर लगने वाले कर की ऊंची सीमान्त दर से सम्पत्ति-स्वामियों की बचतों तथा विनियोग-सम्बन्धी व्यवहारों पर अनुचित प्रभाव पड़ते हैं, कर-प्रशासन की उचित व्यवस्था द्वारा उन्हें केवल सीमित रखा जा सकता है। प्रशासन-क्रम दोषपूर्ण होने से कर-दाताओं को कर-वंचन के अनेक स्रोत सुलभ हो जाते हैं, जिनसे वे अपनी जोखिम

वाली पूंजी से कर-मुक्त लाभ कमाते हैं और कर-मुक्त बचत से पूंजी-संग्रह करते हैं। यदि प्रशासन और अधिक सुव्यवस्थित कर दिया जाय तो यह सम्भव है कि बहुत से पूंजी-लाभों को करारोपित किया जा सकता है और कर-वंचन के अनेक स्रोतों को बद किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में आय पर कर की ऊंची सीमान्त दरें नहीं रखी जा सकतीं, क्योंकि उनका भार बहुत अधिक हो जाता है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि प्रगामी प्रत्यक्ष करारोपण को महत्त्वपूर्ण और प्रभावी स्थान देना है तो केवल आय को ही करारोपण का आधार नहीं बनाना चाहिए। इससे एक निश्चित सीमा के परे वांछित प्रभाव नहीं पड़ सकता। आय-कर की इस सीमा को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रगामी करारोपण नागरिकों की आय के साथ-साथ व्यय पर भी आवश्यकतानुरूप आधारित रखा जाय।

कुछ लोगों का यह विचार है कि सम्पत्ति पर लगने वाले करों, जैसे सम्पत्ति-शुल्क, धन-कर, आदि के लगाने से, व्यय पर नियंत्रण रखने के साधन-रूप में व्यय-कर का महत्त्व समाप्त हो जाता है। लेकिन यदि इस पर दूर तक विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि व्यक्तिगत व्ययों पर कर लगाने से सम्पत्ति-करों के कारण धनी वर्गों की बचत तथा विनियोग-सम्बन्धी आदतों पर पड़ने वाले अनुचित प्रभावों को सीमित रखा जा सकता है। सम्पत्ति-करो से संग्रह की दर में कमी आती है। किन्तु इसके साथ ही व्ययों को भी प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यदि सम्पत्ति-करो के साथ व्यय-कर भी लगाया जाय तो उससे एक-दूसरे के अच्छे प्रभाव समाप्त नही हो पाते और साथ ही सम्पन्न व्यक्तियों के जीवन-स्तर को नियन्त्रित रखना भी सम्भव होता है। इससे सम्पत्तियों के समान वितरण से सम्बन्धित समाजवादी उद्देश्य की पूर्ति में सहायता मिलती है।

कर-वंचन पर नियन्त्रण

व्यय-कर के सम्बन्ध में करदाता को एक निश्चित अवधि में होने वाली प्राप्तियों तथा उनसे किये जाने वाले व्ययों की पूरी सूचना देनी पड़ती है। आय-कर तथा सम्पत्ति-करों के साथ लगाये जाने वाले व्यय-कर के अन्तर्गत किसी भी व्यक्ति द्वारा किसी विशेष व्यवहार को छिपाना सम्भव नहीं है; क्योंकि एक व्यक्ति के लिये जो व्यवहार आय का स्रोत है वही दूसरे के व्यय का कारण बन जाता है। इसके अतिरिक्त इन तीनों करों के संबंध में प्रत्येक करदाता को अपना वैयक्तिक आर्थिक

चिट्ठा तैयार करना होता है जिसमें कुल प्राप्तियों तथा कुल व्यय के आधार पर शुद्ध सम्पत्ति की मात्रा वर्ष के प्रारम्भ में तथा अन्त में दिखानी पड़ती है। इससे अपने आप ही कुल आय, कुल व्यय तथा पूंजी की कुल वृद्धि प्रगट हो जाती है। ऐसी स्थिति में न तो आय-कर और व्यय-कर के सम्बन्ध में किसी प्रकार का छिपाव हो सकता है और न सम्पत्ति-करों में ही किसी प्रकार का कर-वंचन सरल है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आय-कर तथा सम्पत्ति-करों के साथ व्यय-कर का प्रयोग कर-वंचन रोकने में बहुत कुछ सहायक हो सकता है।

व्यावसायिक व्ययों पर नियन्त्रण

व्यापारिक संस्थाओं, विशेषतः कम्पनियों के कर-निर्धारण के रूप में व्यावसायिक व्ययों को व्यक्तिगत व्ययों से अलग करना प्रायः कठिन हो जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि उन व्यक्तियों को जो व्यापार से सम्बद्ध होते है, नकद रोकड़ में भुगतान न करके वस्तुयें दी जाती हैं। यदि प्रत्येक कर-दाता से उसके व्यक्तिगत व्ययों और आयों का लेखा प्राप्त किया जाय तो यह मालूम करना सरल हो जायगा कि उसके कितने व्यय अपनी आय से हुये हैं और कितने व्यय व्यवसाय के व्यय के रूप में मान लिये गये है। इन विवरणों से व्यवसाय के वास्तविक व्ययों को निश्चित करना सम्भव हो सकेगा और व्यावसायिक आय पर आय-कर ठीक से लगाया जा सकेगा।

पूँजी-निर्माण

प्रगामी व्यय-कर की सहायता से सम्पन्न वर्गो के व्यक्तिगत व्ययों को सीमित रखा जा सकता है। यदि चालू आय की तुलना में उपभोग की मात्रा घट जाय तो उससे बचत की मात्रा बढ़ेगी। बचत की वृद्धि अतिरिक्त विनियोग का आधार प्रस्तुत करती है। विनियोग बढ़ने से ही आर्थिक विकास की गति तेज होती है। भारत जैसे देश में, जहां अधिकाश जनता का जीवनस्तर बहुत निम्न है, सम्पन्न वर्गों के उपभोग की प्रवृत्ति को नियंत्रित रखना बचत बढ़ाकर पूजी-निर्माण की गति तेज करने के लिये अनिवार्य है। विकास-संबंधी उपभोगों का ही कुछ व्यक्तिगत व्ययों में ऐसा स्थान है जिन पर नियंत्रण लगा कर पूजी-निर्माण बढ़ाया जा सकता है। इस संबंध में व्यय-कर बहुत उपयोगी होता है।

व्यय-कर के विरुद्ध प्रगट किये जाने वाले विचार

व्यय-कर के विरोध में प्रगट किये जाने वाले विचारों को नीचे लिखे वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

१. व्यक्ति पर पड़ने वाले अन्य कर-भारों की दृष्टि से व्यय-कर की अनुपयुक्तता।

२. सम्पत्ति-कर के साथ व्यय-कर के साम्य का अभाव।

३. प्रशासन-संबंधी कठिनाई।

४. कृषि संबंधी व्ययों को व्यय-कर से छूट मिलने पर व्यक्तिगत व्ययों को कृषि-व्ययों में मिलाने का व्यापक क्रम।

उपर्युक्त बातों मे से कुछ पर इसके पहले विचार प्रकट किया जा चुका है। प्रशासन-संबंधी कठिनाई को व्यय-कर के विरोध में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। अन्य करों के साथ व्यय-कर लगने पर करदाता को अपनी सपूर्ण व्यवस्था की सूचना देनी पड़ती है। यह उसके लिये बहुत ही असुविधापूर्ण होता है। सही सूचनाओं के अभाव मे किसी भी कर का प्रशासन उचित रीति से सम्भव नहीं है। लेकिन प्रशासनिक कठिनाई की वास्तविकता पर यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि व्यय-कर से प्रभावित होने वाले कुल कर-दाता ८ हजार से अधिक नहीं होते, जिनमें १ हजार ५ सौ के लगभग हिन्दू अविभक्त परिवार हैं और शेष व्यक्तिगत कर-दाता। ८ हजार कर-दाताओ के संबंध मे उचित जांच करना और आवश्यक सूचना प्राप्त करना भारत सरकार के राजस्व विभाग के लिए बहुत कठिन नही है। सही सूचनाओं को एकत्र करने से करदाताओं के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप भी नही माना जा सकता। यदि करदाता को इस संबध में किसी प्रकार की आपत्ति होती है तो उसे अपील करने का अधिकार सुलभ है, जिसके प्रयोग से वह कर-प्रशासको के निर्णयों के संबंध में उचित न्याय प्राप्त कर सकता है।

भारतीय व्यय-कर

भारत में व्यय-कर का आरम्भ सन् १९५८ वाले वित्त-अधिनियम द्वारा पहली अप्रैल सन् १९५८ से किया गया। यह प्रत्येक वित्तीय वर्ष में व्यक्ति अथवा संयुक्त हिन्दू परिवार द्वारा किये जाने वाले व्ययों पर लगाया जाता है। आय-कर की तरह व्यय-कर लगाने का आधार भी पूर्व वर्ष ही होता है। इसे ऐसे ही लोगों

पर लगाया जाता है जिनकी सभी करों को चुकाने के बाद शुद्ध आय ३६ हजार रुपये से अधिक हो। व्यय-कर की अन्य विशेषतायें नीचे दी गयी हैं :—

व्यय-कर अधिनियम की प्रमुख बातें

अन्य प्रत्यक्ष करों की तरह व्यय-कर की व्याख्या के अन्तर्गत भी व्यय-कर लगने वाली राशि, व्यय-कर से छूट, करदेय-व्यय की मात्रा निश्चित करते समय घटाई जाने वाली राशि, व्यय-कर-निर्धारण की पद्धति आदि विचारणीय बातें हैं। इन्हीं पर क्रम से प्रकाश डाला जायगा।

करारोपित व्यय में सम्मिलित होनेवाली राशियां

व्यय-कर-दाता पर यह कर लगाते समय उसका व्यय मालूम करने के लिये नीचे दी हुई राशियाँ सम्मिलित की जाती हैं:—

१. उस व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति द्वारा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से किये जाने वाले वे सभी व्यय जिनका भुगतान कर-दाता अपने किसी दायित्व अथवा निजी आवश्यकता के संबंध में करता है अथवा जिन्हें करदाता अपने किसी आश्रित के लिए अवश्य भुगताता है। लेकिन करदाता के लिये किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले ऐसे व्ययों की अधिक से अधिक राशि किसी वर्ष ५ हजार रुपये हो सकती है।

२. करदाता के किसी आश्रित द्वारा करदाता के लिये अथवा उसके किसी आश्रित के लिए किया हुआ वह व्यय जो करदाता द्वारा किये हुए किसी अर्पण अथवा दान या उसके द्वारा बनाये हुये किसी प्रन्यास अथवा किसी अन्य स्रोत द्वारा किया गया हो।

३. करदाता द्वारा किये जाने वाले वे सभी व्यय जिन्हें व्यय-कर लगाते समय छूट नहीं दी जाती।

व्यय-कर-निर्धारण के सम्बन्ध में दी जानेवाली छूटें

व्यय-कर-अधिनियम के अन्तर्गत नीचे लिखे व्ययों पर कर नहीं लगता :—

१. करदाता द्वारा आमदनी के उद्देश्य से चलाये जाने वाले किसी व्यवसाय अथवा पेशे के संबंध में किये जाने वाले पूंजी अथवा आगम सम्बन्धी सभी व्यय।

२. करदाता द्वारा अथवा उसके बदले उसके नियोक्ता द्वारा किये जाने वाले वे सभी व्यय, जो करदाता के रोजगार सम्बन्धी सभी कर्तव्यों की पूर्ति के लिये पूर्णतः आवश्यक हैं।

३. करदाता को सरकार से सुपुर्द किसी भी कर्तव्य की पूर्ति के सम्बन्ध में किये जाने वाले सभी व्यय।

४. आयकर-अधिनियम की धारा ४ की उप-धारा ३, कण्डिका ६ (अ) में उल्लिखित सभी मदों के सम्बन्ध में करदाता द्वारा अथवा उसके बदले अन्य किसी व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले सभी व्यय।

५. करदाता की सभी अचल सम्पत्तियों के सुधार, सुरक्षा, मरम्मत अथवा निर्माण के सम्बन्ध में किये जाने वाले सभी व्यय। अचल सम्पत्तियों की प्राप्ति के सम्बन्ध में होने वाले व्ययों पर भी छूट मिलती है।

६. करदाता द्वारा किसी जमा, ऋण, अंश और प्रतिभूति, धातु, कीमती पत्थर अथवा जवाहरात में किये जाने वाले विनियोगों से सम्बन्धित सभी व्यय।

७. करदाता द्वारा भारत में किसी कुटीर-उद्योग को अथवा किसी पुस्तक अथवा कलात्मक कृति को क्रय करने में किये जाने वाले सभी व्यय। ऐसे व्ययों की छूट केन्द्रीय सरकार द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार दी जाती है।

८. किसी फर्म अथवा व्यक्तियों के संघ को लाभ में हिस्सा पाने के उद्देश्य से दी जाने वाली पूजी।

९. किसी ऋण की अदायगी अथवा सूद के भुगतान के रूप में करदाता द्वारा किये जाने वाले सभी व्यय। लेकिन यदि सूद ऐसे किसी ऋण अथवा उधार ली हुई राशि पर दिया गया हो जो व्ययकर-अधिनियम के अन्तर्गत करारोपित होने वाली किसी मद से संबंधित हों तो उन पर व्यय-कर-अधिनियम के अन्तर्गत छूट नही मिलती।

१०. करदाता द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति के हित में किये जाने वाले अर्पण, दिये जाने वाले दान अथवा बनाये जाने वाले प्रन्यास से सम्बन्धित सभी व्यय।

११. नीचे लिखे किसी भी बीमा-पत्र पर दी जाने वाली किश्त के भुगतान के रूप में व्ययः—

(अ) करदाता के निजी जीवन अथवा अपने किसी आश्रित के जीवन पर लिये हुए बीमा-पत्र।

(ब) करदाता के किसी आश्रित की शिक्षा अथवा शादी के लिये लिया गया बीमा-पत्र।

(स) करदाता के स्वास्थ्य अथवा उसके संबंध में होने वाली किसी दुर्घटना के लिये लिया जाने वाला बीमा-पत्र।

(द) करदाता की किसी सम्पत्ति की हानि अथवा आग या चोरी से होने वाली क्षति के सम्बन्ध में लिया गया बीमा-पत्र।

१२. करदाता द्वारा मवेशियों के खरीदने और रखने में किया जाने वाला व्यय।

१३. किसी दातव्य अथवा धार्मिक उद्देश्य से जन-हित के लिये किया जाने वाला व्यय।

१४. करदाता द्वारा आयकर-अधिनियम की धारा ७ की उपधारा २, कण्डिका २ में उल्लिखित आमोद-भत्ता के अन्तर्गत प्राप्त भत्ते से किया जाने वाला खर्च।

१५. भारत के बाहर किया जाने वाला व्यय:—

इसमें व्यय के स्रोत के अनुसार दो वर्ग किये जा सकते हैं:—

(अ) जो करदाता भारत के नागरिक न हो और न भारत के निवासी हो, उनके द्वारा भारत के बाहर किसी स्रोत से किया हुआ व्यय व्यय-कर से मुक्त होता है।

(ब) जो करदाता भारत के निवासी हो, किन्तु नागरिक न हो अथवा भारत के नागरिक या एक अविभक्त हिन्दू परिवार होते हुए भी भारत के साधारण निवासी अथवा निवासी न हों, उनके द्वारा भारत के बाहर उत्पन्न हुई अथवा प्राप्त होने वाली किसी भी आय अथवा पूजी से किया जाने वाला व्यय कर से मुक्त होता है।

१६. किसी प्राविडेट फण्ड अथवा वार्षिकी कोष (सुपरऐन्युएशन फड) मे योगदान-सम्बन्धी व्यय।

१७. केन्द्रीय सरकार द्वारा किसी करदाता के लिये आश्वासित अथवा प्रतिभूत निजी कोष के लिए किये जाने वाले वे व्यय जो निजी व्यय के अन्तर्गत नही आते और जो नीचे दिये हुए किन्हीं प्रकारों में से एक हों:—

(अ) अपने नौकरों में से किसी के रहन-सहन का व्यय तथा उनको दिया जाने वाला वेतन, भत्ता और अपने कार्यकर्त्ताओं में से किसी के अवकाशग्रहण पर दी जाने वाली पेंशन।

(ब) विलीन रियासतों की करारोपण सम्बन्धी छूटों के सन् १९४९ वाले आदेश के पैरा १३ अथवा "ब" वर्ग के राज्यों की करारोपण छूट के सन् १९५० वाले आदेश के पैरा १५ के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार द्वारा जिन भवनों को करदाता के निवास-स्थान के रूप में घोषित कर दिया गया हो उनकी सुरक्षा पर किये जाने वाले सभी व्यय।

(स) किसी सरकारी कार्य के लिये रखी हुई सवारी अथवा पशुओं के रखने का व्यय।

(द) किसी ऐसे संबंधी के जीवन-निर्वाह का व्यय, जो पूर्णतः करदाता पर आश्रित हो।

(य) किसी सरकारी उत्सव के मनाने के सम्बन्ध में किया हुआ व्यय। ऐसे व्यय की उपयुक्तता करदाता के पद अथवा उसके परिवार की परम्परा आदि की दृष्टि से व्यय-कर-अधिकारी द्वारा निश्चित की जाती है।

१८. करदाता द्वारा अथवा उसके किसी आश्रित द्वारा और जहा करदाता एक अविभक्त हिन्दू परिवार हो, तो उसके किसी सदस्य द्वारा भारत मे किसी विधान-मण्डल, नगरपालिका अथवा अन्य किसी सार्वजनिक सस्था मे सदस्यता प्राप्त करने के लिये लड़े जाने वाले चुनाव के सबध मे किया गया कुल व्यय। ऐसे व्यय की राशि चुनाव के विधान द्वारा निश्चित राशि से अधिक न हो।

करदेय-व्यय की राशि की गणना के सम्बन्ध में घटायी जानेवाली राशियां

करदेय-व्यय का निश्चय करते समय कुछ ऐसे खर्च होते है जिन्हे कुल व्यय मे से घटा दिया जाता है। ये खर्चे ऊपर बतायी गयी छूटो के अतिरिक्त होते है। इनका उल्लेख क्रम से नीचे किया गया है :—

१. सरकार को अथवा स्थानीय शासन को दिया गया किसी प्रकार का कर, शुल्क, रेट आदि। इनमे व्यय-कर की राशि भी सम्मिलित मानी जाती है। लेकिन नीचे लिखे हुए कर अथवा शुल्क इसमें सम्मिलित नही होते—

(अ) करदाता अथवा उसके किसी आश्रित व्यक्ति के निजी प्रयोग के लिए रखी गयी किसी सवारी अथवा अन्य चल सम्पत्ति के सम्बन्ध मे दिया हुआ कर अथवा शुल्क।

(ब) करदाता अथवा उसके किसी आश्रित व्यक्ति के निजी प्रयोग के लिये

बाहर से मंगायी हुई चीज पर आयात-शुल्क अथवा देश में खरीदी हुई किसी चीज की खरीद पर दिया हुआ कर।

२. करदाता द्वारा किसी अपने माल अथवा फौजदारी के मुकदमे में किया हुआ कानूनी व्यय।

३. करदाता द्वारा विवाह के सम्बन्ध में किया जाने वाला व्यय, जो उसके अपने विवाह पर हुआ हो अथवा अपने किसी आश्रित व्यक्ति के विवाह पर हुआ हो। यदि करदाता एक अविभक्त हिन्दू परिवार है तो उस परिवार के कर्त्ता अथवा उसके किसी सदस्य के विवाह पर किया गया व्यय। लेकिन अविभक्त हिन्दू-परिवार के लिये प्रत्येक सदस्य के विवाह पर होने वाले व्यय की अधिकतम छूट ५ हजार रुपये तक दी जाती है।

४. करदाता के निजी अथवा उसके किसी आश्रित व्यक्ति के प्रयोग के लिए क्रय की जाने वाली मोटरकार अथवा अन्य कोई सवारी अथवा फर्नीचर अथवा अन्य घरेलू सामान के क्रय के सम्बन्ध में किये जाने वाले पूंजी-व्यय का ४/५ भाग।

५. करदाता द्वारा अपने माता-पिता के निर्वाह का व्यय, जिसकी अधिकतम मान्य राशि ४ हजार रुपये है।

६. करदाता द्वारा अपनी चिकित्सा अथवा अपने किसी आश्रित व्यक्ति अथवा माता-पिता की चिकित्सा के संबंध में किया हुआ व्यय। यदि करदाता एक अविभक्त हिन्दू-परिवार है तो कर्त्ता अथवा उसके किसी अन्य सदस्य पर किया जाने वाला चिकित्सा-सम्बन्धी व्यय।

लेकिन प्रत्येक सदस्य पर ऐसा व्यय व्यक्ति-करदाता अथवा ऐसे अविभक्त हिन्दू-परिवार में जहां केवल कर्त्ता, उसकी स्त्री और बच्चे ही होते है, अधिक से अधिक ५ हजार रुपये तक हो सकता है। अन्य हिन्दू-परिवारों में इसकी अधिकतम राशि १० हजार रुपये होती है।

चिकित्सा-सम्बन्धी व्ययों की व्यवस्था के लिये अधिनियम में कुछ और शर्तें दी हुई हैं। उनका उल्लेख नीचे किया गया है :—

यदि किसी वर्ष चिकित्सा-व्यय-सम्बन्धी वैधानिक राशि खर्च नहीं हो पाती तो जितना हिस्सा खर्च होने से बच जाता है उसे अगले वर्षो में ले जाया जा सकता है।

यदि कोई करदाता व्यय-कर-अधिनियम के लागू होने के पहले वर्षों में अपने पर अथवा अपने किसी आश्रित पर अथवा अपने माता-पिता पर अधिक चिकित्सा-

व्यय करता रहा है तो व्यय-कर-अधिकारी पहली अप्रैल १९५८ से प्रारम्भ होने वाले अगले ५ वर्षों में से किन्हीं के लिए चिकित्सा-व्यय-सम्बन्धी वैधानिक छूट की मात्रा बढ़ा सकता है। लेकिन वृद्धि उचित हो और किसी भी परिस्थिति में २० हजार रुपये से अधिक न हो।

७. करदाता द्वारा अपनी शिक्षा अथवा अपने किसी आश्रित व्यक्ति की शिक्षा पर भारत के बाहर किये जाने वाले व्यय को भी करदेय व्यय से घटा देते हैं। लेकिन इस व्यय की वार्षिक उच्चतम सीमा ८ हजार रुपये होती है। अविभक्त हिन्दू-परिवार के किसी भी सदस्य की शिक्षा के लिये भारत से बाहर किये जाने वाले व्यय के लिये भी छूट मिलती है।

८. व्यक्ति तथा अविभक्त हिन्दू-परिवार को कुछ बुनियादी छूट भी दी जाती है। व्यक्ति के लिये यह छूट ३०,००० रुपये है। अविभक्त हिन्दू-परिवार में कर्त्ता, उसकी पत्नी और बच्चों के लिये ३० हजार रुपये एवं प्रत्येक अतिरिक्त सहभागी के लिये ३ हजार रुपये की और छूट मिलती है। अविभक्त हिन्दू-परिवार के लिये बुनियादी छूट की उच्चतम राशि ६० हजार रुपये है।

९. यदि कोई करदाता भारत का नागरिक नही है लेकिन निवासी है तो भारत के बाहर किसी भी देश में यदि वह कण्डिका ३ अथवा ५ अथवा ६ या ७ मे दी हुई सीमाओं के बाहर व्यय करता है तो उस व्यय पर भी १० हजार रुपये की सीमा तक छूट दी जाती है।

१०. यदि करदाता किसी वर्ष यह प्रमाणित कर दे कि जिस राशि में से इस अधिनियम के अन्तर्गत करारोपित होने वाला व्यय किया जाता है उस पर किसी बाहरी देश में किसी विधान के अन्तर्गत आय कर, सम्पत्ति-कर, अथवा व्यय-कर देना पड़ा है तो उसे व्यय-कर में एक निश्चित अनुपात से छूट मिलेगी। छूट की मात्रा विदेश में दिये गये कर के उस अनुपात में होगी जो उस व्यय और विदेश से प्राप्त कुल आय में है।

व्यय-कर-निर्धारण की पद्धति

प्रत्येक व्यक्ति को, जिसे अधिनियम के अनुसार व्यय-कर देना पड़ सकता है कर वर्ष के ३० जून के पहले ही पूर्व वर्ष के सम्पूर्ण व्ययों का विवरण कर-अधिकारी के यहां भेजना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यदि व्यय-कर-अधिकारी यह समझता है कि कोई व्यक्ति व्यय-कर के लिए दायी हो सकता है तो वह उसे यह सूचना भेजता

है कि सूचना की तारीख से ३० दिनों के भीतर अपने व्ययों का विवरण उचित ढंग से तैयार करके भेजे।

व्यय-कर-अधिनियम की धारा ३ के अनुसार व्ययों पर नीचे लिखी दरों से कर लगाया जाता है:—

व्यय	करकी दर
१. यदि व्यय १० हजार रुपये से अधिक नहीं है	१० प्रतिशत
२. यदि व्यय १० हजार रुपये से अधिक है, पर २० हजार रुपये से अधिक नहीं है।	२० ,,
३. यदि व्यय २० हजार रुपये से अधिक हो, पर ३० हजार रुपये से अधिक न हो।	४० ,,
४. यदि व्यय ३० हजार से अधिक हो किन्तु ४० हजार रुपये से अधिक न हो।	६० ,,
५. यदि व्यय ४० हजार रुपये से अधिक हो किन्तु ५० हजार रुपये से अधिक न हो।	८० ,,
६. यदि व्यय ५० हजार रुपये से अधिक हो।	१०० ,,

कभी-कभी व्यय-सम्बन्धी विवरण देते समय कुछ व्यय छूट जाते है अथवा करारोपित नही हो पाते, तो ऐसी परिस्थिति में कर-अधिकारी कर-वर्ष के अगले ४ वर्षो के भीतर छूटे अंश पर पुनः करारोपण कर सकता है। इसके लिए अधिनियम की धारा १३ की उपधारा २ में दिये हुये नियमों का पालन किया जाता है।

व्यय-सम्बन्धी सूचना छिपाने पर दण्ड की व्यवस्था

यदि व्यय-कर-अधिकारी को इस बात की विश्वस्त सूचना प्राप्त हो कि करदाता ने बिना किसी उचित कारण के आवश्यक व्यय-सम्बन्धी सूचना नहीं दी है अथवा उचित समय पर अकारण ही सूचना भेजने में असमर्थ रहा है, अथवा अधिनियम की धारा १५ की उपधारा ४ के अन्तर्गत दिये हुए नोटिस पर उचित कार्रवाई अकारण ही नहीं की है, अथवा जान-बूझकर व्यय-सम्बन्धी गलत विवरण दिया हैं

अथवा किसी विवरण को छिपा लिया है तो उसके विरुद्ध नीचे लिखी कार्रवाई की जा सकती है :—

१. उचित समय पर सूचना न देने अथवा उचित विधि से विवरण न प्रस्तुत करने पर व्यय-कर-अधिकारी साधारण व्यय-कर-राशि के अतिरिक्त उसकी ड्योढ़ी रकम तक और कर लगा सकता है।

२. यदि करदाता धारा १५ की उपधारा ४ के अन्तर्गत दिये हुए नोटिस पर उचित कार्रवाई नहीं कर पाता अथवा व्यय-सम्बन्धी कोई विवरण छिपा लेता है तो उससे उचित व्यय-कर के साथ छिपाई गयी राशि पर लगने वाले कर का ड्योढ़ा कर और वसूला जा सकता है।

अध्याय ८

उपहार-कर

पिछले कुछ वर्षों से लगाया गया दूसरा प्रत्यक्ष कर 'उपहार कर' है। इसे लगाने का मुख्य उद्देश्य धन-कर और सम्पत्ति-शुल्क के अन्तर्गत किये जाने वाले छिपावों को समाप्त करना रहा है। लेकिन इसको लगाने की आवश्यकता की पुष्टि कर के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों जैसे—समत्व, प्रशासनिक-कुशलता आदि के आधारों पर भी की जा सकती है।

उपहार-कर का सैद्धान्तिक आधार

एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सम्पत्तियों का हस्तांतरण उत्तराधिकारिता, बन्दोबस्त अथवा अर्पण द्वारा हो सकता है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है, राजस्व के मान्य सिद्धान्तों के अनुसार सरकार द्वारा सम्पत्ति-शुल्क लगाना न्यायोचित है, क्योंकि वह स्वामी के मरने पर सम्पत्ति-संबंधी अधिकारों को सुरक्षित रखती है और उचित उत्तराधिकारियों को उनके हस्तांतरण में योग देती है। इस प्रकार समाज के प्रत्येक व्यक्ति से उसके उत्तराधिकारी को स्वतंत्र रूप से किसी भी परिस्थिति में सम्पत्तियों का हस्तांतरण होने पर सरकार कुछ कर लगा सकती है। वास्तव में, ये कर सम्पत्तियों के स्वामित्व में होने वाले परिवर्तनों पर आधारित होते हैं। सम्पत्तियों के अर्पण अथवा उनके वसीयतनामे में भी स्वामित्व का हस्तांतरण होता है। इस प्रकार यदि अर्पण अथवा उपहार पर भी कर लगाया जाय तो वह सम्पत्ति-शुल्क मृत्यु-कर के मूल सिद्धान्तों के अनुरूप ही होगा।

इसके अतिरिक्त उपहार-कर के पक्ष में यह बात भी कही जाती है कि सम्पत्ति शुल्क से बचने के लिये लोग अपने उत्तराधिकारियों अथवा सम्भावित उत्तरजीवियों को मृत्यु की संभावना के बहुत पहले ही अपनी सम्पत्ति अर्पित कर देते है। कभी-कभी विशेष अवसरों पर लोग अपनी संपत्ति का अधिकांश अपने पुत्रों, प्रपौत्रों को उपहार के रूप में देते हैं। विवाह, वयस्कता-प्राप्ति अथवा अलग व्यवसाय की

स्थापना आदि ऐसे अवसर हैं जब परिवार के प्रमुख कर्त्ता अपने उत्तराधिकारियों को पर्याप्त संपत्ति हस्तांतरित कर देते हैं। संपत्तियों का यह हस्तांतरण वसीयतनामे के क्रम में होने वाले हस्तांतरण से बहुत भिन्न नहीं माना जा सकता।

विभिन्न देशों के मृत्यु-कर-विधानों को देखने से यह मालूम होता है कि मृत्यु के पूर्व कुछ निश्चित अवधि के पहले किये गये सम्पत्ति संबंधी बन्दोबस्तों पर कर-छूट मिलती है। कर-छूट की अवधि को अधिक सीमित बनाने का प्रयास प्रायः इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर किया जाता है कि मृत्यु के पूर्व वाली अवधि में जितने भी अर्पण किये जाते हैं वे सभी कर से बचने के लिये ही होते है। इन तथ्यों को यदि समत्व के सिद्धान्त से देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि मरने से कुछ समय पूर्व हस्तातरित की हुई संपत्ति को कर-मुक्त रखना और मृत्यु के पश्चात् अथवा उसके कुछ ही पहले हस्तांतरित हुई सम्पत्ति पर कर लगाना उचित नही समझा जा सकता। जब सम्पत्ति-शुल्क में क्रमिक वृद्धि अधिक होती है तो करदाता प्रायः प्रयास करते हैं कि उनके मरने के पश्चात् कम से कम सम्पत्ति बचे ताकि संपत्ति शुल्क नीची दर से लगे और कुल सम्पत्ति-शुल्क की राशि इस प्रकार कम हो सके। इन दोनों दोषों को दूर करके संपत्ति संबंधी कर-दायित्व में समत्व के लिए संपत्ति-शुल्क के साथ उपहार-कर लगाना आवश्यक है। अवधि सबंधी सीमा के कारण मृत्यु के उपरांत लगने वाले संपत्ति-शुल्क की अनिश्चितता की ओर श्री काल्डर का भी सकेत रहा है। उनके अनुसार यदि सरकार मृत्यु के पहले हस्तातरित होने वाली सपत्ति पर कर-बचाव को सीमित बनाने का प्रयास करती है तो मृत्यु के उपरान्त कर-दायित्व की मात्रा उतनी ही अनिश्चित हो जाती है।

उपहार-कर को लगाना समत्व की दृष्टि से ही उचित नहीं है बल्कि आर्थिक औचित्य की दृष्टि से भी इसे आवश्यक माना जा सकता है। यही कारण है कि हमारे यहां कर-व्यवस्था को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिये प्रत्यक्ष करों के अन्तर्गत आय-कर, सम्पत्ति-शुल्क और धन-कर के साथ व्यय-कर और उपहार-कर लगाने की व्यवस्था की गयी है। आगे भारतीय उपहार-कर की प्रमुख विशेषतायें उल्लिखित हैं।

भारतीय उपहार-कर की प्रमुख विशेषताएँ

भारतीय उपहार-कर सन् १९५८ में बनाये गये तत्संबंधी अधिनियम के अनुसार पहली अप्रैल सन् १९५८ से लागू किया गया है। तब से प्रत्येक कर-वर्ष में पूर्व वर्ष के उपहार या अर्पण पर कर लगाया जाता है। इसके करदाता व्यक्ति, हिन्दू-अविभक्त

परिवार, कम्पनियाँ, फर्म, और व्यक्तियों के अन्य संघ होते हैं। लेकिन सरकारी कंपनियाँ, किसी केन्द्रीय अथवा राज्य या प्रान्त के अधिनियम द्वारा संस्थापित प्रमण्डल, ऐसी सार्वजनिक कम्पनियाँ जिनके अधिकांश अंश और जिनकी प्रबन्ध-व्यवस्था छः या अधिक व्यक्तियों के अधिकार में हो तथा मान्यताप्राप्त दातव्य संस्थायें या कोष, उपहार-कर-अधिनियम के अन्तर्गत नहीं आते।

उपहार-कर-अधिनियम में आने वाले करदाताओं द्वारा किये हुए अर्पणों को छूट मिलती है। इसकी व्याख्या नीचे दी गयी है :—

अर्पणों के सम्बन्ध में दी जानेवाली छूटें

किसी व्यक्ति द्वारा दिये गये नीचे लिखे अर्पणों को इस अधिनियम के अन्तर्गत करारोपित नहीं करते :—

१. यदि अर्पण किसी ऐसी अचल सम्पत्ति का हुआ हो जो भारत के बाहर हो।

२. यदि भारत के बाहर स्थित चल-सम्पत्ति का अर्पण ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया हो जो न तो भारत का नागरिक हो और न पूर्व वर्ष में भारत का निवासी ही हो।

३. यदि अर्पण केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्गमित सेविंग्स सर्टिफिकेट का किया गया हो और ऐसे सर्टिफिकेट को सरकारी गजट में प्रकाशित किसी सूचना के अनुसार उपहार-कर से मुक्त घोषित किया गया हो।

४. यदि अर्पण सरकार या किसी स्थानीय अधिकारी को किया गया हो।

५. यदि अर्पण ऐसी संस्था या कोष को किया गया हो जो किसी दातव्य उद्देश्य से स्थापित हो और जिस पर आयकर-अधिनियम की ५८वीं धारा लागू होती हो।

६. यदि अर्पण किसी ऐसे दातव्य उद्देश्य से किया गया हो जो उपर्युक्त ५वें खण्ड में नहीं आते, लेकिन जो या तो पहली अप्रैल सन् १९५८ के पहले किये गये हों अथवा उस तारीख के बाद किये गये हों, किन्तु ऐसे कुल अर्पणों का मूल्य ५ सौ रुपये से अधिक न हो।

७. यदि उपहार किसी ऐसे आश्रित सम्बन्धी को उसके विवाह के अवसर पर दिया गया हो जो पूर्णरूप से अपने जीवन-निर्वाह के लिये करदाता पर अवलम्बित हो। लेकिन ऐसे प्रत्येक सम्बन्धी के विवाह पर अधिक से अधिक १० हजार रुपये के मूल्य की सम्पत्ति उपहार स्वरूप दी जा सकती है।

८. यदि उपहार पति द्वारा पत्नी को अथवा पत्नी द्वारा पति को एक लाख रुपये के मूल्य तक पूर्व वर्ष अथवा कई वर्षों में दिया गया हो।

९. यदि पत्नी के अतिरिक्त अन्य किसी पूर्णतः आश्रित व्यक्ति को जीवन-बीमा-पत्र अथवा वार्षिकी-पत्र अधिक से अधिक १० हजार रुपये के मूल्य तक का अर्पित किया गया हो।

१०. किसी वसीयतनामे में अर्पित सम्पत्ति।

११. अपने बच्चों की शिक्षा के लिये अर्पित सम्पत्ति, यदि कर-अधिकारी उस राशि को, सभी परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए, उचित समझता हो।

१२. यदि किसी सेवायोजक ने अपने किसी कर्मचारी को अथवा किसी मृतक कर्मचारी के आश्रित व्यक्तियों को अधिलाभाश, उपहार अथवा पेंशन के रूप में कोई ऐसी सम्पत्ति अर्पित की हो जिसे कर-अधिकारी कर्मचारी की पिछली सेवाओं के बदले दिया हुआ मानता हो तो उसे भी उपहार-कर से मुक्त मानते हैं।

१३. किसी व्यवसाय, पेशा अथवा उद्योग के सचालन के क्रम में दिये हुए सभी उपहार जिन्हे कर-अधिकारी उस व्यवसाय, पेशे अथवा उद्योग के संचालन के लिए उचित मानता हो।

१४. यदि सम्पत्तियों का अर्पण केन्द्रीय सरकार द्वारा सरकारी गजट में विशेष सूचना द्वारा मान्य भू-दान अथवा सम्पत्ति-दान-आन्दोलन के किसी संचालक को किया गया हो।

१५. यदि उपहार केन्द्रीय सरकार द्वारा आश्वासित अथवा प्रतिभूत निजी कोष में से नीचे दिये हुए किसी उद्देश्य से किया गया हो :–

(क) किसी आश्रित सम्बन्धी के भरण-पोषण के लिए।

(ख) किसी सरकारी उत्सव को मनाने के लिए।

यह उपहार तभी मान्य होगा जबकि अर्पणकर्त्ता के परिवार की पिछली प्रथाओं या व्यवहारों के अनुरूप वह दिया गया हो।

इन छूटो के अतिरिक्त कोई भी उपहार, जो दस हजार रुपये के मूल्य तक की हो, उपहार-कर-अधिनियम के अन्तर्गत करारोपित नही होता।

उपहारों के मूल्य-निर्धारण की पद्धति

उपहारों के मूल्य-निर्धारण में तीन पद्धतियों का प्रयोग प्रायः किया जाता है।

उपहार के प्रकार के अनुसार ही पद्धति का निश्चय किया जाता है। ये पद्धतियां निम्नांकित हैं—

१. बाजारू मूल्यवाली पद्धति—इसका प्रयोग अर्पित हुई उन सम्पत्तियों के मूल्यांकन के संबंध में किया जाता है जिन्हें खुले बाजार में बेचा जा सके। कर-अधिकारी अर्पण की तारीख पर सम्पत्ति की चालू बाजारू कीमत पर उसका मूल्यांकन करता है।

२. सम्पत्ति से उत्पन्न होने वाली निश्चित आय के पूंजी-कृत मूल्यवाली पद्धति—इसका प्रयोग उन सम्पत्तियों के सम्बन्ध में किया जाता है जिनका अर्पण निश्चित अवधि के लिए ही अखण्डनीय संविदा के आधार पर किया जाता है। इसमें अर्पण की अवधि में उस सम्पत्ति से उत्पन्न होने वाली आय का पूजीकृत मूल्य निश्चित किया जाता है। यही उस सम्पत्ति का अर्पण के समय मूल्य माना जाता है।

३. अधिनियम में उल्लिखित नियम के अनुसार—इसका प्रयोग उन सभी सम्पत्तियों के संबंध में किया जाता है जो उपर्युक्त दोनों विधियों के अन्तर्गत नहीं आतीं और न तो खुले बाजार में जिनका मूल्य ही निश्चित किया जा सकता है।

उपहार-कर-निर्धारण—अन्य सभी प्रत्यक्ष-करों की तरह उन व्यक्तियो को जो उपहार-कर की सीमा में आते हैं, कर-वर्ष की ३० जून तक पूर्व वर्ष के उपहार सम्बन्धी विवरणों को नियत प्रपत्र में भरकर देना होता है। उन व्यक्तियों के लिये जो उपर्युक्त तिथि तक विवरण प्रस्तुत नहीं करते और जिन्हें उपहार-कर-अधिकारी उपहार-कर की सीमा के अन्तर्गत मानता है, इस बात का नोटिस दिया जा सकता है कि वे एक निश्चित अवधि के भीतर उचित प्रपत्र में उपहार-सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत करें। अर्पण-मूल्य पर उपहार-कर-अधिनियम में दी हुई दरों से उपहार-कर लगाया जाता है। इन दरों की व्याख्या नीचे की गयी है—

उपहार-कर की दरें

अर्पित सम्पत्ति के मूल्य पर नीचे दी हुई तालिका के अनुसार उपहार-कर लगता है:—

*

अर्पित-सम्पत्ति का मूल्य	उपहार-कर की दरें
प्रथम ५० हजार रुपये पर	४ प्रतिशत
अगले ५० हजार रुपये पर	६ प्रतिशत
अगले ५० हजार रुपये पर	८ प्रतिशत
अगले ५० हजार रुपये पर	१० प्रतिशत
अगले १ लाख रुपये पर	१२ प्रतिशत
अगले २ लाख रुपये पर	१५ प्रतिशत
अगले ५ लाख रुपये पर	२० प्रतिशत
अगले १० लाख रुपये पर	२५ प्रतिशत
अगले १० लाख रुपये पर	३० प्रतिशत
अगले २० लाख रुपये पर	३५ प्रतिशत
और शेष पर	४० प्रतिशत

इन दरों के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि ३ लाख रुपये के पश्चात् सम्पत्ति-शुल्क की दरों से इनमें समता आ जाती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मृत्यु के उपरान्त लगने वाले सम्पत्ति-शुल्क तथा मृत्यु के पूर्व लगने वाले उपहार-कर के भार में बहुत कुछ समानता पायी जाती है।

उपहार-कर की वसूली प्रायः अर्पणकर्त्ता से ही की जाती है। किन्तु उन परिस्थितियों में जहां कर-अधिकारी यह समझता है कि अर्पणकर्त्ता से कर वसूलना कठिन है वहां उस व्यक्ति से ही, जिसे सम्पत्तियाँ अर्पित की गयी हैं, उपहार-कर वसूला जा सकता है। लेकिन दूसरा क्रम अपनाते समय अर्पित सम्पत्ति प्राप्त करने वाले व्यक्ति से कर की वही राशि वसूली जा सकती है जो अर्पण में उसे प्राप्त सम्पत्ति से सुलभ हो।

उपहार-कर के अग्रिम भुगतान पर दी जानेवाली छूट

यदि कोई व्यक्ति दस हजार रुपये से कम मूल्य वाली सम्पत्ति अर्पित नहीं करता और अर्पण के समय अथवा अर्पण के पन्द्रह दिन के भीतर उपहार-कर की अनुमानित राशि सरकारी खजाने में जमा कर देता है तो उसे उस राशि के अतिरिक्त दस

प्रतिशत और जमा मिलती है। उस उपहार पर भी जो सन् १९५८ के १६ जून तक दिया गया हो यदि पहली अगस्त सन् १९५८ तक नियत राशि खजाने में जमा की गयी हो तो दस प्रतिशत अतिरिक्त जमा दी जाती है। अनुमानित राशि के सम्बन्ध में अधिनियम में निम्नांकित व्यवस्था दी हुई है:—

१. यदि अर्पण का मूल्य ५० हजार रुपये से अधिक नहीं है तो उस पर ४ प्रतिशत ही खजाने में जमा करने पर अतिरिक्त जमा दी जाती है।

२. यदि अर्पण का मूल्य ५० हजार रुपये से अधिक हो, लेकिन २ लाख रुपये से अधिक न हो तो, उस पर ८ प्रतिशत खजाने में जमा करने से ही अतिरिक्त जमा मिलती है।

३. अन्य परिस्थितियों में अतिरिक्त जमा के लिये अर्पण के मूल्य का १५ प्रतिशत जमा करना पड़ता है।

विशेष परिस्थितियों में उपहार-कर-सम्बन्धी दायित्व

यदि कोई उपहार-कर-दाता उपहार-कर के भुगतान के पूर्व ही मर जाता है तो उसका वैधानिक उत्तराधिकारी अथवा प्रशासक मृतक की सम्पत्ति से उस उपहार-कर का भुगतान करने के लिये दायी है।

उपहार-कर-सम्बन्धी दायित्वों के छिपाव अथवा दुराव के सम्बन्ध में लगाये जानेवाले दण्ड

अन्य प्रत्यक्ष करों की तरह उपहार-कर में भी उन व्यक्तियों को दण्डित किया जाता है जिन्हें उपहार-कर-अधिकारी अथवा अपीलेट असिस्टेंट कमिश्नर अथवा अपीलेट ट्रिब्यूनल द्वारा कर-सम्बन्धी किसी सूचना को उचित रूप अथवा उचित समय में न देने अथवा जान-बूझकर छिपाने अथवा गलत विवरण देने के लिये दोषी ठहराया जाय।

वे करदाता जो उचित समय पर अथवा उचित रूप में अर्पण-संबंधी विवरण देने में असफल हो जाते हैं उन्हें सामान्य उपहार-कर के साथ उसकी ड्योढ़ी राशि तक आर्थिक दण्ड देना पड़ सकता है। वे करदाता जो उपहार के सम्बन्ध में गलत विवरण देते है, उन्हें साधारण उपहार-कर के अतिरिक्त छिपायी हुई राशि पर लगने वाले कर की ड्योढ़ी राशि तक दण्ड के रूप में देनी पड़ सकती है।

अध्याय ९

सीमा-शुल्क

अप्रत्यक्ष करों के अन्तर्गत वस्तुओं पर लगाये जाने वाले करों का स्थान महत्त्व-पूर्ण होता है। इनमें आयात-शुल्क, निर्यात-शुल्क और उत्पादन शुल्क विशेष उल्लेख-नीय हैं। इस अध्याय में आयात-शुल्क और निर्यात-शुल्क का विवरण दिया जा रहा है। उत्पादन-शुल्क का विवरण दूसरे अध्याय में दिया गया है।

सीमा-शुल्क का सैद्धान्तिक विश्लेषण

आयात-शुल्क और निर्यात-शुल्क को सम्मिलित रूप में सीमा-शुल्क के नाम से पुकारा जाता है। इन शुल्कों को लगाने का मुख्य उद्देश्य केवल राजस्व प्राप्त करना ही नही होता बल्कि इनसे देश के विदेशी व्यापार को प्रभावित करके आन्त-रिक उद्योग और व्यापार को नियत दिशा में ले चलने की व्यवस्था भी की जाती है। इस दूसरे उद्देश्य के कारण ही सीमा-शुल्क का अध्ययन वस्तुओं पर लगाये जाने वाले अन्य करों की तुलना मे विशेष महत्त्वपूर्ण बन जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो और सभाओ का भी सीमा-शुल्कों पर विशेष प्रभाव पड़ता है। इसलिये देश के सीमा-शुल्क के अध्ययन के क्रम में उनका विश्लेषण भी आवश्यक हो जाता है।

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन-काल मे जो कुछ सीमा-शुल्क लगते थे उनका विशेष उद्देश्य राजस्व प्राप्त करना होता था। लेकिन उसके साथ-साथ कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं के व्यापार और उद्योग को इंग्लैण्ड की आर्थिक नीति के अनुसार प्रभावित करने के लिये भी सीमा-शुल्क का आश्रय लिया जाता था।

ब्रिटिश सम्राज्ञी के शासन में आने के पश्चात् भारत में सीमा-शुल्कों का निर्धा-रण इंग्लैण्ड की व्यावसायिक नीति से विशेष प्रभावित रहा। चूकि मुक्त व्यापार-नीति का प्रसार करने में ब्रिटेन अग्रगण्य रहा, इसलिये उसके सभी उपनिवेशों में भी सीमा-शुल्क को धीरे-धीरे समाप्त करने का प्रयत्न होता रहा। सन् १९१९ तक भारत में जो भी सीमा-शुल्क लगाये जाते रहे उनका एकमात्र उद्देश्य राजस्व

प्राप्त करना ही होता था। भारत के विदेशी व्यापार पर उनका कोई अनुचित प्रभाव न पड़े इसकी उचित व्यवस्था के लिए सीमा-शुल्क के साथ-साथ उत्पादन शुल्क भी लगाया जाता रहा। सन् १९१९ के बाद भारत को राजकोषीय स्वायत्तता प्राप्त हुई और उसके पश्चात् भारतीय सीमा-शुल्क के इतिहास के क्रम में नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। सन् १९२२ के राजकोषीय आयोग के सुझावों के अनुसार सीमा-शुल्क का प्रयोग आंतरिक उद्योगों के संरक्षण के लिये किया जाने लगा। आंतरिक उद्योगों का संरक्षण और राजस्व की उचित व्यवस्था इन दोनों में संतुलन रखने का प्रयत्न सीमा-शुल्क, निर्धारण के अन्तर्गत किया जाता था। यह क्रम स्वतन्त्रता के पूर्व तक चलता रहा। यद्यपि इस बीच में दो विशेष क्रमों का विशेष प्रभाव पड़ा; एक तो, कुछ विशेष देशों के साथ हुए व्यापारिक समझौतों का और दूसरे, सम्पूर्ण ब्रिटिश उपनिवेशों में अपनाये गये अधिमान्यता के सिद्धान्तों का, जिन्हें सन् १९३२ में ओटावा के व्यापारिक समझौते के रूप में सर्वप्रथम निरूपित किया गया था।

स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् और विशेषतः देश के सर्वतोमुखी विकास के लिए चलाये जानेवाले आयोजनों के प्रारम्भ से सीमा-शुल्क का विश्लेषण अधिक जटिल बन गया। प्रथम पंचवर्षीय आयोजन में स्पष्ट की हुई व्यावसायिक नीति को कार्यान्वित करने के क्रम में ही सीमा-शुल्क का उपयोग किया जाता है। प्रथम-पंचवर्षीय आयोजन मे वर्णित व्यावसायिक नीति के निम्नांकित पांच प्रमुख उद्देश्य हैं :—

१. आयोजन में उत्पादन और उपभोग के निर्दिष्ट लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायक बनना।

२. निर्यात को उच्च स्तर पर रखने में योग देना।

३. भुगतान-शेष के घाटे को उस सीमा तक रखना जहां तक कि देश में विदेशी विनिमय के साधन सुलभ हों।

४. आयात और निर्यात को योजना कार्यान्वित किये जाने के सम्बन्ध मे निश्चित की हुई अन्तर्देशीय कीमत की नीति तथा राजकोषीय-नीति के अनुरूप रखना।

५. अन्य देशों के साथ आयात और निर्यात के सम्बन्ध में अपनायी जाने वाली ऐसी नीति रखना जिससे देश का उद्योग और व्यवसाय अनुचित ढंग से प्रभावित न हो और दूसरे देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी बना रहे।

आर्थिक आयोजनों के संचालन के क्रम में सीमा-शुल्कों का प्रयोग व्यावसायिक

नीति के उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया जा रहा है। अब आयात तथा निर्यात-शुल्क का प्रशासन केवल राजस्व अथवा उद्योगों के संरक्षणमात्र से ही प्रभावित नहीं होता बल्कि उससे भुगतान शेष की राशि प्रभावित करने तथा आयात और निर्यात की प्रकृति को भीतरी कीमतों की नीति के अनुरूप रखने का प्रयास किया जाता है। द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन-काल के प्रारम्भ से ही आयात तथा निर्यात-शुल्कों को आयात कम से कम रखने और निर्यात अधिक से अधिक बढ़ाने के निमित्त बहुत अधिक परिवर्तित किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सम्पूर्ण विश्व के उद्योगों, व्यवसायों तथा रोजगार को बढ़ाने के निमित्त अपनायी गयी नीतियों का समर्थक भारतवर्ष प्रारम्भ से ही रहा है। इस सम्बन्ध में जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक समझौते हुए हैं उन सब में भारतवर्ष एक सक्रिय सदस्य के रूप में भाग लेता रहा है। इन समझौतों की सदस्यता के नाते भारत को अपने सीमा-शुल्कों का निर्धारण कुछ विशेष सीमाओं के अन्तर्गत करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में जनरल ऐग्रीमेन्ट आन ट्रेड ऐंड टैरिफ में भारत की सदस्यता और उससे उत्पन्न उसके दायित्व विशेष उल्लेख्य है। अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो में सक्रिय भाग लेने के साथ ही भारत ने अपने यहां आर्थिक आयोजनों को सफलतापूर्वक संचालित रखने के निमित्त कुछ उन्नतिशील देशों के साथ अलग-अलग व्यावसायिक समझौते किये है। इन समझौतों में भी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की सीमा के अन्तर्गत सीमा-शुल्क की दरों मे परिवर्तन किये जाते हैं।

इन उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट है कि आज के भारतीय आयात और निर्यात-शुल्क केवल राजस्व और संरक्षण के उद्देश्यों से ही निर्धारित नहीं होते। उनके प्रशासन मे देश की भुगतान-शेष की स्थिति, आयातों तथा निर्यातों की आवश्यकताओं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक सम्बन्धों को दृष्टि में रखना पड़ता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राजस्व अथवा संरक्षण सम्बन्धी विचार पूर्णतः लुप्त ही हो चले है। मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत शीघ्रातिशीघ्र आर्थिक विकास लाने के लिये सार्वजनिक क्षेत्रों का अपूर्व प्रसार आवश्यक बन गया है। सार्वजनिक क्षेत्र के प्रसार के लिये सभी सम्भव स्रोतों से राजस्व संकलित करना अनिवार्य है। इस क्रम मे आयात और निर्यात-शुल्क से सुलभ होने वाले राजस्व को किसी प्रकार भी गौण नहीं माना जा सकता। इस प्रकार स्पष्ट है कि राजस्व की दृष्टि से भी आयात-निर्यात-शुल्क का महत्त्व घटा नही है।

आयात और निर्यात-शुल्क से संरक्षण देने का क्रम आयात और निर्यात पर

लगाये जाने वाले प्रत्यक्ष नियन्त्रणों के कारण अवश्य ही कम महत्त्वपूर्ण हो गया है। आयोजनों के संचालन के क्रम में केवल कीमतों के माध्यम से आयात और निर्यात की मात्रा और बनावट प्रभावित करना न तो उपयोगी है और न वांछनीय ही। इसलिये उन पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण रखना आवश्यक हो गया है। प्रत्यक्ष नियन्त्रणों के अन्तर्गत ही सीमा-शुल्कों के माध्यम से संरक्षण की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आयात और निर्यात पर प्रत्यक्ष नियन्त्रणों के लग जाने से संरक्षण के साधनों के रूप में सीमा-शुल्कों का महत्त्व बहुत घट गया है।

सीमा-शुल्क से प्राप्त होने वाले राजस्व

सन् १९२०-२१ से सीमा-शुल्क से प्राप्त होने वाले राजस्व का महत्त्व केन्द्रीय-सरकार को सभी करों से प्राप्त होने वाले राजस्व के अन्तर्गत बहुत बढ गया है। सन् १९२०-२१ से सन् १९२५-२६ तक आयात-शुल्कों मे प्रसार होने के कारण सीमा-शुल्क से सुलभ होने वाले राजस्व में अपूर्व वृद्धि हुई। सन् १९२५ मे १९३९ तक आयात-शुल्कों में कोई विशेष परिवर्तन न हो सका। इस अवधि में आयात-शुल्क से होने वाली प्राप्तियों में कुछ कमी ही हुई जिसे उत्पादन-शुल्क लगाकर तथा नमक पर कर की दर बढ़ा कर पूरा करने का प्रयास किया गया।

स्वतन्त्रता के पश्चात् और विशेषतः सन् १९४८-४९ के पश्चात् आयात की मात्रा बढ़ने तथा आयात पर लगाये जाने वाले शुल्कों की दर मे वृद्धि होने से आयात-शुल्क से होने वाली प्राप्तियो में विशेष वृद्धि हुई। नीचे दी हुई तालिका मे सन् १९२०-२१ से प्रस्तुत वर्ष तक की अवधि में सीमा-शुल्क से सुलभ होने वाली प्राप्तियों का विवरण दिया गया है:—

केन्द्रीय सरकार को कुल करों से होने वाली प्राप्तियों में सीमा-शुल्क की प्राप्तियों का स्थान करोड़ रुपयों में:—

वर्ष	भारत सरकार को प्राप्त कुल राजस्व	सीमा-शुल्क से राजस्व	सीमा-शुल्क के राजस्व का कुल राजस्व से प्रतिशत
१	२	३	४
१९२०–२१	६०.८५	२९.०५	४७.७४
१९२५–२६	७२.८६	४५.६१	६२.६

१	२	३	४
१९३१–३२	७५.६२	४१.५३	५४.९
१९३८–३९	८१.८७	४४.५१	५४.४
१९४८–४९	३८५.१८	१३०.४२	३३.९
१९४९–५०	३११.५४	१२४.७१	४०.०
१९५०–५१	३५७.००	१५७.१५	४४.०
१९५१–५२	४५९.९९	२३१.६९	५०.४
१९५२–५३	३८७.०६	१७३.७५	४४.९
१९५३–५४	३६३.२८	१५८.७१	४३.७
१९५४–५५	३९९.२६	१८४.८६	४६.३
१९५५–५६	४११.४७	१६६.७०	४०.५
१९५६–५७	४९३.७६	१७३.२३	३५.१
१९५७–५८	५७५.३३	१७९.९९	३१.३
१९५८–५९	५३०.१४	१३६.००	२५.६
१९५९–६०	५५८.३९	१३२.७७	२३.८

उपर्युक्त तालिका मे सन् १९४९ तक के आंकडे कुल प्राप्तियों का उल्लेख करते है, लेकिन वाद वाले आकडे शुद्ध प्राप्तियां दिखलाते है। इन आकडों से स्पष्ट है कि सन् १९२०-२१ से सीमा-शुल्क की प्राप्तियो मे लगातार वृद्धि होती रही है। लेकिन आर्थिक आयोजनो के प्रारम्भ के बाद से इनके प्रतिशत मे कमी होती गयी है। इस कमी का सबसे प्रधान कारण अनावश्यक आयातो मे अपूर्व कमी तथा उत्पादन-शुल्क और प्रत्यक्ष करो से होने वाली प्राप्ति में वृद्धि रही है।

सीमा-शुल्क से प्राप्त होने वाले राजस्व के सम्बन्ध में दिये गये पूर्वोक्त विवरण मे यह स्पष्ट है कि भारत मे इसके विकास का क्रम प्रथम महायुद्ध के पश्चात् तीन बड़े खण्डो मे विभक्त किया जा सकता है। पहला खण्ड सन् १९२०-२१ से सन् १९२५-२६ तक की अवधि का माना जा सकता है जिसमे सीमा-शुल्क से प्राप्त होने वाले राजस्व मे लगभग ड्यौढ़े की वृद्धि हुई। इस वृद्धि में दो कारणों का विशेष हाथ माना जा सकता है। एक तो इस अवधि मे राजस्व के लिए लगाये गये आयात-शुल्क की दरो मे वृद्धि की गयी। दूसरे, सरक्षण के लिए लगने वाले आयात-शुल्क की प्राप्ति में दर बहुत बढ़ने से अपूर्व वृद्धि हुई।

दूसरा खण्ड सन् १९३१-३२ से सन् १९३८-३९ तक की अवधि का माना जा

सकता है। इसमें सन् १९२९ की भीषण मंदी के कारण सीमा-शुल्क की प्राप्ति में जो कमी आयी थी तथा सीमा-शुल्क के भार में जो विषमता उत्पन्न हुई थी उन दोनों को क्रमशः दूर किया जा सका। सन् १९३१-३२ में आयात-शुल्क का भार आयात के मूल्य का लगभग इकतीस प्रतिशत हो गया था; लेकिन सन् १९३८-३९ में यह भार धीरे-धीरे घटकर पच्चीस प्रतिशत हो गया।

तीसरा खण्ड सन् १९४८-४९ से वर्तमान वर्ष तक (१९५९-६०) की अवधि का माना जा सकता है। इस अवधि में सीमा-शुल्क से प्राप्त होने वाले राजस्व में पहले तो क्रमशः वृद्धि हुई लेकिन उसके पश्चात् उसमें गिराव होता गया। परिणामस्वरूप सन् १९४८-४९ में सीमा-शुल्क से जितनी प्राप्ति हुई (लगभग १३० करोड़ ४२ लाख रुपये), उसके आसपास ही सन् १९५९-६० में सीमा-शुल्क से प्राप्ति सम्भावित है, जबकि सन् १९५१-५२ में इससे कुल प्राप्ति २३१ करोड़ ६९ लाख रुपये हुई थी। पिछले कुछ वर्षो से सीमा-शुल्क की प्राप्ति की कमी में आयात व्यापार के ढांचे के परिवर्तन और उसी के अनुरूप आयात-शुल्क के भार के परिवर्तन का विशेष हाथ रहा है। पिछले कुछ वर्षो से आयात की मात्रा बहुत कुछ घटा कर आवश्यक वस्तुओं के आयात पर ही केन्द्रित की जा रही है। आवश्यक वस्तुओं पर आयात-शुल्क की दरों को भी कम से कम रखने की व्यवस्था की गयी है। इन परिवर्तनों के कारण आयात-शुल्क से प्राप्त होने वाले राजस्व में विशेष कमी हुई है।

भारत में सीमा-शुल्क के संक्षिप्त इतिहास और उससे सुलभ होने वाले राजस्व का विश्लेषण करने के पश्चात् सीमा-शुल्क के प्रमुख अंगों की व्याख्या आवश्यक है। इसके अन्तर्गत आयात-शुल्क और निर्यात-शुल्क विशेषतः उल्लेख्य है।

आयात-शुल्क

प्रथम महायुद्ध के अन्त में आयात-शुल्क की सामान्य दर सात प्रतिशत थी पर यन्त्रों, लोहा तथा इस्पात पर ढाई प्रतिशत की दर लागू रही। उस समय चीनी पर दस प्रति सैकड़ा और मोटर स्पिरिट पर छः आना प्रति गैलन की दर से आयात-शुल्क लगता था। वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये सन् १९२१ में आयात-शुल्क की सामान्य दर को बढ़ा कर ग्यारह प्रतिशत कर दिया गया। सन् १९२२ में सामान्य दर को पुनः पन्द्रह प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया। उस वर्ष में सूत पर पांच प्रतिशत सैकड़ा की दर से नया आयात-शुल्क प्रारम्भ किया गया।

लोहे की चादरों और रेलवे के सामान पर दस प्रतिशत सैकड़ा आयात-शुल्क लगने लगा। सन् १९३१ तक आयात-शुल्क की सामान्य दरें लगभग अपरिवर्तित ही रहीं। केवल उन वस्तुओं पर जिनके देश में निर्माण को संरक्षण देने की व्यवस्था की गयी, आयात-शुल्क की दरें आवश्यकतानुरूप रखी गयीं।

सन् १९३१ में विषम मंदी के कारण जब केन्द्रीय सरकार के बजट में भारी घाटा अनुमानित किया गया उस समय कई नये कर लगाये गये और पुराने करों की दरें बढ़ाई गयीं। इसी क्रम के अन्तर्गत आयात-शुल्क की सामान्य दर बढ़ा कर पचीस प्रतिशत कर दी गयीं और कुछ वस्तुओं पर अधि-कर की विविध दरें लागू की गयीं। सन् १९३१ के इन परिवर्तनों को दो वित्त अधिनियमों द्वारा निरूपित किया गया। इन दोनों अधिनियमों में सीमा-शुल्क के संबंध में किये गये परिवर्तनों को ही सन् १९३५ में पारित, भारतीय-प्रशुल्क-अधिनियम द्वारा क्रमबद्ध वैधानिक रूप दिया गया।

द्वितीय महायुद्ध के ठीक पूर्व वाले वर्ष में कुछ विशेष वस्तुओं पर लगने वाले आयात-शुल्क की दरों में पुनः वृद्धि की गयी। उनमें कपास, नकली रेशम के सूत विशेष उल्लेखनीय हैं। कपास पर सन् १९३१ से आध आना प्रति पौण्ड की दर से शुल्क लगता था, लेकिन सन् १९३९ मे इसे दूना कर दिया गया। सन् १९४२ में कपास-कोष-अध्यादेश के अनुसार कपास पर लगने वाले शुल्क की दर को पुनः दूना कर दिया गया। सन् १९४२ के वित्त अधिनियम द्वारा सभी आयात-शुल्कों की दरों पर बीस प्रतिशत अधि-कर लगाने की व्यवस्था की गयी। अधि-कर का यह क्रम सन् १९५१ तक चलता रहा है। सन् १९४४ में अधि-कर की दर कुछ विशेष वस्तुओं के सम्बन्ध में पुनः बढ़ा दी गयी, सिगार, सिगरेट, तम्बाकू और स्पिरिट इनमें विशेषतः उल्लेखनीय है जिन पर लगने वाला अधि-कर सामान्य शुल्क के बीस प्रतिशत से बढ़ा कर पचास प्रतिशत कर दिया गया।

सन् १९४५ में तम्बाकू के सभी मदों पर लगने वाले शुल्क की दरें पुनः इस प्रकार निश्चित की गयीं ताकि उस वर्ष देशी तम्बाकू पर निश्चित किये गये उत्पादन-शुल्क से उनका साम्य हो सके। सन् १९४६ में कुछ शुल्कों को पुनः परिवर्तित किया गया और मिट्टी के तेल पर लगने वाले शुल्क की दर को चार आना छः पाई प्रति-गैलन से घटाकर तीन आना प्रति गैलन कर दिया गया। सुपारी और सिनेमा-फिल्मों पर मूल्य के अनुसार लगने वाले दर को बदल कर मात्रा के अनुसार लगने वाले दर में बदल दिया गया। इसी वर्ष स्वर्ण पर सर्वप्रथम आयात-शुल्क लगना

प्रारम्भ हुआ और चांदी पर लगने वाले आयात-शुल्क की दर को बढ़ा दिया गया।

आयात-शुल्क की दरों में सन् १९४८ में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। उन परिवर्तनों का सबसे बड़ा कारण यह था कि इसी वर्ष भारत को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और प्रशुल्क के सामान्य समझौते की सदस्यता के नाते अपने प्रशुल्क-दरों में समझौते के अनुसार आवश्यक परिवर्तन करने पड़े। औद्योगिक यंत्रों पर शुल्क की दर दस प्रति सैकड़ा से घटाकर पाच प्रति सैकड़ा कर दी गयी। इसी प्रकार उद्योगों के लिये आवश्यक कई मालों पर प्रशुल्क दर को या तो घटा दिया गया अथवा एकदम हटा ही दिया गया। नवम्बर सन् १९४८ में लागू किये गये अध्यादेश द्वारा विलासिता के कई पदार्थो पर प्रशुल्क की दर बहुत अधिक बढ़ा दी गयी। इनमें सोने-चांदी के सामान, बहुत उत्तम कोटि के सूती कपड़े, सुगंधित पदार्थ, मोटरकार, तम्बाकू, मद्यसारिक पेय विशेष उल्लेख्य रहे। सन् १९५० में मोटर गाड़ियो के हिस्सों और सहायक पुर्जों पर लगने वाले आयात-शुल्क की दरो मे पुन परिवर्तन किये गये।

कोरिया युद्ध के प्रारम्भ के पश्चात् सन् १९५१ के वित्त-अधिनियम के अन्तर्गत आयात-शुल्क-तालिका मे कई परिवर्तन किये गये। आयात-कर पर लगने वाले बीस प्रतिशत अधि-कर को बढ़ाकर पचीस प्रतिशत कर दिया गया। शराब पर अधि-कर की दर सन् १९४८ के अध्यादेश के अन्तर्गत सौ प्रतिशत रखी गयी थी। इसे इस वर्ष एक सौ पचपन प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया। उत्तम कोटि के सूती वस्त्रों पर लगने वाले आयात-शुल्क का पचपन प्रतिशत अधि-कर के रूप मे लगाया जाने लगा। सन् १९५३ के वित्त-अधिनियम के अन्तर्गत उपभोग की कई सामग्रियो पर आयात-शुल्क की दरे बढ़ा दी गयी, लेकिन बच्चो और अपंगों के लिए आवश्यक दूध से बने खाद्य-पदार्थ, पेनिसिलीन और सल्फा औषधिया, वैज्ञानिक तथा शल्य-चिकित्सा-सम्बन्धी औजारों और कलात्मक कृतियों पर आयात-शुल्क की दरों में कुछ छूट दी गई। सन् १९५४ के वित्त-अधिनियम के अन्तर्गत सुपारी पर लगने वाले आयात-शुल्क की दर पिछले वर्ष की तुलना मे और बढ़ा दी गयी। युनाइटेड किगडम से आयात की जाने वाली मोटर-कारों पर आयात-शुल्क की दर में जो छूट दी जाती थी उसे इस वर्ष से बन्द कर दिया गया।

सन् १९५५ के वित्त-अधिनियम के अन्तर्गत कुछ कच्चे मालों पर आयात-शुल्क एकदम समाप्त कर दिया गया। लेकिन कागज के बने हुये कुछ सामानो, विज्ञापन

के प्रचार-पत्रों और चाकू-कैंची आदि सब तरह के ऐसे काटने के यंत्रों पर जिन पर सोने अथवा चांदी के पत्र नहीं चढ़े होते थे, आयात-शुल्क की दरें पहले की अपेक्षा बढ़ा दी गयी। सन् १९५६ के वित्त-अधिनियम (प्रथम) के अन्तर्गत आयात-शुल्क की दरों में बहुत सीमित परिवर्तन किये गये। लेकिन वित्त-अधिनियम (द्वितीय) द्वारा आयात-शुल्क-तालिका के अधिकांश मदों पर आयात-शुल्क-दर बढ़ाने की व्यवस्था की गयी। सन् १९५७ में भी दो बार वित्त-अधिनियम बनाये गये। प्रथम अधिनियम २९ मार्च सन् १९५७ के दिन इसलिये पारित कर लिया गया ताकि चुनाव के ठीक पश्चात् प्रशासन-व्यवस्था उचित रीति से उस समय तक चल सके जब तक कि दूसरा वित्त-अधिनियम पारित नही किया जाता। इसके अनुसार पिछले वर्ष में प्रचलित आयात-निर्यात शुल्क की दरों को ही इस वर्ष चालू रखा गया।

सन् १९५७ के द्वितीय वित्त-अधिनियम ने आयात-शुल्क की तालिका में अपूर्व परिवर्तन लाने का मार्ग प्रस्तुत किया। कई वर्षों से अतिरिक्त शुल्क लगाने का जो जटिल क्रम चल रहा था उसे इस अधिनियम द्वारा समाप्त कर दिया गया और शुल्क की अधिकांश दरों को अतिरिक्त शुल्क के अनुरूप बढ़ा दिया गया।

सन् १९५८ के वित्त-अधिनियम में आयात-शुल्क की दरें पिछले वर्ष की तुलना में बहुत कम परिवर्तित हुई। केवल नकली रेशम के सूत और कुछ औषधियों पर लगने वाली दरे परिवर्तित की गयी। सन् १९५९ के वित्त-अधिनियम द्वारा न खुले हुए सिनेमा-फिल्मों पर आयात-शुल्क की दरे एक रुपया पचहत्तर नये पैसे प्रति सौ फीट से बढ़ाकर दो रुपये प्रति सौ फीट कर दी गयी। इसी प्रकार रबर के टायरों ट्यूबों और अन्य सामानों पर पहले पैंतीस प्रतिशत की दर से आयात शुल्क लगता था लेकिन अब मोटर गाड़ियों के टायर-ट्यूबों पर आयात-शुल्क की दर चालीस प्रतिशत कर दी गयी।

इस समय आयात-शुल्क से लगभग छप्पन वस्तुएं पूर्ण मुक्त हैं। उनमें पशु, सूखा दूध और सूखे दूध का चूर्ण, पौधे, गेहूँ और खाद्यान्न, मैदा, रबर के बीज, नमक, कच्चे खनिज पदार्थ, प्लेग का टीका, सभी प्रकार की खाद, कच्चा चमड़ा, ऊन आदि विशेष उल्लेखनीय है। विभिन्न मदों पर सब मिलाकर लगभग ४७५ आयात-शुल्क की ऐसी दरे हैं जो वस्तुओं के मूल्य के अनुसार लगती है और लगभग ७० दरें वस्तुओं की मात्रा और संख्या के आधार पर लगायी जाती हैं। आयात-शुल्क की दरों में केवल राजस्व के लिये लगायी जाने वाली दरों की संख्या ५५० से भी अधिक

है। संरक्षण के लिये लगने वाली दरें कुल लगभग सौ हैं। इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि भारतीय आयात-शुल्क-तालिका में मूल्यों के आधार पर लगने वाली दरें मात्रा के आधार पर लगने वाली दरों की अपेक्षा बहुत अधिक हैं।

अयात-शुल्क से पिछले कुछ वर्षों में हुई प्राप्ति का उल्लेख नीचे की तालिका में हुआ है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए केन्द्रीय सरकार को विविध स्रोतों से सुलभ होने वाले शुद्ध राजस्व का भी विवरण दिया गया है:—

आयात-शुल्क से सुलभ राजस्व का कुल राजस्व में हिस्सा :—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	करों से सरकार को सुलभ होने वाला कुल राजस्व	आयात-शुल्क से सुलभ होने वाला राजस्व	तीसरे का दूसरे से प्रतिशत
१	२	३	४
१९५१-५२	४५९.९९	१४१.५९	३०.८
१९५२-५३	३८७.०६	११८.०७	३०.५
१९५३-५४	३६३.२८	११९.६०	३२.९
१९५४-५५	३९९.२६	१४१.०६	३५.३
१९५५-५६	४२८.०४	१३१.०६	३०.६
१९५६-५७	४९३.७६	१४०.५२	२८.५
१९५७-५८	५७५.३३	१५०.९४	२६.२
१९५८-५९	५३०.१४	११२.५७	२१.२
१९५९-६०	५५८.३९	११४.३२	२०.५

उपर्युक्त तालिका में सन् १९५८-५९ के आंकड़े संशोधित अनुमानों पर आधारित हैं और १९५९-६० के आंकड़े बजट के आधार पर हैं।

निर्यात शुल्क

सीमा-शुल्क के अन्तर्गत निर्यात-शुल्क का महत्व उतना नहीं है जितना कि आयात-शुल्क का रहा है। आयात-शुल्क जैसी सैद्धान्तिक जटिलता भी इसमें नहीं है। ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक वर्षों में निर्यात होने वाली कई वस्तुओं पर मूल्यों के आधार पर निर्यात-शुल्क की नीची दरें लगायी जाती थीं। कुछ वस्तुओं जैसे नील आदि के निर्यात पर इनका अनुचित प्रभाव भी पड़ता था। लेकिन शाही

शासन का प्रारम्भ सन् १८५८ में होने के पश्चात् ही अधिकांश निर्यात-शुल्क समाप्त कर दिये गये। प्रथम महायुद्ध के ठीक पूर्व सन् १९१४ में केवल चावल पर निर्यात-शुल्क लगता था। प्रथम महायुद्ध-काल में ही (सन् १९१६ में) जूट के निर्यात पर प्रथम बार निर्यात-शुल्क लगाया गया और उसी समय से सीमा-शुल्क तालिका में जूट पर लगने वाले निर्यात शुल्क का स्थान महत्वपूर्ण हो गया है। सन् १९१९ में कच्चे चमड़े पर भी पांच प्रति सैकड़ा की दर से निर्यात-शुल्क प्रारम्भ किया गया। लेकिन इसे सन् १९३५ में हटा दिया गया। द्वितीय महायुद्ध-काल में सूती कपड़ों और सूत पर तीन प्रति सैकड़ा की दर से निर्यात-शुल्क लगाया गया। लेकिन युद्ध समाप्त होने के पश्चात् इसे निर्यात-उपकर में परिवर्तित कर दिया गया। सन् १९१९ से १९४६ तक की अवधि में निर्यात-शुल्क से लगभग ४ से ६ करोड़ रुपये तक वार्षिक प्राप्ति हो जाती थी।

पिछले कुछ वर्षों से देश की राजकोषीय व्यवस्था में निर्यात-शुल्क का महत्त्व अधिक हो गया है। सन् १९४६ से कई वस्तुओं पर निर्यात-शुल्क लगाया जाने लगा है और पहले से प्रचलित शुल्क की दरो में वृद्धि भी हुई है। नीचे दी हुई तालिका में निर्यात-शुल्क से सुलभ होने वाले राजस्व का उल्लेख सरकार को सभी करों से सुलभ होने वाले राजस्व की तुलना में स्पष्ट किया गया है :—

निर्यात-शुल्क से सुलभ राजस्व का कुल राजस्व में हिस्सा

(करोड़ रुपयों मे)

वर्ष	सरकार को सुलभ होने वाला कुल राजस्व	निर्यात-शुल्क से सुलभ होने वाला राजस्व	तीसरे का दूसरे से प्रतिशत
१	२	३	४
१९५१-५२	४५९.९९	९०.७४	१९.७
१९५२-५३	३८७.०६	५५.९७	१४.५
१९५३-५४	३६३.२८	३८.५३	१०.६
१९५४-५५	३९९.२६	४१.३७	१०.३
१९५५-५६	४२८.०४	३७.७६	८.८
१९५६-५७	४९३.७६	२८.६७	५.८
१९५७-५८	५७५.३३	२६.८३	४.७
१९५८-५९	५३०.१४	२१.७३	४.१
१९५९-६०	५५८.३९	१६.९५	३.०

उपर्युक्त तालिका में सन् १९५८-५९ के आंकड़े संशोधित अनुमानों पर आधारित हैं और सन् १९५९-६० के आंकड़ बजट पर आधारित हैं। सन् १९५५-५६ से निर्यात शुल्क से सुलभ होने वाले राजस्व में लगातार कमी होती रही है। इस कमी का कारण निर्यात-शुल्क की दर में तथा निर्यात की मात्रा में कमी रही है। निर्यात बढ़ाने के लिए द्वितीय पंचवर्षीय योजना में विशेष प्रयास होते रहे हैं। उन प्रयासों के अन्तर्गत निर्यात-शुल्क में कमी भी महत्त्वपूर्ण है। सन् १९५१-५२ में निर्यात-शुल्क से होने वाली प्राप्ति कुल सीमा-शुल्क से होने वाली प्राप्ति का लगभग चालीस प्रतिशत रही। प्रथम आयोजन-काल में ही इसकी मात्रा में क्रमशः कमी होती गयी। द्वितीय आयोजन-काल में राजस्व में गिराव का यह क्रम अधिक बढ़ गया।

निर्यात-शुल्क प्रायः निम्नलिखित तीन उद्देश्यों से लगाया जाता रहा है — विदेशी मुद्रा-स्फीति के परिणामों को देश के बाजारों से विलग रखना, देश का कीमत-तल स्थिर करना और विशेष प्रकार के उद्योगों को सरक्षण देना। निर्यात-शुल्क के प्रश्न पर सर्वप्रथम सन् १९२१-२२ वाले भारतीय राजकोषीय-आयोग ने विधिवत् विचार किया था और उसका यह सुझाव था कि निर्यात-शुल्क लगाने में विशेष सावधानी की जाय; ताकि उसका भार विदेशी आयात-कर्ता वहन कर सकें और उससे देश का उत्पादन (निर्यात के गिरने से) अनुचित ढंग से प्रभावित न हो।

आजकल, जबकि अनेक विकासवादी कार्यक्रमों को संगठित रूप में संचालित रखने के प्रयास हो रहे है, निर्यात-शुल्क के प्रयोग मे बहुत ही सतर्कता आवश्यक है। केवल राजस्व की दृष्टि से इसे लगाना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सम्बन्ध मे और देश के निर्यात-व्यापार मे अनेक कठिनाइया उत्पन्न कर सकता है।

प्रस्तुत वर्ष (सन् १९५९-६०) मे लगभग इक्कीस वस्तुओ पर निर्यात-शुल्क लगते हैं। इनमे जूट, कपास, चाय, सूती कपड़े, मैंगनीज, सिगरेट, लोहा और इस्पात, काली मिर्च, तिलहन, काफी, मूगफली आदि विशेष उल्लेखनीय है। निर्यात-शुल्क की लगभग सभी दरें, मात्रा अथवा संख्या के अनुसार लगती है। केवल कपड़ों और कपास के कर्कट पर मूल्य के आधार पर क्रमशः २५ प्रतिशत और ५० प्रतिशत की दर से निर्यात-शुल्क लगता है। यहां यह स्मरणीय है कि निर्यात-शुल्क की दरों की स्थिति आयात-शुल्क की दरों की तुलना में बिल्कुल विपरीत

हैं क्योंकि आयात-शुल्क की अधिकांश दरें, जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है, वस्तुओं के मूल्यों पर ही आधारित हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक समझौतों का सीमा-शुल्क पर प्रभाव

भारतीय सीमा-शुल्क का विवरण पूर्ण करने के लिये उन अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक समझौतों के प्रभाव का उल्लेख अनिवार्य है जिनका भारतवर्ष सक्रिय सदस्य रहा है और जिनके नियमों का पालन करने से आयात-निर्यात-शुल्क की दरें निर्धारित करने का क्रम प्रभावित हो जाता है। इनमें व्यापार और प्रशुल्क विषयक सामान्य समझौता तथा राष्ट्र-मण्डल की अधिमान्य पद्धति विशेष उल्लेख्य है।

राष्ट्र-मण्डल की अधिमान्य पद्धति का मूल आधार ओटावा का सन् १९३२ वाला व्यापारिक समझौता है। इसे सन् १९३९ मे युनाइटेड किंगडम और भारत के बीच व्यापारिक समझौते का रूप दिया गया। आजकल इसका प्रचलन राष्ट्र-मण्डल की अधिमान्य पद्धति के रूप में है। इस पद्धति के अन्तर्गत भारत में यूनाइटेड किंगडम और कुछ अन्य राष्ट्र-मण्डलीय देशो और उपनिवेशों से आने वाले सामानों पर अन्य देशों से आये हुये उसी प्रकार के सामानों की अपेक्षा कम दर पर आयात-शुल्क लगता है। आयात-शुल्क सबधी यह सुविधा भारत से निर्यात होने वाले सामानो पर उन राष्ट्र-मण्डलीय देशो में दी जाती है। कराधान-जांच-आयोग के अनुमानों के अनुसार भारत के कुल आयातों का लगभग आठ प्रतिशत ही इस प्रकार की अधिमान्यता से प्रभावित होता है जबकि यहाँ के कुल निर्यात का लगभग ६२ प्रतिशत राष्ट्रमण्डलीय देशो मे अधिमान्यता की पद्धति से लाभान्वित होता है। स्पष्ट है कि राष्ट्रमण्डलीय अधिमान्यता-पद्धति में सक्रिय भाग लेने से भारत के विदेशी व्यापार पर सुविधाजनक प्रभाव पड़ता है।

लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राजस्व की दृष्टि से भी राष्ट्र-मण्डलीय अधिमान्यता-पद्धति अहितकर नहीं है। वास्तव मे आयात-शुल्क की कुल दरों में लगभग सौ दरें अधिमान्यता-पद्धति के प्रभाव में आती है। उनसे कराधान-जांच-आयोग के अनुमानो के अनुसार लगभग ३ करोड़ ५० लाख रुपये की राजस्व-क्षति प्रतिवर्ष होती है।

व्यापार और प्रशुल्क पर सामान्य समझौते की सदस्यता के नाते भी भारतवर्ष की आयात-निर्यात-शुल्क की दरें और उनसे सुलभ होने वाले राजस्व प्रभावित होते है। यद्यपि प्रारम्भ की तुलना में अब भारत को इस समझौते का सदस्य

रहने के नाते आयात-शुल्क-दरों को परिवर्तित करने की विशेष सुविधा हुई है, लेकिन फिर भी इसके अन्तर्गत दी जाने वाली छूटों के कारण राजस्व की पर्याप्त क्षति होती है। कराधान-जांच-आयोग सन् १९५३-५४ के अनुमानों के अनुसार लगभग ८५ लाख रुपये की क्षति सन् १९५२-५३ में आयात-शुल्क में इस समझौते के अन्तर्गत दी हुई छूटों के कारण हुई थी। चूकि सन् १९५५ मे समझौते के वार्षिक अधिवेशन में अर्द्ध-विकसित देशों को अपने विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप आयात-शुल्क में छूट देने का अधिकार दिया गया, इससे भारत को समझौते में सक्रिय भाग लेते हुए भी आयात-शुल्क की दरों में आवश्यक परिवर्तन करने की सुविधा मिली। लेकिन इसका तात्पर्य यह नही है कि भारतीय सीमा-शुल्क से सुलभ होने वाले राजस्व पर समझौते का अनुचित प्रभाव पड़ना बन्द हो गया। इससे कुछ न कुछ राजस्व-क्षति होना स्वाभाविक है। केवल इस समझौते से अन्य देशों मे भारत के निर्यात को दी जाने वाली सुविधाओ को अधिक से अधिक प्राप्त करने का प्रयास होना चाहिये, ताकि राजस्व-क्षति के अनुरूप ही देश का विदेशी व्यापार प्रश्रय पा सके। इस क्रम में सन् १९४९-५० वाले राजकोषीय-आयोग के सुझाव दृष्टि मे रखना आवश्यक है। उनके अनुसार भारत को शुल्क सम्बन्धी छूट के अदल-बदल मे बड़ी सतर्कता रखनी चाहिए। दूसरे देशो से भारत को निम्नांकित प्रकार के निर्यातों पर शुल्क सम्बन्धी छूट प्राप्त करनी चाहिए :—

१. उन वस्तुओ पर जो विदेशी व्यापार मे अन्य देशो की उसी प्रकार की वस्तुओं की प्रतिस्पर्धा मे बिकती है।

२. उन वस्तुओं के सबध मे जिनकी खपत विदेशी बाजार मे आगे चलकर प्रतिद्वन्दी वस्तुओ के निर्माण से अनुचित ढग से प्रभावित होने वाली हो।

३. भारत में निर्मित पदार्थों पर।

[भारत से निर्यात किये जाने वाले अधिकांश कच्चे माल विदेशो के लिए प्रायः आवश्यक होते है और उनकी प्रतिस्पर्धा वाली वस्तुएं भी अपेक्षाकृत सीमित होती है, इसलिए विदेशों मे उन पर लगाये जाने वाले शुल्को की छूट से उनके निर्यात को किसी प्रकार का प्रोत्साहन नही माना जा सकता।]

आयात होने वाली वस्तुओ के सम्बन्ध मे आयात-शुल्क सम्बन्धी छूट देने के क्रम में आयोग का यह सुझाव था कि पूँजी-सामग्रियों, औद्योगिक यंत्रों और साजों तथा आवश्यक कच्चे मालों पर ही आयात-शुल्क-सम्बन्धी छूटों को केन्द्रित रखा जाय। इन सुझावों को कार्यान्वित करने से भारत अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

का समुचित उपयोग अपने आर्थिक विकास के पक्ष में अधिक से अधिक कर सकता है।

उपर्युक्त बड़े व्यावसायिक समझौते की सदस्यता के अतिरिक्त भारत ने कई देशों से अलग-अलग व्यावसायिक समझौते किये है। सन् १९५६-५७ में कुल लगभग २३ ऐसे देश रहे जिनके साथ भारत ने व्यावसायिक समझौते किये थे। इन समझौतों में यद्यपि शुल्क-सम्बन्धी छूटों का विनिमय बहुत कम हुआ है फिर भी आयात-निर्यात-शुल्क की दरें लागू करने के क्रम पर कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है।

सीमा-शुल्क के प्रशासन से सम्बन्धित कुछ समस्याएँ

सीमा-शुल्क के प्रशासन के सम्बन्ध में तीन प्रमुख समस्यायें उपस्थित होती है। पहली समस्या आयात या निर्यात होने वाली वस्तु का वर्ग प्रशुल्क-तालिका के अन्तर्गत निश्चित करने से सम्बन्धित होता है। इस सम्बन्ध में प्रशुल्क-तालिका के समुचित वर्गीकरण की बात उठती है। भारत की प्रशुल्क-तालिका मे समुचित वर्गीकरण के समावेश की चर्चा बहुत पहले से चल रही है। सीमा-शुल्क-पुनर्गठन-आयोग के सामने भी यह समस्या रखी गयी है और उसका हल सम्पूर्ण तालिका को वैज्ञानिक आधारों पर पुनः वर्गीकृत करने के रूप में सम्भावित है। वर्गीकरण के दोप के कारण एक वर्ग की वस्तु का दूसरे वर्ग की दर से भारित होना बहुत स्वाभाविक है। इससे राजस्व-प्राप्ति मे अनिश्चितता ही नहीं आती, बल्कि आयातकर्ताओं को एक ही प्रकार की वस्तु के लिए असमान कर-भार वहन करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। ऐसी परिस्थितियों में प्रशासनिक शिथिलता और परिणामस्वरूप कर-वंचन के बढ़ने का क्रम सरल हो जाता है।

सीमा-शुल्क-प्रशासन की दूसरी समस्या वस्तुओं के मूल्यांकन की है। यह समस्या विशेषतः उन वस्तुओं के सम्बन्ध में उत्पन्न होती है जिन पर मूल्यों के अनुसार प्रशुल्क लगाया जाता है। वस्तुओ के मूल्यांकन में कई बातो पर विचार किया जाता है। लागत के कौन-कौन से मद उसमें सम्मिलित किये जांय; किस स्थान का मूल्य मूल्यांकन का आधार हो; विदेशी मुद्राओ के विनिमय की कौन-सी दर आधार मानी जाय तथा इन बातों के लिए किन कागजों को प्रमाण-रूप में स्वीकार किया जाय आदि कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उठते है। मूल्यांकन का नियमित और निश्चित ढंग से होना सीमा-शुल्क के उचित प्रशासन के लिए अनिवार्य है। हमारे

यहां अभी समुद्री-सीमा-शुल्क अधिनियम, सन् १८७८ की धारा ३० का अनुसरण मूल्यांकन के लिए किया जाता है। आयात या निर्यात वाले स्थान पर वस्तुओं के थोक-मूल्य को यथासम्भव मूल्यांकन का आधार माना जाता है। जहां थोक-मूल्य का निश्चय सम्भव नहीं होता वहां वस्तुओं के तट पर उतरने तक की कुल लागत मूल्यांकन का आधार बन जाती है। मूल्यांकन के सम्बन्ध में भी समुचित सिद्धान्तों का निर्धारण सीमा-शुल्क-पुनर्गठन-आयोग द्वारा किये जाने की आशा है।

सीमा-शुल्क-प्रशासन की तीसरी समस्या शुल्क-आरोपण और शुल्क-सकलन की है। इसमें कुशलता लाने के लिए सीमाओं पर कार्य करने वाले सीमा-शुल्क-गृहों तथा वस्तुओं के अवैधानिक आवागमन को रोकने वाले संगठन में सुधार की अधिक आवश्यकता है; क्योंकि पिछले कुछ वर्षो से अवैधानिक ढंग से आने-जाने वाली वस्तुओं की मात्रा में काफी वृद्धि हुई जान पड़ती है। आशा है कि सीमा-शुल्क-पुनर्गठन-आयोग के सुझाव इस ओर भी उचित सुधार लाने के मार्ग प्रस्तुत कर सकेंगे।

सीमा-शुल्क पुनर्गठन-समिति की प्रमुख संस्तुतियां

सीमा-शुल्क के ढांचे के सम्बन्ध में :—

१. सीमा-शुल्क-अनुसूची मे जो व्यवस्थायें टिप्पणी के रूप मे दी गयी हैं उन्हें मुख्य अनुसूची में ही सम्मिलित कर लिया जाय और एक ही किस्म के सामानों पर शुल्क की विविध दरें लगाने की जो दुर्व्यवस्था चल रही है उसे दूर किया जाय।

२. सीमा-शुल्क-अनुसूची को इस प्रकार पुनरीक्षित किया जाय कि उसमें तथा आयात-व्यापार-नियंत्रण के क्रम की अनुज्ञा-पत्र सम्बन्धी अनुसूची में पर्याप्त साम्य स्थापित हो जाय। यह साम्य लगातार कायम रखा जाय।

३. भारतीय सीमा-शुल्क-तालिका की निर्देशिका बढ़ाकर आधुनिकतम बना दी जाय और इसे प्रत्येक छः महीने की अवधि के भीतर पुनः प्रकाशित किया जाया करे।

४. वर्तमान भारतीय शुल्क-तालिका की निर्देशिका के स्थान पर यथाशीघ्र "प्रमापित भारतीय व्यापार-वर्गीकरण की वर्णात्मक सूची" का, जिसमें प्रत्येक

मद के सम्मुख तदनुरूप सीमा-शुल्क की मद का उल्लेख हो, संवर्द्धित संस्करण निकाला जाय। संदिग्ध वर्गीकरण वाले मदों के बारे में व्याख्यायें दी जायं। इस संवर्द्धित सूची का प्रकाशन सेन्ट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू के अनुमोदन से होना चाहिए। सूची में दिखाये गये सह-सम्बन्धों को बराबर देखते रहना चाहिए।

५. आयात व्यापार-नियन्त्रण के क्रम की अनुज्ञा-पत्र सम्बन्धी अनुसूची में भी सीमा-शुल्क-तालिका की 'क्रास रिफरेंसिंग' होनी चाहिए, जिससे आयात-व्यापार-नियन्त्रण के लिए किये जाने वाले वर्गीकरणों में सहायता मिले।

आयात-व्यापार के नियन्त्रण को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में

१. व्यापार-नियन्त्रण-अधिकारी प्रत्येक मुख्य सीमा-शुल्क-गृह (कस्टम-हाउस) में उप-प्रमुख नियन्त्रक की श्रेणी का एक कर्मचारी रखे, जो अनुज्ञापत्रों की व्याख्या के सम्बन्ध में होने वाले मतभेदों को शीघ्र दूर कराने में सहायक हो सके और व्यापार, सीमा-शुल्क-व्यवस्था और आयात के सयुक्त प्रमुख नियन्त्रक के बीच सम्पर्क स्थापित कराने के माध्यम के रूप में कार्य कर सके।

२. विवादग्रस्त अनुज्ञा-पत्रों के मामलो की एक सूची संयुक्त-प्रमुख-नियंत्रक (आयात) के यहां भेजी जाय और वह दूसरे दिन ही अपनी सम्मति सीमा-शुल्क-प्रबन्धक को भेजे। इन मामलों पर विचार-विमर्श करने के लिए सीमा-शुल्क-प्रशासन और आयात-व्यापार-नियन्त्रण-अधिकारियों के बीच संयुक्त बैठकें आवश्यकता पड़ने पर निश्चित समय और स्थान पर बुलाई जानी चाहिए। इन बैठको की सूचना पाने और उनमें अपना दृष्टिकोण रखने का अधिकार आयात-कर्ता को मिलना चाहिए।

३ अनुज्ञा-पत्र पर दिया गया विवरण अधिक से अधिक स्पष्ट हो। सामान्य विवरण के अन्तर्गत आने वाली मदो के सम्बन्ध में जो वस्तुएँ आयात की जाने वाली हों उन्हे अनुज्ञा-पत्र पर स्पष्ट किया जाना चाहिए और जहा आवश्यक हो, अवशिष्ट विवरण भी दिये जायं। इस बात का उचित प्रकाशन होना चाहिए कि अनुज्ञापत्र देने वाले अधिकारियों द्वारा अनुज्ञापत्र में आवश्यक संशोधन की सुविधा दी गयी है ताकि विशिष्ट वस्तुओं को उसमें सम्मिलित कराया जा सके।

४. बढ़े हुए मूल्यांकन के सभी मामलों में लागत-बीमा-किराया (सी०-आई० एफ०) मूल्यों को ही डेबिट करना चाहिए। सीमा-शुल्क लगाते समय बढ़े हुए मूल्य को तभी डेबिट करना चाहिए जब कि जान-बूझकर कम मूल्य दिखाने

का प्रयास हुआ हो अथवा आयात-कर्ता और माल भेजने वाले के बीच विशेष सम्बन्ध हो।

आयात-शुल्क लगाते समय मूल्यांकन के सम्बन्ध में

१. समुद्री सीमा-शुल्क-अधिनियम की धारा ३० को इस प्रकार संशोधित किया जाय कि सभी परिस्थितियों में लागत-बीमा किराया मूल्य को ही मूल्य-वार-कर-निर्धारण का आधार माना जाय।

२. धारा ३० (बी) के अन्तर्गत उन मामलों में जहां विक्रेता और क्रेता के बीच विशेष सम्बन्ध हो, मूल्यांकन की विधि के बारे में विस्तृत और स्पष्ट निर्देश दिये जायं। इस सम्बन्ध में कच्चे मालों और अर्द्धनिर्मित सामानों के सीमा-शुल्क के लिए मूल्य निश्चित करने की सम्भावना पर भी विचार किया जाना चाहिए।

३. अधिक से अधिक सामग्रियों के सम्बन्ध में सीमा-शुल्क लगाने के मूल्य स्थिर किये जाने चाहिए। इस उद्देश्य के लिए आयात की जाने वाली वस्तुओं का बार-बार सर्वेक्षण होना चाहिए।

मिश्रित वस्तुओं पर शुल्क-निर्धारण

मिश्रित वस्तुओं पर कर-निर्धारण करने के सम्बन्ध में समिति का यह सुझाव रहा कि मिश्रण के प्रत्येक खण्ड पर अलग-अलग कर-निर्धारण किया जाय और यदि कोई एक मद ही सम्पूर्ण के ७५ प्रतिशत से अधिक हो तो उसी पर लागू दर से सम्पूर्ण पर कर लगाया जाय।

निर्यात के सम्बन्ध में समिति के सुझाव

१. प्रत्येक सीमा-शुल्क-गृह में निर्यात-व्यापार-नियन्त्रण अधिकारी का एक कर्मचारी होना चाहिए जो नियन्त्रित वस्तुओं के निर्यात से सम्बन्धित प्रपत्रों को देख सके।

२. निर्यात-पत्रों को निर्यात किये जाने वाले सामानों के मूल्य और प्रकृति के अनुसार मूल्यांकन करने वाले अधिकारियों द्वारा पास किया जाना चाहिए।

३. निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की सीमा-शुल्क सम्बन्धी कार्यवाही की अनिवार्यता को देखते हुए छुट्टी के दिनों में जो सुविधायें दी जाती हैं उन्हें

रविवार को और अन्य बंदी वाले दिनों में दिया जाना चाहिए तथा इस सुविधा का प्रचार विस्तृत ढंग से करना चाहिए। छोटे बन्दरगाहों पर भी ये सुविधायें दी जानी चाहिएँ और सभी आवश्यक विभागों में कुछ न कुछ कर्मचारी रखे जायं।

४. निर्यात होने वाले सामानों की जांच में सहायता पहुंचाने के लिये निरोधक अधिकारियो को बुलाया जाना चाहिए। उनके द्वारा किये जाने वाले परीक्षणो की जांच समय-समय पर होनी चाहिए ताकि उस कार्य को बोझिल और अत्यधिक होने से बचाया जा सके।

आयात और निर्यात-शुल्कों में परिवर्तन लाने के सम्बन्ध में समिति का यह सुझाव है कि शुल्क की दरों में तथा सीमा-शुल्क सम्बन्धी मूल्यों में परिवर्तन लाने का जो क्रम चल रहा है उसे कायम रखा जाय, अर्थात् जिस दिन उनकी घोषणा होती है उसी दिन से उन्हें लागू करने का वर्तमान क्रम जारी रहे।

गोदामों में रखे गये सामानों पर शुल्क उस दर से लगाया जाय जो उस सामान के सम्बन्ध मे शुल्क चुकाने के दिन लागू रहा हो।

सीमा-शुल्क-गृहों के पुनर्गठन के सम्बन्ध में समिति के कुछ सुझाव

विकासवादी योजनाओं के संचालन के क्रम में वस्तुओं का आयात-निर्यात लगातार बढ़ाया जा रहा है । उस सम्बन्ध में सीमा-शुल्क-सम्बन्धी कार्यवाही द्रुतगामी बनाना आवश्यक है। इसके लिये सीमा-शुल्क-प्रशासन को पुनर्गठित करना है। इस सम्बन्ध मे समिति के निम्नांकित सुझाव उल्लेखनीय है :—

१. सीमा-शुल्क-प्रशासन को भावी कार्य-भार की दृष्टि से आयोजित किया जाय।

२. जनता के कुशल सेवा प्रस्तुत करने तथा प्रशासन के कर्मचारियों की स्थिति सुधारने के लिए विकास-व्यय किये जायं। सरकार के अन्य विभागों की सुविधा के लिए जो विकास-व्यय हो उन्हे उन विभागो के नाम डेबिट किया जाय।

३. मूल्याकन और निरोध विभागो मे अतिरिक्त कर्मचारियों को पर्याप्त संख्या में रखा जाय ताकि भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर बढ़ा हुआ कार्य-भार संभाला जा सके।

४. निर्यात होने वाले सामानों की जांच के लिये निरोधक अधिकारियों का उचित प्रशिक्षण और नियोजन हो।

५. वैज्ञानिक और इंजिनियरिग यन्त्रों के विशिष्ट जानकार अधिकारियों की नियुक्ति पर्याप्त संख्या में की जाय। इन अधिकारियों को औद्योगिक संस्थाओं में प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की जाय ताकि उनके ज्ञान आधुनिकतम हो सकें।

६. निरोध, परीक्षण और मूल्यांकन सभी कार्यों में दक्ष लोगों को बड़ी संख्या में रखा जाय ताकि परिवर्तित परिस्थितियां संभाली जा सके। छोटे बन्दरगाहों पर ऐसे व्यक्तियों को रखना और भी आवश्यक है।

७. परीक्षण मूल्यांकन और निरोध करने वाले कर्मचारियो के लिये प्रशिक्षण-केन्द्र स्थापित किये जायं जिनमे नये कर्मचारी प्रशिक्षित हो सकें। "रिफ्रेशर कोर्सेज" की व्यवस्था पुराने कर्मचारियों के लिए की जाय।

८. समय-समय पर 'कस्टम हाउस' के कलक्टर और अन्य कर्मचारियो की बैठक होनी चाहिए ताकि कार्य-व्यवस्था सुधर सके।

९. निरीक्षण-निर्देशनालय की उपयोगिता और बढ़ायी जाय।

१०. सीमा-शुल्क-प्रशासन के प्रमुख अंगों का विवेचन प्रत्येक दस वर्ष के बाद कम से कम एक बार अवश्य किया जाना चाहिए।

इन सुझावों के अतिरिक्त समिति ने सीमा-शुल्क-प्रशासन की कार्यविधियों में सुधार लाने के लिए कई अन्य सुझाव दिये हैं। इनका मुख्य उद्देश्य यह है कि सीमा-शुल्क-प्रशासन देश की व्यावसायिक नीति को कार्यान्वित करने मे अधिक से अधिक सहायक हो सके तथा सीमा-शुल्कों का उद्ग्रहण आयातकर्त्ताओं और निर्यातकर्त्ताओं को अधिक से अधिक सुविधा देते हुए किया जा सके, आयात-विशेष अथवा निर्यात-विशेष पर वर्गीकरण अथवा मूल्याकन सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण न तो अधिक कर-भार पड़े और न उचित कर का दुराव ही सम्भव हो। इन सुझावों को वैधानिक रूप देने के लिये भारतीय सामुद्रिक-सीमा-शुल्क-अधिनियम (सन् १८७८) को विस्तृत रूप में संशोधित करने की व्यवस्था की जा रही है।

अध्याय १०

केन्द्रीय उत्पादन-शुल्क

अप्रत्यक्ष करों में उत्पादन-शुल्क का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रस्तुत अध्याय में इसी का सैद्धान्तिक विश्लेषण है और उसके भारत मे प्रचलित रूप की व्याख्या की गयी है।

सैद्धान्तिक विश्लेषण

देश मे बनायी जाने वाली ऐसी वस्तुओ पर जिन्हे प्रायः देश के उपभोग के लिए ही तैयार किया जाता है, लगाये जाने वाले कर को उत्पादन-शुल्क कहते है। जब वस्तुये निर्माता अथवा थोक व्यापारी के यहा रहती है तभी उन पर यह शुल्क लगाया जाता है। जिन वस्तुओ पर उत्पादन-शुल्क लग चुका रहता है उन्हे यदि निर्यात किया जाता है तो उत्पादन शुल्क की राशि लौटाई भी जा सकती है ताकि विदेशी बाजार में यह वस्तु उत्पादन-शुल्क के कारण महगी न पड़े।

उत्पादन-शुल्क का भार प्रायः उपभोक्ताओ पर पड़ता है, क्योंकि उत्पादक इस शुल्क को उत्पादन-व्यय का हिस्सा मानकर उसे भी वस्तु की कीमत मे सम्मिलित कर लेते है। लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियो मे उत्पादक को उत्पादन-शुल्क का भार वहन करना होता है। आयात की हुई वस्तु की प्रतिस्पर्धा में उत्पादन-शुल्क वहन करने वाली देशी वस्तु की मांग बढ़ाने अथवा स्थिर रखने के लिए उत्पादन-शुल्क का भार उत्पादक स्वय भी उठा सकते है।

आयात की हुई वस्तु तथा देश में बनी हुई वस्तु को बाजार मे समकक्ष बनाने तथा अप्रत्यक्ष करों की रीति से राजस्व बढ़ाने के लिए कभी-कभी उत्पादन-शुल्क और आयात-शुल्क को साथ-साथ लगाया जाता है, ताकि उत्पादन-शुल्क के कारण देशी वस्तु को विदेशी वस्तु की प्रतिस्पर्धा मे पिछड़ना न पड़े तथा राजस्व पर भी अनुचित प्रभाव न पड़ सके। आयात-कर के साथ उत्पादन-शुल्क लगाने से एक सुविधा और होती है। केवल उत्पादन-शुल्क से ही निश्चित राजस्व प्राप्त

करने में वस्तुओं की कीमत बहुत बढ़ सकती है; केवल आयात-कर से भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो सकती है। लेकिन इन दोनों के सुयोग से उपभोक्ता पर विशेष भार डाले बिना आवश्यक राजस्व की प्राप्ति हो जाती है। निश्चित राजस्व उपलब्ध करते हुए विशेष प्रकार के उद्योगों को संरक्षण देने में भी यह सुयोग सहायक हो सकता है। इसके लिये केवल आयात-कर को इस प्रकार रखना पड़ता है कि विदेशी वस्तु की कीमत (आयात-कर के साथ) देशी वस्तु के उत्पादन-शुल्क के साथ कुल लागत से अधिक अथवा बराबर रहे।

इन उपर्युक्त विशेषताओं के होते हुए भी उत्पादन-शुल्क मे कुछ व्यावहारिक कमिया हैं। उन वस्तुओ के सम्बन्ध में यह ठीक नही कि वे छोटी-छोटी मात्रा में देश के अनेक स्थानों पर निर्मित की जाती है, क्योंकि उनके संग्रह का व्यय बहुत हो जाता है और उनसे अर्थ-व्यवस्था की राजस्व-सम्बन्धी आवश्यकताएँ भी पूरी नही हो पाती। इसके अतिरिक्त उत्पादन-शुल्क का भार छोटे-बड़े सभी निर्माताओं पर समान नही पड़ता। प्रायः छोटे निर्माता पर बड़े निर्माताओं की तुलना मे अधिक भार पड़ता है। इस असमानता को कम करने के लिए छोटे निर्माताओं पर शुल्क की दर कम रखी जाती है और बड़े निर्माताओं पर अधिक। राजस्व की आवश्यकता की पूर्ति के लिये उत्पादन-शुल्क को प्रायः उन वस्तुओं पर लगाया जाता है जिनका उपभोग व्यापक हो, क्योंकि सीमित उपभोग वाली वस्तुओं पर लगने वाले उत्पादन-शुल्क से सीमित राजस्व ही सुलभ हो सकता है। लेकिन व्यापक उपभोग वाली वस्तुएँ प्रायः जन-साधारण की आवश्यकताओं की होती है। उन पर लगने वाले शुल्क से निम्न स्तर अथवा निम्न-मध्यम-स्तर वाले लोग विशेष प्रभावित होते हैं। उच्च वर्ग के लोगो के कुल उपभोग मे इन वस्तुओं का नगण्य स्थान होता है। इस प्रकार उत्पादन-शुल्क लगाते समय राजस्व की आवश्यकता तथा सर्व-साधारण पर पड़ने वाले भार में सन्तुलन रखना आवश्यक होता है।

उत्पादन शुल्क के सैद्धान्तिक तथ्यों के सम्बन्ध में दिये गये उपर्युक्त विवरणों से कुछ विशेष निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। उत्पादन-शुल्क उन वस्तुओं पर लगाया जाय जिनका उत्पादन बड़े पैमाने पर होता हो अथवा जिनके उत्पादन का क्षेत्र सीमित हो। इसे विशेषतः राजस्व की दृष्टि से ही लगाया जाय, लेकिन सर्व-साधारण की आवश्यकता वाली वस्तुओं पर इसे लगाते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि निम्न आर्थिक स्तर वाले लोगों पर इसका अनुचित भार न पड़े। अन्त

में, उन वस्तुओं के सम्बन्ध में उत्पादन-शुल्क लगाते समय आयात-कर को दृष्टि में रखना आवश्यक है जिन्हें संरक्षण देना हो।

भारत में उत्पादन-शुल्क

भारत में उत्पादन-शुल्क का प्रारम्भ सन् १८९४ से माना जा सकता है। इसके पूर्व केवल नमक पर उत्पादन-कर लगाने की व्यवस्था थी। सन् १८९४ में पहली बार २० नम्बर से ऊंचे नम्बर वाले सूत पर उत्पादन-शुल्क लगाया गया। सन् १८९६ में मिल के बने सूती कपड़े पर उत्पादन-शुल्क लगाया गया। ये दोनों उत्पादन-शुल्क लंकाशायर से आयात किये जाने वाले सूती कपड़े पर लगने वाले आयात-कर सम्बन्धी मतान्तरों के परिणाम रहे। उस समय की परिस्थितियों में भारतीय-कर-व्यवस्था के अन्तर्गत यह बड़ा ही असंगत क्रम रहा और यही कारण था कि उत्पादन-शुल्क का बड़ा विरोध किया गया। सन् १९२१-२२ वाले राजकोषीय आयोग ने इस सम्बन्ध की सम्पूर्ण स्थिति की उचित छान-बीन की और यह सुझाव दिया कि कपड़े पर से उत्पादन-शुल्क पूर्णतः हटा लिया जाय। इसी सुझाव के परिणामस्वरूप सन् १९२६ में कपड़े पर से उत्पादन-शुल्क उठा दिया गया।

उत्पादन-शुल्क का वर्तमान रूप सन् १९१७ से मोटर स्पिरिट पर लगाये गये शुल्क द्वारा प्रारम्भ किया गया। इसे लगाने का प्रमुख उद्देश्य यह था कि मोटर-स्पिरिट का उपभोग कम हो सके और युद्ध के लिये इसकी अधिक मात्रा सुलभ हो। मोटर-स्पिरिट के इस उत्पादन-शुल्क को तभी से अब तक कुछ छोटे-मोटे परिवर्तनों के साथ स्थिर रखा जा सका है। सन् १९२२ में मिट्टी के तेल पर उत्पादन-शुल्क लगाया गया। तीसरी वस्तु चांदी थी जिसे सन् १९३० में उत्पादन-शुल्क के क्षेत्र में लाया गया। सन् १९३४ भारत के उत्पादन-शुल्क के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण वर्ष कहा जा सकता है, क्योंकि इसी वर्ष चीनी, दियासलाई, और इस्पात पर इन उद्योगों के संरक्षण के निमित्त लगाये गये आयात-कर की ऊँची दर के कारण उनके आयात गिरे। उससे उत्पन्न राजस्व-क्षति को पूरा करने के लिये उन पर उत्पादन-शुल्क लगाया गया।

द्वितीय महायुद्ध काल में, जबकि सभी प्रकार से उचित साधनों को संग्रहीत किया जा रहा था, उत्पादन-शुल्क के क्षेत्र को भी विस्तृत किया गया। इसी क्रम में सन् १९४१ में टायरों के उत्पादन पर शुल्क लगाया गया। सन् १९४३ में

वनस्पतीय उत्पादनों तथा तम्बाकू को भी उत्पादन-शुल्क के अन्तर्गत लाया गया। तम्बाकू पर लगाया गया उत्पादन-शुल्क सन् १९२१-२२ वाले राजकोषीय आयोग की संस्तुतियों के अनुरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि आयोग ने उत्पादन-शुल्क के सम्बन्ध में यह सुझाव दिया था कि इसे उन संगठित उद्योगों के उत्पादनों पर लगाया जाय, जिनसे वसूली सरल हो और कर-वंचन न्यूनतम हो।

सन् १९४४ में कहवा, चाय और सुपारी पर भी उत्पादन-शुल्क लगा। सुपारी पर लगने वाला शुल्क सन् १९४८ में उठा दिया गया। इसे समाप्त करने के दो प्रमुख कारण थे:—एक तो इनका प्रशासन बड़ा कठिन था, दूसरे सुपारी उत्पन्न करने वाले अधिकांश क्षेत्र विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान में चले गये।

सन् १९४९ मे मिल के बने सूती कपड़ों पर पुनः शुल्क लगाया गया। इसका प्रमुख कारण यह था कि स्वतन्त्रता के पश्चात् ही नमक-कर खत्म कर दिया गया था। उससे राजस्व पर पड़ने वाले अनुचित प्रभाव को समाप्त करने के लिए मिल के बने सूती कपड़ों पर उत्पादन-शुल्क लगाना आवश्यक प्रतीत हुआ। करघा-उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए भी इन वस्तुओं पर उत्पादन-शुल्क लगाना उचित ही था। सन् १९५४ में नकली रेशम, सीमेंट, साबुन और जूतों पर भी उत्पादन-शुल्क लगाया गया।

उत्पादन-शुल्क से राजस्व-प्राप्ति

उत्पादन-शुल्क से सरकारी राजस्व में धीरे-धीरे अधिक योग मिलता जा रहा है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सन् १९२०-२१ में उत्पादन-शुल्क से केवल २ करोड़ ८५ लाख रुपये ही प्राप्त हुए थे, लेकिन स्वतंत्रता के पश्चात् से इससे होने वाली प्राप्ति में लगातार वृद्धि हुई। सन् १९५७-५८ में इससे कुल २७३ करोड़ ६२ लाख रुपये प्राप्त हुए। अगले पृष्ठ पर दी हुई तालिका मे सम्पूर्ण करों से प्राप्त होने वाले राजस्व तथा उत्पादन-शुल्क से होने वाली प्राप्तियो का विवरण दिया गया है।

करोड़ रुपयों

वर्ष १	करों से प्राप्त कुल राजस्व २	केन्द्रीय उत्पादन शुल्क से प्राप्तियाँ ३	३रे का २रे से प्रतिशत ४
१९२०—२१	६०.८५	२.८५	४.७
१९२५—२६	७२.८६	३.२१	४.४
१९३१—३२	७५.६२	६.१९	८.१
१९३८—३९	८१.८०	८.७२	१०.७
१९४८—४९	३८५.१८	५१.६६	१३.४
१९४९—५०	३५०.३९	६७.८५	१९.३
१९५०—५१	४१०.६६	६७.५८	१६.४
१९५१—५२	४५९.९९	८५.७८	१८.६
१९५२—५३	३८७.०६	८३.०३	२१.४
१९५३—५४	३६३.२८	९४.९८	२६.१
१९५४—५५	३९९.२६	१०८.२२	२७.१
१९५५—५६	४११.४७	१४५.२५	३५.३
१९५६—५७	४९३.७६	१९०.४३	३८.६
१९५७—५८	५७५.३३	२७३.६२	४७.६
१९५८—५९) (पुनरीक्षित)	५३०.१४	३०१.१५	५६.८
१९५९—६० (बजट)	५५८.३९	३२७.८०	५८.६

सन् १९३४ से लेकर सन् १९५६ तक की अवधि मे उत्पादन-शुल्क की प्राप्ति में जितनी वृद्धि हुई उनमे दो कारणों का विशेष हाथ रहा है। इस अवधि में कई उद्योगो को संरक्षण दिया गया। संरक्षण के लिये लगाये गये आयात-करों की ऊँची दर के कारण आयात की मात्रा में बहुत गिराव हुआ। फलस्वरूप राजस्व को पर्याप्त क्षति पहुँची। उस क्षति को पूरा करने के लिए उत्पादन-शुल्क लगाना जरूरी था। इसके अतिरिक्त देश की कर-व्यवस्था मे विविधरूपता लाना भी आवश्यक था। उत्पादन-शुल्कों के रूप में अप्रत्यक्ष करों की सख्या बढ़ाना इस क्रम में स्वाभाविक ही रहा है।

उत्पादन-शुल्क की प्राप्तियों को प्रभावित करने में तीन तथ्यों का प्रमुख हाथ

रहा है–(१) उत्पादन-शुल्क की दरों में परिवर्तन, (२) उपभोग की मात्रा में वृद्धि, (३) उत्पादन-शुल्क के क्षेत्र में फैलाव। सन् १९५३-५४ के कराधान-जाँच-आयोग ने उत्पादन-शुल्क की प्राप्ति को प्रभावित करने वाले इन उपर्युक्त तथ्यों की उचित छान-बीन की थी। उनका यह निष्कर्ष रहा कि शुल्क की दरों में वृद्धि की अपेक्षा शुल्क लगाई जाने वाली वस्तुओं की संख्या और उनके उपभोग की मात्रा में वृद्धि होने से ही उत्पादन-शुल्क की प्राप्तियों में विशेष वृद्धि हुई। सन् १९५३-५४ में उत्पादन-शुल्क से मिलने वाली कुल प्राप्ति का २९ प्रतिशत उन वस्तुओं से प्राप्त हुआ जिन पर सन् १९३८-३९ में भी उत्पादन-शुल्क लगता था। उत्पादन-शुल्क की प्राप्ति पर बढ़े उपभोग का प्रभाव सन् १९३८-३९ तथा १९४८-४९ की अवधि में २५ प्रतिशत तथा सन् १९४८-४९ से १९५३-५४ की अवधि में २७ प्रतिशत रहा। यदि कीमत-तल में हुई वृद्धि को भी दृष्टि में रक्खें तो यह प्रगट होगा कि लड़ाई के पहले और स्वतन्त्रता के बाद वाले उत्पादन-शुल्कों की दरों में बहुत कम ही वृद्धि हुई। सन् १९३८-३९ की तुलना में सन् १९५३-५४ की कीमतें लगभग चौगुनी हो गयीं, लेकिन उत्पादन-शुल्कों की दरों की वृद्धि और उसके परिणामस्वरूप राजस्व की वृद्धि १२५ प्रतिशत के लगभग रही।

सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि ज्यों-ज्यों देश के भीतर विविध उत्पादन बढ़ रहे हैं और आयात घटाने में सहायक हो रहे है, त्यों-त्यों सीमा-शुल्क के बदले उत्पादन-शुल्कों का प्रयोग बढ़ाकर राजस्व की व्यवस्था की जा सकती है। चूकि अभी कीमत-तल की वृद्धि के अनुरूप उत्पादन-शुल्क की दरों को बढ़ाया नही जा सका है, इसलिये उनकी दरों की वृद्धि से भी राजस्व की प्राप्ति बढ़ायी जा सकती है।

कुछ प्रमुख वस्तुओं पर उत्पादन-शुल्क का विवरण

भारत में उत्पादन-शुल्क के क्रमिक विकास का संक्षिप्त विवरण देने के पश्चात् यहाँ की कुछ प्रमुख वस्तुओं पर लगाये गये उत्पादन-शुल्क का विस्तृत विवरण आवश्यक है। तम्बाकू, कहवा, मोटर-स्पिरिट, मिट्टी का तेल, चीनी, दियासलाई, चाय, कपड़े तथा अन्य विविध वस्तुओं पर लगाये गये उत्पादन-शुल्कों का विवरण इस क्रम में दिया गया है।

तम्बाकू पर उत्पादन-शुल्क

तम्बाकू पर उत्पादन-शुल्क का प्रारम्भ द्वितीय महायुद्ध काल में (सन् १९४३ में) किया गया। लेकिन इसके पूर्व भी कई बार इस विषय पर विचार किया गया था

और प्रत्येक बार प्रशासन सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण ही इसका प्रारम्भ नही किया जा सका । सन् १९२४-२५ वाली कराधान-जांच-समिति ने इस सम्बन्ध मे यह विचार प्रगट किया था कि भारत की राजकोषीय-व्यवस्था मे तम्बाकू पर लगाये जाने वाले आन्तरिक कर का अभाव लगभग सभी दूसरे सभ्य देशों की राजकोषीय व्यवस्था से अलग है। अर्थात् संसार के अन्य सभी देशों मे तम्बाकू पर उस समय भी उत्पादन-शुल्क लगाया जाता था। उस समिति ने तम्बाकू के व्यापक उपभोग को दृष्टि मे रखते हुए यह राय प्रगट की थी कि भारत मे तम्बाकू पर कर लगाना अत्यन्त ही उपयुक्त है।

भारतवर्ष तम्बाकू का उत्पादन बहुत बड़े पैमाने पर करता है। दुनिया के तम्बाकू उत्पादन करने वाले देशो मे सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका और चीन के बाद इसका ही स्थान आता है। पिछले कुछ वर्षो में तम्बाकू की खेती के क्षेत्र मे शीघ्रता से फैलाव हुआ है। सन् १९४६-४७ मे ५ लाख ७० हजार एकड़ भूमि पर तम्बाकू की खेती होती थी। सन् १९५२-५३ मे इसकी खेती १० लाख २० हजार एकड़ भूमि पर होने लगी। देश की अन्य व्यावसायिक फसलो मे गन्ना, मूगफली और कपास के बाद तम्बाकू का स्थान है। इसके कुल उत्पादन का मूल्य सन् १९५०-५१ के आकड़ो के आधार पर ७१ करोड़ रुपये रहा। देश के निर्यातो मे भी तम्बाक का ८वां स्थान है।

तम्बाकू पर कर लगाने के सम्बन्ध मे सन् १९२४-२५ वाली समिति ने चार विधियों का उल्लेख किया था, जो निम्नाकित थीः—

१. तम्बाकू के उत्पादन पर सरकारी एकाधिपत्य स्थापित किया जाय;

२. तम्बाकू के उत्पादन पर प्रति एकड़ की दर से कुछ शुल्क लगाया जाय,

३. नियमित उत्पादन-शुल्क की व्यवस्था इसके सम्बन्ध में की जाय;

४. तम्बाकू के उत्पादको को अनुज्ञा-पत्र जारी करने की व्यवस्था की जाय।

इन विधियों मे से प्रथम को इसलिए अव्यावहारिक समझा गया कि तम्बाकू का उत्पादन-क्षेत्र बहुत ही विस्तृत रहा है और उसका कुशलतापूर्वक प्रशासन सम्भव नही है। इसी प्रकार उत्पादन-क्षेत्र पर प्रति एकड़ की दर से शुल्क लगाना तथा वसूलना अत्यन्त ही कठिन माना गया, क्योकि उत्पादन-क्षेत्र बहुत ही छिट-पुट रहे हैं और उत्पादकता मे भी बड़े अन्तर पाये जाते है। इन तथ्यो को दृष्टि में रखते हुए समिति ने यह सुझाव दिया कि सिगरेट, पीने की तम्बाकू तथा संगठित कारखानों मे तैयार किये जाने वाले सिगार पर नियमित रूप से उत्पादन-शुल्क

लगाया जाय और दूसरे प्रकार के तम्बाकू के लिए अनुज्ञा-पत्र जारी करने की व्यवस्था की जाय।

परन्तु जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया गया है, सन् १९४३ के पूर्व तम्बाकू पर उत्पादन-शुल्क लगाया जा सकना सम्भव नही हो सका। पहली अप्रैल, १९४३ से इसका प्रारम्भ किया गया। सिगरेट में इस्तेमाल किये जाने वाले बनाये हुए तम्बाकू पर कुल सम्मिश्रण में आयात किये हुए तम्बाकू की मात्रा के अनुसार शुल्क की क्रमिक दरें निश्चित की गयीं। वे ८ आने प्रति पौड से एक रुपये बारह आने प्रति पौड तक के बीच होती थीं। सिगरेट में इस्तेमाल होने वाले बिना बनाये हुए तम्बाकू पर छः आने प्रति पौंड के हिसाब से कर लगता था। बीड़ी और सुघनी बनाने में व्यवहृत तम्बाकू पर भी छः आना प्रति पौड की दर से उत्पादन-शुल्क रखा गया। सिगार और चुरुट के तम्बाकू पर दो आना प्रति पौड और हुक्का में पीने के तम्बाकू तथा खाने की सुर्ती और पत्ते पर एक आना प्रति पौड की दर से उत्पादन-शुल्क रखा गया। सिगार और चुरुट के निर्माण में व्यवहृत तम्बाकू पर लगाये जाने वाले शुल्क के अतिरिक्त उच्च कोटि के सिगरेट और चुरुट पर अतिरिक्त शुल्क भी मूल्य-शिलाओं के आधार पर लगाया गया।

तम्बाकू पर लगाये गये उत्पादन शुल्क के प्रशासन में पहले अनेक कठिनाइयां उपस्थित हुई, किन्तु प्रशासन-यंत्र में सुधार करके उन्हे धीरे-धीरे दूर किया गया। सन् १९४४ में शुल्क की दरों मे भी पर्याप्त वृद्धि की गयी। सिगरेट मे इस्तेमाल किये जाने वाले बनाये हुए तम्बाकू पर शुल्क की दरे दूनी कर दी गयी। सिगरेट में इस्तेमाल किये जाने वाले बिना बनाये हुए तम्बाकू तथा बीड़ी और सुघनी बनाने में प्रयुक्त तम्बाकू पर शुल्क की दरें लगभग ५० प्रतिशत बढ़ा दी गयी। सिगार, चुरुट तथा हुक्के की तम्बाकू और खाने वाली सुर्ती पर शुल्क की दरे बढा कर तीन आने प्रति पौड कर दी गयीं। इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप तम्बाकू पर लगाये गये उत्पादन-शुल्क से होने वाली प्राप्ति सन् १९४३-४४ की तुलना मे सन् १९४४-४५ में लगभग दूनी हो गयी। सन् १९४३-४४ में इसकी मात्रा ९ करोड़ ६५ लाख रुपये थी और सन् १९४४-४५ में यह बढ़ कर १७ करोड़ २८ लाख रुपये हो गयी।

सन् १९४५ में सिगरेट में आयात किये हुये तम्बाकू के साथ इस्तेमाल किये जाने वाले बनाये हुये तम्बाकू पर शुल्क की दरों में और क्रमिकता लायी गयी। साठ प्रतिशत तक तथा चालीस से साठ प्रतिशत तक, आयात की हुई तम्बाकू से बनी

हुई सिगरेटों के वर्गों पर साढ़े सात रुपया और पांच रुपया प्रति पौंड की दर से उत्पादन-शुल्क रखा गया। इन परिवर्तनों से सन् १९४५-४६ में बीस करोड़ बयासी लाख रुपये की प्राप्ति हुई।

सन् १९५१ में बीड़ी के तम्बाकू पर चौदह आना प्रति पौंड तक शुल्क की दर बढ़ा दी गयी। सिगार, चुरुट, हुक्का के तम्बाकू तथा खाने वाली सुर्ती पर उत्पादन-शुल्क की दर को बढ़ाकर छः आने प्रति पौंड कर दिया गया। दो आना और साढ़े-पांच आना प्रति दस सिगरेटों के मूल्य वाले सिगरेटों पर एक पैसे की दर से अधि-कर लगाया गया। साढ़े पांच आना प्रति दस सिगरेटों से अधिक कीमत वाले सिगरेटों पर २ पैसे प्रति दस के हिसाब से अधि-कर लगाया गया।

सन् १९५८-५९ में तम्बाकू पर उत्पादन-शुल्क दो वर्गों में विभक्त कर लगाया जाता रहा है। पहले वर्ग में अनिर्मित तम्बाकू आता है जिस पर आठ प्रमुख दरें लगती है। तीन दरें बनाये तम्बाकू से संबंधित हैं, शेष पांच दरें बिना बनाये तम्बाकू पर लगती हैं। बनाये तम्बाकू पर उनके प्रयोग के अनुसार दरें निश्चित की गयी हैं। सिगरेट बनाने में इस्तेमाल होने वाले ऐसे तम्बाकू पर कुल सम्मिश्रण में आयात किये हुए तम्बाकू के अनुपात के अनुसार उत्पादन-शुल्क लगता है। आयात किये तम्बाकू की मात्रा यदि कुल सम्मिश्रण के ६० प्रतिशत से अधिक हो तो ७½ रुपये प्रति पौंड की दर से उत्पादन-शुल्क लगता है। आयात किये हुए तम्बाकू का अनुपात जितना ही कम होता जाता है, बनाये हुए तम्बाकू पर उत्पादन-शुल्क की दर उतनी ही कम होती जाती है। सम्मिश्रण में कुल देशी तम्बाकू होने पर केवल १ रुपये प्रति पौंड की दर से शुल्क लगता है। पाइप और सिगरेट में पिए जाने वाले सम्मिश्रण के निर्माण में प्रयुक्त बनाये गये तम्बाकू पर ७½ रुपये प्रति पौड की दर से उत्पादन-शुल्क और ५० नये पैसे प्रति पौंड की दर से अतिरिक्त शुल्क लगता है। बिना बनाये हुए तम्बाकू पर उत्पादन-शुल्क की दर कम रही है। द्वितीय वर्ग में निर्मित तम्बाकू जैसे सिगार, चुरुट, सिगरेट आदि आते हैं। निर्मित तम्बाकू को तीन उपवर्गों में विभक्त किया जाता है। प्रथम वर्ग में सिगार और चुरुट आते हैं जिन पर मूल्य-शिलाओं के आधार पर उत्पादन-शुल्क लगते हैं। निचली शिला १४ आना प्रति सैकड़ा से १ रुपया ४ आना प्रति सैकड़े की है जिस पर ४ आना उत्पादन-शुल्क और ५ नये पैसे अतिरिक्त शुल्क लगता है। ऊँची शिला ३० रुपया सैकड़े से अधिक मूल्य वाले सिगरेटों की है जिस पर १२ रु० उत्पादन-शुल्क और ३ रुपया अतिरिक्त-शुल्क लगता है।

द्वितीय वर्ग में सिगरेट आते हैं। इन पर भी मूल्य-शिला के आधार पर उत्पादन-शुल्क लगता है। सबसे ऊँची शिला ५० रुपये प्रति हजार से अधिक मूल्य वाले सिगरेटों की है जिस पर २१½ रुपये उत्पादन-शुल्क और ८ रुपया ६० नये पैसे अतिरिक्त-शुल्क लगता है। निचली शिला ७½ रुपया प्रति हजार से कम मूल्य वाले सिगरेटों की है जिस पर १ रुपये उत्पादन-शुल्क और ४० नये पैसे अतिरिक्त-शुल्क लगता है। तृतीय वर्ग उन बीड़ियों का है जिनके निर्माण में शक्ति-चालित अथवा अन्य यंत्रों का उपयोग किया जाता है। इन पर प्रति हजार ३ रुपये उत्पादन-शुल्क और ६० नये पैसे अतिरिक्त-शुल्क लगता है।

उत्पादन-शुल्क से कुछ विशेष प्रकार के तम्बाकू को छूट दी जाती है। जो तम्बाकू औषधि के लिए निकोटीन युक्त तेजाब बनाने में इस्तेमाल होती है उस पर ४ जून सन् १९४९ से उत्पादन-शुल्क नही लगता। कीटाणुओं को मारने के उद्देश्य से बनाये गये तम्बाकू के पत्ते के चूर्ण पर भी उत्पादन-शुल्क नही लगता। निकोटीन सल्फेट बनाने में इस्तेमाल किये जाने वाली तम्बाकू पर ४ जून १९४९ से उत्पादन शुल्क नहीं लगता। २९ मई सन् १९५४ से उन सिगरेटो के उत्पादन में व्यवहृत बनाये हुये तम्बाकू पर ७५ नये पैसे प्रति पौंड तक ही उत्पादन-शुल्क लगता है जिन में बाहर से आयात किये हुये तम्बाकू का प्रयोग नहीं किया जाता; लेकिन वह छूट तभी मिलती है जब कि वित्त मंत्रणालय द्वारा निर्गमित अधिसूचनाओ में उल्लिखित शर्तें पूरी की गयी हों।

कहवा पर उत्पादन-शुल्क

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, कहवा पर उत्पादन शुल्क सन् १९४४ में प्रथम बार लगाया गया। शुल्क की दर दो आना प्रति पौण्ड रक्खी गयी। सन् १९४५ में दर बढ़ा कर तीन आने प्रति पौण्ड कर दी गयी। कहवे के उपभोग की मात्रा में लगातार वृद्धि के कारण इस पर लगाये जाने वाले उत्पादन-शुल्क की प्राप्ति में पर्याप्त वृद्धि होती रही है। सन् १९४५–४६ में इससे कुल प्राप्ति ३४ लाख रुपये हुई थी, परन्तु सन् १९५३–५४ में जबकि इसके उपभोग की मात्रा २ करोड़ ७० लाख पौण्ड से बढ़ कर ४ करोड़ २० लाख पौण्ड हो गयी, शुल्क से ७९ लाख रुपये की प्राप्ति हुई। आजकल कहवे पर ढाई रुपये प्रति हण्डर उत्पादन-शुल्क लगाया जाता है।

मोटर-स्पिरिट पर उत्पादन-शुल्क

यह सन् १९१७ में प्रारम्भ किया गया। अधिक मात्रा में राजस्व प्राप्त करने के लिए कई अवसरों पर इसकी दर में परिवर्तन किये गये। सन् १९१७ से सन् १९२५ की अवधि में छः आना प्रति सरकारी गैलन की दर से यह लगाया जाता रहा। उपभोग की मात्रा बराबर बढ़ते रहने से इसकी प्राप्ति २४ लाख रुपये से बढ़कर ७९ लाख रुपये हो गयी। सन् १९२५ में शुल्क की दर घटा कर चार आना प्रति गैलन कर दी गयी। बाहर से मँगायी जाने वाली स्पिरिट पर इसी दर से आयात-शुल्क भी कर दिया गया। सन् १९२९ तक उत्पादन-शुल्क की यही दर लागू रही। सन् १९२९ में इससे कुल एक करोड़ पचपन लाख रुपयों की प्राप्ति हुई। सन् १९२९–३० वित्त-वर्ष में शुल्क की दर पुनः बढ़ाकर छः आने प्रति गैलन कर दी गयी। इस वृद्धि से वसूली मे लगभग एक करोड़ छब्बीस लाख रुपये की बढ़ती हुई। पहली अप्रैल सन् १९३१ से शुल्क की दर आठ आने प्रति गैलन कर दी गयी। उसी वर्ष सितम्बर में उस दर को और बढ़ा कर दस आने प्रति गैलन रखा गया। दर की इस वृद्धि से तथा उपभोग मे फैलाव होने से सन् १९३६–३७ में इस उत्पादन-शुल्क से कुल प्राप्ति ५ करोड़ ५९ लाख रुपये हुई। बर्मा के अलग होने से सन् १९३७–३८ में इस मद से होने वाली प्राप्ति में लगभग १ करोड़ ३६ लाख रुपये की कमी हुई। उसके पश्चात् इस मद पर लगाये जाने वाले सीमा-शुल्क को राजस्व-प्राप्ति का अधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत माना जाने लगा। द्वितीय युद्ध-काल में उत्पादन-शुल्क की दर में कई बार परिवर्तन करके उसे पन्द्रह आना प्रति गैलन कर दिया गया। यद्यपि लड़ाई के पश्चात् सन् १९४६ में शुल्क-दर को एक बार घटाया गया किन्तु सन् १९४८ में इसे बढ़ाकर पुनः पूर्ववत् कर दिया गया। सन् १९५१ में इस पर लगने वाले सीमा-शुल्क पर पाँच प्रतिशत अधि-कर लगाया गया। उसी के परिणामस्वरूप उत्पादन-शुल्क को भी बढ़ाकर पन्द्रह आना नौ पाई प्रति गैलन कर दिया गया।

मिट्टी के तेल पर उत्पादन-शुल्क

मिट्टी के तेल पर लगाये जाने वाले उत्पादन-शुल्क की दर में कई बार परिवर्तन हुए हैं। सन् १९२२ में एक आना प्रति गैलन की दर से इसका प्रारम्भ किया गया। सन् १९३० में दर को बढ़ा कर डेढ़ आने प्रति गैलन कर दी गयी। लेकिन सन्

१९३१ में इसे घटा कर एक बार एक आना तीन पाई प्रति गैलन कर दिया गया और फिर उसी वर्ष में ही इसे फिर बढ़ा कर दो आना नौ पाई प्रति गैलन कर दिया गया। इसके पश्चात् सन् १९४२ में इसकी दर में पुनः वृद्धि की गई और उसे चार आना छः पाई प्रति गैलन कर दिया गया। सन् १९४६ से जन-साधारण की सुविधा को दृष्टि में रखते हुए इसकी दर पुनः घटायी गयी और ३ आने प्रति गैलन की दर से शुल्क लगाया जाने लगा। २० मई १९५८ से मिट्टी के तेल पर ६ नये पैसे प्रति गैलन की दर से अतिरिक्त-शुल्क लगाया जाने लगा।

चीनी पर उत्पादन-शुल्क

चीनी उद्योग को संरक्षण देने के पहले चीनी के आयात पर लगाये जाने वाले शुल्क से पर्याप्त राजस्व प्राप्त हो जाता था। सन् १९३०–३१ में लगभग दस लाख अस्सी हज़ार रुपये इससे प्राप्त हुए थे, लेकिन संरक्षण के बाद देश में चीनी-उद्योग का अपूर्व विस्तार हुआ। इससे चीनी का आयात घटा और साथ ही आयात-शुल्क की प्राप्ति में भी पर्याप्त कमी हुई। इस कमी को पूरा करने के लिए देश में चीनी-उत्पादन पर शुल्क लगाना आवश्यक प्रतीत हुआ। परिणामस्वरूप सन् १९३४ में १ रुपया ५ आने प्रति हण्डर की दर से चीनी पर उत्पादन-शुल्क लगाया गया। यह दर १९३९ तक लागू रही। १९३९ में इसे बढ़ाकर २ रुपये प्रति हण्डर कर दिया गया। सन् १९४० में इसकी दर ३ रुपये प्रति हण्डर तक कर दी गयी। सन् १९४९ में दर की वृद्धि पुनः हुई और ३ रुपये १२ आने प्रति हण्डर शुल्क रखा गया। चीनी पर लगाये जाने वाले उत्पादन-शुल्क की प्राप्ति में सन् १९३५–३६ से १९५७–५८ तक लगातार वृद्धि होती रही। सन् १९३५–३६ में इससे १ करोड़ ५३ लाख रुपये प्राप्त हुए थे। सन् १९५३–५४ में यह प्राप्ति १४ करोड़ ३३ लाख रुपये हुई। इस वृद्धि में शुल्क दर की वृद्धि की अपेक्षा उपभोग की वृद्धि का ही विशेष स्थान रहा। शुल्क की दर में तो सन् १९५३–५४ के आँकड़ों को देखते हुए कमी ही मानी जा सकती है, क्योंकि सन् १९४०–४१ में उत्पादन-शुल्क थोक कीमत का लगभग २१ प्रतिशत था। परन्तु सन् १९५३–५४ में यह घट कर ९ प्रतिशत हो गया। उपभोग सन् १९४७–४८ की तुलना में सन् १९५३–५४ वर्ष में लगभग दूना हो गया।

सन् १९५२ से खांडसारी शक्कर पर उत्पादन-शुल्क लगाया जाना पूर्णतः स्थगित कर दिया गया। सन् १९५७–५८ वर्ष में चीनी पर प्रति हण्डर ११.२५

रुपये साधारण उत्पादन-शुल्क के अतिरिक्त ३ . ३१ रुपये अतिरिक्त-शुल्क लगता था। खांडसारी शक्कर पर किसी प्रकार का अतिरिक्त उत्पादन-शुल्क न लगाये जाने के निमित्त ११ जनवरी, १९५८ को भारत सरकार के वित्त-मन्त्रणालय द्वारा विशेष प्रकार की अधिसूचना निकाली गयी।

दियासलाई पर उत्पादन-शुल्क

सन् १९२४–२५ वाली कराधान-जाँच-समिति ने दियासलाई पर उत्पादन-शुल्क लगाने की संस्तुति दी थी। इसका प्रारम्भ सन् १९३४ में किया गया और ४० कड़ियों वाली पेटियों के प्रति ग्रूस पर १ रुपये की दर से, ६० कड़ियों वाली पेटियों के ग्रूस पर डेढ़ रुपये तथा ८० कड़ियों वाली पेटियों के ग्रूस पर २ रुपये की दर से उत्पादन-शुल्क लगाया गया। कुटीर-उद्योगों में दियासलाई के निर्माण को सुरक्षा देने के लिए उन इकाइयों को जो प्रतिदिन १०० ग्रूस पेटियों से अधिक दियासलाई नहीं बनाती थीं, ४० कड़ियों वाली पेटियों पर दस पाई, ६० कड़ियों वाली पेटियों पर १५ पाई और ८० कड़ियों वाली पेटियों पर २० पाई की छूट नियत उत्पादन-शुल्क में दी गयी। यहाँ यह स्मरणीय है कि ये छूटें टैरिफ बोर्ड द्वारा दी गयी संस्तुति के अनुरूप नही रहीं, क्योंकि बोर्ड ने हर दर में दो आने की छूट देने का सुझाव दिया था।

उत्पादन-शुल्क की उपर्युक्त दरें सन् १९४१ के पूर्व तक ज्यों की त्यों रहीं, किन्तु सन् १९४१ में प्रत्येक दर को दूना कर दिया गया और शुल्क का एक नया वर्ग ५० कड़ियों वाली पेटियों के लिए प्रारम्भ किया गया जिन पर ढाई रुपये प्रति-ग्रूस शुल्क लगाना प्रारम्भ किया गया। इस नये वर्ग को इसलिए कायम किया गया कि ६० कड़ियों वाली पेटी की कीमत दो पैसे प्रति पेटी हो जाय। लेकिन चूंकि यह क्रम व्यावहारिक सिद्ध न हो सका, इसलिए पहली अगस्त सन् १९५१ से ५० कड़ियों पर उत्पादन-शुल्क की दर घटाकर एक रुपये बारह आने प्रति ग्रूस कर दी गई। अन्य प्रकार की पेटियों पर शुल्क-दर को अपरिवर्तित रखा गया, अर्थात् ४० कड़ियों वाली पेटियों पर दो रुपये प्रति ग्रूस की दर से उत्पादन-शुल्क रहा, जबकि ५० कड़ियों वाली पेटियों पर एक रुपये बारह आने प्रति ग्रूस उत्पादन-शुल्क हो गया। यह परिवर्तन इस उद्देश्य से किया गया था कि ५० कड़ियों वाली पेटियाँ दो पैसे प्रति पेटी की दर से बिक सके और इन्हीं का अधिक प्रचलन हो। लेकिन यह आशा कार्य-रूप में परिणत न हो सकी। फलस्वरूप पहली मार्च,

१९४५ से इस प्रकार की पेटियों पर दो रुपये आठ आने प्रति ग्रूस की दर से उत्पादन-शुल्क कर दिया गया।

विभिन्न प्रकार की पेटियों पर उत्पादन-शुल्क की विविध दरें रखने से उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं पर पड़ने वाले कर-भार के सम्बन्धमें बहुत ही भ्रान्तियाँ थीं। उपभोक्ताओं से कम कड़ियों वाली पेटियों पर भी अधिक कड़ियों वाली पेटियों-जैसी कीमत ली जाती थी। इन भ्रान्तियों के कारण सन् १९४८–४९ में दियासलाई के उत्पादन में प्रमापीकरण लाने के लिए विशेष रूप से विचार विमर्श हुए। किन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण उस सम्बन्ध में निश्चित किये हुए सुझावों को कार्यान्वित नहीं किया जा सका।

सन् १९४९ में मध्यम वर्ग के निर्माणकों को विशेष प्रश्रय देने के लिए १०० ग्रूस से लेकर ५,००,००० ग्रूस तक दियासलाई की पेटियाँ प्रतिदिन बनाने वाले निर्माणकों को ५० कड़ियों वाली पेटियों पर ६ पाई की छूट और ६० कड़ियों वाली पेटियों पर ९ पाई की छूट दी गयी। १०० ग्रूस से कम पेटियाँ प्रतिदिन बनाने वाले निर्माणकों को ४० कड़ियों वाली पेटियों पर एक आने की छूट और ६० कड़ियों वाली पेटियों पर दो आने की छूट दी गयी। सन् १९५० में छूट की दरों में और वृद्धि की गई। मध्यम वर्ग के निर्माणकों को ४० कड़ियों की पेटियों पर एक आने और ६० कड़ियों की पेटियों पर डेढ़ आने की दर से छूट दी गयी।

इस उत्पादन-शुल्क से सन् १९३५–३६ में लगभग २ करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे। सन् १९५२–५३ में यह प्राप्ति ९ करोड़ ३५ लाख रुपये के लगभग हो गयी। यद्यपि सन् १९५३–५४ में इसकी प्राप्ति में कुछ कमी हुई थी लेकिन सन् १९५७–५८ में इससे सन्तोषजनक प्राप्ति हुई। आजकल ६० कड़ियों वाली पेटियों पर बड़े निर्माणकों पर ४.९० रुपये प्रति ग्रूस की दर से, मध्यम वर्ग के निर्माणकों पर ४.७५ रुपये प्रति ग्रूस की दर से, तीसरे वर्ग के निर्माणकों में ४.५० रुपये प्रति ग्रूस की दर से तथा चौथे वर्ग के निर्माणकों पर ४.३० रुपये प्रति ग्रूस की दर से उत्पादन-शुल्क लगता है। इसी प्रकार ४० कड़ियों वाली दियासलाई पर निर्माणकों के उपर्युक्त वर्ग के अनुसार क्रम से ३.२५ रुपये, ३.१५ रुपये, २.९५ रुपये तथा २.८० रुपये प्रति ग्रूस के हिसाब से उत्पादन-शुल्क लगाया जाता है। सन् १९५३–५४ वाले कराधान-जांच-समिति-आयोग ने यह सुझाव दिया था कि चूँकि दियासलाई का अधिकांश उपभोग तम्बाकू पीने वालों द्वारा किया जाता है, इसलिए इस पर शुल्क की दर और बढ़ायी जा सकती है। उनका यह अनुमान था कि ४०

कड़ियों वाली पेटियों पर २ रुपये की दर से तथा ६० कड़ियों वाली पेटियों पर ३ रुपये प्रति ग्रूस की दर से यदि उत्पादन शुल्क लगाया जाय तो शुल्क का भार थोक कीमत में लगभग ४९ प्रतिशत और खुदरा कीमत में लगभग ४४ प्रतिशत पड़ता है। देश में दियासलाई के उत्पादन-शुल्क का भार प्रति व्यक्ति लगभग चार आने आता है।

चाय पर उत्पादन-शुल्क

चाय पर सन् १९४४ में उत्पादन-शुल्क २ आने प्रति पौण्ड की दर से लगाया गया। सन् १९४८ में इसे बढ़ा कर ३ आने प्रति पौण्ड कर दिया गया। सन् १९५२ में चाय की गिरती कीमत पर विचार करने के लिए भारत-सरकार ने एक आयोग की नियुक्ति की। इसने चाय पर लगने वाले उत्पादन-शुल्क की दर में कमी लाने का सुझाव नहीं दिया किन्तु शुल्क के विलम्बित भुगतान की संस्तुति अवश्य की। आगे चलकर सरकार ने शुल्क के क्रम मे थोड़ा परिवर्तन लाने का निश्चय किया। बागों से खुले रूप में भेजी जाने वाली चाय पर शुल्क की दर एक आना प्रति पौण्ड कर दी गयी। किन्तु खुदरा बेचे जाने के लिए विविध आकारों में चाय को बांधे जाने पर ३ आने प्रति पौण्ड की दर से अधिक शुल्क लगाया जाने लगा। यह परिवर्तन १५ अप्रैल, १९५३ से लागू किया गया। इस परिवर्तन से चाय के बागो से भेजी जाने वाली चाय पर २ आने प्रति पौण्ड की दर से छूट मिली। शुल्क के रूप मे इस परिवर्तन के कारण सन् १९५३–५४ में लगभग एक करोड़ रुपये की कमी राजस्व में हुई। सन् १९५३–५४ में चाय के उत्पादन-शुल्क का भार खुली चाय के प्रत्येक पौण्ड की थोक कीमत का ४.२ प्रतिशत तथा बँधी चाय की प्रति पौण्ड थोक की कीमत का ८.६ प्रतिशत रहा। सन् १९५८–५९ वर्ष में बंधी हुई चाय के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की चायों पर १९ नये पैसे प्रति पौण्ड की दर तक उत्पादन-शुल्क लगता था। बंधी हुई चाय पर खुली चाय पर लगने वाले उत्पादन-शुल्क के साथ २१ नये पैसे प्रति पौण्ड की दर से और शुल्क लगता था।

कपड़े पर उत्पादन-शुल्क

सरकारी राजस्व के अन्तर्गत कपड़े पर लगाये जाने वाले उत्पादन-शुल्क की प्राप्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस शुल्क को सन् १९४९ में नया क्रम दिया गया। अत्यन्त महीन कपड़ों के मूल्य पर २५ प्रति सैकड़ा शुल्क पहली जनवरी, १९४९ से लगाया गया। आगे चलकर सन् १९४९ के वित्त-अधिनियम द्वारा महीन, मध्यम

और मोटे कपड़ों पर उत्पादन-शुल्क भी साथ-साथ लगाया गया। महीन कपड़ों के मूल्य पर ६¼ प्रति सैकड़ा की दर से और मध्यम वर्ग तथा मोटे कपड़ों पर ३ पाई प्रति गज की दर से उत्पादन-शुल्क लगाया गया। यह शुल्क केवल मिल के बने कपड़ों तक ही सीमित रहा। उसमें भी वे कपड़े जो ऐसी मिलों में शक्ति-चालित कर्घों से बने हों जिनमें सूत तैयार करने का विभाग नहीं है, उत्पादन-शुल्क से बाहर रक्खे गये। इसी प्रकार हाथ के कर्घों से तैयार किये जाने वाले कपड़ों पर भी उत्पादन-शुल्क लागू नहीं किया गया।

अत्यन्त महीन और साधारण महीन कपड़ों पर लगाये जाने वाले उत्पादन-शुल्क की दर में फरवरी सन् १९५० से कुछ कमी कर दी गयी। अत्यन्त महीन कपड़ों की दर २५ प्रति सैकड़ा से घटा कर २० प्रति सैकड़ा और महीन कपड़ों की दर ६¼ प्रति सैकड़ा से घटा कर ५ प्रति सैकड़ा कर दी गयी। सन् १९५३ के वित्त-अधिनियम के अन्तर्गत मूल्यों के आधार पर लगाये जाने वाले उत्पादन-शुल्क को प्रति गज की दर से लगाये जाने वाले उत्पादन-शुल्क में बदल दिया गया। अत्यन्त महीन कपड़ों पर ३ आना ३ पाई प्रति गज की दर से और महीन कपड़ों पर १ आना ३ पाई प्रति गज की दर से उत्पादन-शुल्क रखा गया। लेकिन मध्यम वर्ग तथा मोटे ढंग के कपड़ों पर उत्पादन-शुल्क की पुरानी दर ही रखी गयी। खादी तथा हाथ-कर्घों से बने दूसरे कपड़ों का उत्पादन प्रोत्साहित करने के लिए १५ फरवरी, सन् १९५३ से मिल के बने सभी प्रकार के कपड़ों का उत्पादन-शुल्क तीन पाई प्रति गज की दर से और बढ़ा दिया गया। इस अतिरिक्त-शुल्क से होने वाली प्राप्ति का उपयोग खादी-उद्योग तथा कर्घा-उद्योग के विकास के लिए इस्तेमाल करने के उद्देश्य से अलग संचिति कायम करने की व्यवस्था की गई। २५ अक्टूबर, सन् १९५३ से अत्यन्त महीन कपड़ों पर लगने वाले उत्पादन-शुल्क को ३ आना ३ पाई प्रति गज की दर से घटा कर २ आना प्रति गज कर दिया गया। सन् १९५४ में अत्यन्त महीन कपड़ों पर लगने वाले उत्पादन-शुल्क की दर को ६ पाई प्रति गज की दर से बढ़ा दिया गया। महीन, मध्यम वर्ग वाले और मोटे कपड़ों पर भी उत्पादन-शुल्क की दरें बढ़ा दी गयीं। मध्यम वर्ग वाले कपड़ों पर एक आना ६ पाई प्रति गज की दर से और मोटे कपड़ों पर ६ पाई प्रति गज की दर से उत्पादन-शुल्क लगाया जाने लगा। १९५८–५९ वर्ष में अत्यन्त महीन कपड़ों पर ६ आना प्रति गज की दर से उत्पादन-शुल्क और १३ नये पैसे प्रति गज की दर से अतिरिक्त-शुल्क लगता था। महीन कपड़ों पर ६ आना प्रति गज की दर से उत्पादन-शुल्क और ८ नये पैसे

प्रति गज की दर से अतिरिक्त-शुल्क लगता था। मध्यम वर्ग के कपड़ों पर चार आना प्रति गज की दर से उत्पादन-शुल्क और ४ नये पैसे प्रति गज की दर से अतिरिक्त-शुल्क लगता था। मोटे कपड़ों पर उत्पादन-शुल्क की दर मध्यम वर्ग वाले कपड़ों की तरह ही रही, केवल अतिरिक्त-शुल्क की दर ३ नये पैसे प्रति गज रखी गयी। जैसा कि उपर्युक्त आँकड़ों से प्रगट है, उत्पादन-शुल्क की सामान्य दरें अत्यन्त महीन तथा महीन कपड़ों पर समान रखी गयीं। मध्यम वर्ग वाले तथा मोटे कपड़ों पर उत्पादन-शुल्क की निचली दरें समान रूप में लागू हैं। लेकिन अतिरिक्त-शुल्क की दरें चारों के लिए अलग-अलग रही।

विविध उत्पादन शुल्क

उत्पादन-शुल्क लगने वाली कुछ प्रमुख वस्तुओं का विवरण ऊपर दिया गया है। उनके अतिरिक्त कुछ अन्य वस्तुएँ भी है जिन पर उत्पादन-शुल्क लगाया जाता है। सन् १९४४ के केन्द्रीय उत्पादन-शुल्क-अधिनियम के अन्तर्गत नकली रेशम और उनसे बने कपड़े, सीमेण्ट, साबुन, जूते, कागज, बिजली के पंखे, बल्ब, बैटरी, ऊनी कपड़े, टायर, चाँदी आदि उल्लेखनीय है। अन्य विधानों के अन्तर्गत लगाये जाने वाले उत्पादन-शुल्कों में कोयला, रबर तथा मिल में निकाले गये तेल पर लगने वाले उत्पादन-शुल्क उल्लेखनीय हैं।

नकली सिल्क के कपड़ों अथवा रेयन पर पहली बार सन् १९५४–५५ में उत्पादन-शुल्क लगाया गया। शुल्क की दर ६ पाई प्रति वर्ग-गज थी। इसके साथ ३ पाई प्रति गज की दर से अतिरिक्त-शुल्क लगाया जाता था। इस अतिरिक्त-शुल्क को खादी और कर्घा उद्योगों के विकास के लिए इस्तेमाल किया जाता है। अतिरिक्त शुल्क की दर में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। १९५८–५९ वर्ष में अतिरिक्त शुल्क की दर ३ नये पैसे प्रति वर्ग-गज थी।

सीमेण्ट पर भी उत्पादन-शुल्क लगाने का क्रम सन् १९५४–५५ मे प्रारम्भ किया गया। ५ रुपये प्रति टन शुल्क की दर रखी गयी। इस दर में राजस्व की आवश्यकता के अनुसार वृद्धि होती रही। १९५८–५९ वर्ष में यह २४ रुपये प्रति टन थी। साबुन पर उत्पादन-शुल्क पहली बार सन् १९५४–५५ में सीमेण्ट और नकली रेशम के कपड़ों के साथ ही लगाया गया। सुगन्धित साबुन पर १४ रुपये प्रति हण्डर तथा धोने के साबुन पर ५ रुपये ४ आने और ६ रुपये २ आने प्रति हण्डर की दर से उत्पादन-शुल्क लगाया गया। वही दर कुछ परिवर्तनों के साथ

अभी तक चल रही है। इस शुल्क से हाथ से चलने वाली फैक्टरियों में बने साबुन तथा १०० टन धोने वाले साबुन और ५० टन अन्य प्रकार के साबुन से कम मात्रा में साबुन बनाने वाली फैक्टरियों के साबुन को मुक्त रखा गया।

अन्य विधानों के अन्तर्गत लगाये जाने वाले उत्पादन-शुल्क के अन्तर्गत कोयला, रबर विशेषकर उल्लेखनीय हैं। कोयले पर दो दरें प्रचलित हैं—एक तो वे जो कोयला और मुलायम कोक पर लागू होती हैं, और दूसरी वे जो कड़े कोक पर लगायी जाती हैं। १९५८–५९ वर्ष में पहले वर्ग की दर ६ आना प्रति टन थी और दूसरे वर्ग की दर ९ आना प्रति टन थी। १४ जून सन् १९४७ से कोयले की खानों के श्रमिकों के लिए कल्याण-कोष-अधिनियम (कोल माइन्स लेबर वेलफेयर फण्ड ऐक्ट) के अन्तर्गत जम्मू और काश्मीर को छोड़ कर अन्य सभी राज्यों में ६ आना प्रति टन के हिसाब से अतिरिक्त-कर लगता है।

रबर पर उत्पादन-शुल्क पहली अप्रैल सन् १९५५ से शुरू किया गया। शुल्क की दर एक आना प्रति पौण्ड रक्खी गयी जो अब तक प्रचलित है।

देश में लागू उत्पादन-शुल्क के विवरणों से स्पष्ट है कि विकास के लिए आवश्यक राजस्व संगृहीत करने में इसका बड़ा योग है। उत्पादन के प्रकार और मात्रा में ज्यों-ज्यों वृद्धि होती जायगी त्यों-त्यों इस स्रोत से राजस्व एकत्र करने की सम्भावना भी बढ़ती जायगी। अप्रत्यक्ष करों में उत्पादन-शुल्क का विशेष महत्त्व इसी कारण से है कि राजस्व सम्बन्धी जैसी आवश्यकता आ पड़ती है उसी के अनुरूप इसकी दरों और प्रभाव-क्षेत्र में परिवर्तन कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत क्षेत्र के विनियोगों को उचित दिशा देने में भी उत्पादन-शुल्क का उपयोग होता है। जिन वस्तुओं के उत्पादन को अथवा जिन उत्पादन-विधियों को प्रोत्साहन देना होता है उन पर से उत्पादन-शुल्क हटा लिया जाता है या घटा दिया जाता है और प्रतियोगी वस्तुओं के उत्पादन पर शुल्क बढ़ा दिया जाता है।

राजस्व और उत्पादन पर प्रभाव डालने के अतिरिक्त उत्पादन-शुल्क वस्तुओं के उपभोगों को भी नियन्त्रित रखने में योग देता है। वास्तव में उत्पादन पर उपभोगों के माध्यम से ही इसका प्रभाव पड़ता है। अध्याय में दिये गये विवरण से स्पष्ट है कि कुटीर अथवा लघु उद्योगों से तैयार की हुई वस्तुओं का उपभोग बढ़ाने और इस प्रकार उनके उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिए ही उत्पादन-शुल्क संबंधी छूट दी जाती है। अगले अध्याय में इस तथ्य की व्याख्या है कि मादक द्रव्यों का उपभोग कम करना उन पर लगने वाले उत्पादन-शुल्क का एक प्रमुख हेतु रहा है।

अध्याय ११

रेलों से प्राप्त वित्त

भारत सरकार को रेलों से बहुत पहले से ही वित्त-प्राप्ति होती रही है। केन्द्रीय सरकार के राजस्व में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय वित्त-व्यवस्था के विश्लेषण के क्रम में रेलों से सुलभ हुये वित्त की व्याख्या आवश्यक है। परन्तु उस विवरण के पूर्व रेलवे की वर्तमान स्थिति और उसके प्रारम्भिक विकास पर विचार कर लेना उचित है।

भारत में रेलों का प्रारम्भ और उनकी वर्तमान स्थिति

भारत में रेलों का प्रारम्भ सन् १८५३ से माना जा सकता है जबकि ३८ लाख रुपये की पूजी के व्यय से २० मील तक रेल-मार्ग की व्यवस्था प्रारम्भ की गयी। सन् १८५३ से सन् १९५३ तक भारतीय रेलों में बहुत ही फैलाव हुआ। सन् १९५२-५३ मे भारत की कुल रेलें ३४,२७५ मील लम्बी थीं। उन पर कुल पूजी-व्यय ८६,८५५ लाख रुपये हुआ था और उनसे वार्षिक कुल आय लगभग २७,२२८ लाख रुपये हुई थी। सन् १९५७ में लगभग ३४,७४४ मील लम्बी रेले थी। सम्पूर्ण रेल-व्यवस्था का पूंजी-मूल्य लगभग १,०७८ करोड़ रुपये था। उस वर्ष रेलों से होने वाली कुल प्राप्तियां ३५१ करोड़ रुपये थीं। लगभग १० लाख व्यक्ति इनमें विभिन्न पदों पर नियुक्त थे और वेतन तथा मजदूरी के रूप में उन्हें लगभग १५० करोड़ रुपये वितरित किया गया था।

सन् १९४४ के पहले भारतीय रेलों का स्वामित्व और नियन्त्रण बड़ा ही जटिल था। कुछ रेलें सरकार के स्वामित्व और प्रबन्ध के अन्तर्गत थीं, कुछ पर सरकार का स्वामित्व था और प्रबंध-व्यवस्था कम्पनियों के हाथ में थी, कुछ रेलें कम्पनियों के स्वामित्व और प्रबन्ध के अन्तर्गत थी। कुछ देशी रियासतों के शासकों की अपनी रेलें थीं। सन् १९४४ में ब्रिटिश भारत की रेलों को सरकारी प्रबंध और स्वामित्व के अन्तर्गत ले लिया गया। रियासतों के मिलने के बाद उनकी रेलें

भी भारत की रेलों में मिल गयीं। किन्तु सन् १९५० तक रेलों का प्रबन्ध बड़ा ही अनुपयुक्त ढंग से चलता रहा, क्योंकि हरेक रेलवे लाइन का प्रबन्ध अलग ढंग से किया जाता रहा। रेलवे-शासन में मितव्ययिता और कुशलता लाने के लिये भारत की सम्पूर्ण रेलों को कुछ विशेष क्षेत्रों में विभक्त करने का कार्यक्रम रेलवे बोर्ड द्वारा सन् १९५० में तैयार किया गया। सन् १९५१ से सन् १९५५ तक की अवधि में धीरे-धीरे इन क्षेत्रों के निर्माण की व्यवस्था की गई। अब भारत की रेलें ८ प्रमुख क्षेत्रों में विभक्त हैं। दक्षिणी, मध्य, पश्चिमी, उत्तरी, पूर्वी, पूर्वोत्तरी तथा दक्षिण-पूर्वी ये सातों क्षेत्र पहले बने। आठवां था क्षेत्र उत्तरी-पूर्वी सीमान्त रेलों का। इनमें रेलों का प्रबन्ध अलग-अलग किया जाता है। इन क्षेत्रों के बन जाने से भारतीय रेलों का प्रशासन सरल और सुविधापूर्ण हो गया है।

भारत की रेलवे व्यवस्था एशिया में सबसे बड़ी है तथा विश्व में उसका स्थान चतुर्थ है। देश के राष्ट्रीय उद्योगों में भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है। अपनी विशालता के अनुरूप ही ये रेलें सरकारी राजस्व में पर्याप्त योग देती है। प्रति-वर्ष करोड़ों रुपयों की वित्त-प्राप्ति इनसे होती है जिसका प्रयोग देश में अन्य विकास-वादी योजनाओं को चलाने के लिए किया जाता है।

राजकोष में रेल के वर्तमान योगों का विश्लेषण करने के पूर्व उसके पिछले इतिहास को संक्षेप में देखना उचित ही है। सरकार और रेलवे व्यवस्था के बीच वित्तीय सम्बन्ध इस उद्देश्य से किए गये कान्वेन्शन का परिणाम कहा जा सकता है। पहली बार सन् १९२१ में ऐकवर्थ कमेटी द्वारा रेलों की वित्तीय व्यवस्था की पूर्ण जांच की गयी। सन् १९२४ में समिति की संस्तुतियों के आधार पर आम बजट से रेलवे वित्त-व्यवस्था को अलग करने के प्रश्न पर विचार किया गया। बहुत विरोध के पश्चात् सन् १९२४ के कान्वेन्शन में यह समझौता हुआ कि रेलें केन्द्रीय बजट में कुछ निश्चित राशि दें। सन् १९२५-२६ में रेलवे बजट को पहली बार आम बजट से अलग किया गया। रेलवे कान्वेंशन की शर्तों के अनुसार केन्द्रीय राज्य कोष को रेलों से पूर्व वर्ष की भारित पूंजी का एक प्रतिशत और उस वर्ष के अतिरिक्त लाभ का ५वां भाग मिलने की व्यवस्था की गयी। इस निश्चित प्राप्ति के अतिरिक्त भी विशेष परिस्थितियों में रेलवे कान्वेन्शन के लिये कुछ विशेष राशि अलग करने की व्यवस्था की गयी। यह विशेष व्यवस्था तभी होती थी जबकि पूर्वोक्त नियत राशि राज्य-कोष में देने के पश्चात् रेलवे की संचिति में

स्थानान्तरित की जाने वाली राशि ३ करोड़ रुपये से अधिक होती थी। इस अधिक राशि का एक तिहाई रेलवे कान्वेन्शन के लिए सुलभ किया जाता था।

यह क्रम सन् १९४९ तक कुछ संशोधनों के साथ चलता रहा। सन् १९४९ में रेलवे-कान्वेंशन-समिति के सुझावों के आधार पर संवैधानिक सभा ने २१ दिसम्बर को एक नया रेलवे कान्वेन्शन पारित किया जिसके अन्तर्गत आम बजट में रेलवे के योगदानों को निश्चित करने की व्यवस्था की गयी।

रेलवे वित्त और सामान्य वित्त के सम्बन्धों का वर्तमान आधार सन् १९४९ में अपनाये गये रेलवे-कान्वेन्शन समिति के सुझाव ही हैं। इसलिये इन सुझावों का विश्लेषण आवश्यक है। नीचे उनके प्रमुख अंशों की व्याख्या की गयी है:—

१. साधारण वित्त और रेलवे वित्त की तात्कालिक स्थिति में इस प्रकार का परिवर्तन किया जाय जिससे भारत सरकार को रेलवे उद्योग के एकमात्र अंशधारी की स्थिति प्राप्त हो जाय और उसके सामान्य वित्त को सन् १९५०-५१ से ५ वर्षों तक ऋण-पूंजी पर ४ प्रतिशत वार्षिक की दर से लाभांश मिले। लगी हुई ऋण-पूंजी का निश्चय प्रतिवर्ष किया जाय। ५ वर्ष की अवधि समाप्त होने पर पुनः विचार किया जाय।

२. ह्रास-कोष में प्रतिवर्ष कम से कम १५ करोड़ रुपये ५ वर्षों तक दिया जाय और पुन.स्थापन की कुल लागत इस कोष पर भारित की जाय।

३. लाभ वाले वर्षों की अतिरिक्त राशि से विकास-कोष कायम किया जाय जिसमें वर्तमान सुविधा-वृद्धि-कोष मिला लिया जाय। विकास कोष से यात्रियों की सुविधा की व्यवस्था रेल-उद्योग की विशालता के अनुरूप की जाय तथा श्रम-कल्याण के लिये उचित राशि लगायी जाय। उन योजनाओं का वित्त-प्रबन्ध किया जाय जो प्रारम्भ में अलाभप्रद हों लेकिन जिन्हें चलाना आवश्यक हो। आगम-संचित-कोष का प्रयोग केवल रेलवे बजट के घाटे की पूर्ति तथा केन्द्रीय सरकार के सामान्य राजस्व के लिए निश्चित लाभांश के भुगतान तक ही सीमित रखा जाय। आगम-संचित-कोष वर्तमान रेलवे कोष का स्थान ले।

४. भारत-सरकार की रेलों में रियासतों की रेलों के विलय होने के पश्चात् से दो अलग खाते स्थापित किये जायं। एक ऋण-खाता हो और दूसरा ब्लाक-खाता हो। ऋण-खाते में रेलों की अंश-पूंजी दिखायी जाय और ब्लाक-खाता में

रेलों की वे स्थूल सम्पत्तियां दिखाई जायं, जिन्हें ऋण, पूंजी अथवा आगम से प्राप्त किया गया हो।

सन् १९५४-५५ वर्ष में रेलवे कान्वेंशन कमेटी ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह समिति सन् १९५४ में, दिसम्बर सन् १९४९ के कान्वेंशन-सम्बन्धी प्रस्ताव के अनुसार स्थापित की गयी थी। इसे निम्नलिखित तीन प्रमुख तथ्यों पर विचार करने का भार सौंपा गया था :—

१. सामान्य राजस्व में रेलों द्वारा दिये जाने वाले योग की दर।

२. ऋणों पर होने वाले व्ययों का पूंजी और आगम वर्गों में विभाजन।

३. तीनों रेलवे-कोषों, ह्रास-संचित-कोष, विकास-कोष और आगम-संचित कोष, में जमा की जाने वाली राशियां।

इस समिति ने सन् १९४९ के कान्वेन्शन में निश्चित प्रथा के अनुसार रेलों में लगी हुई पूंजी पर निश्चित दर से लाभांश के रूप में सामान्य बजट को दिये जाने वाले योग को जारी रखने का सुझाव दिया। जहां तक लाभांश की दर का प्रश्न था समिति का यह सुझाव था कि सन् १९५१-५६ से अगले ५ वर्षों तक प्रचलित चार प्रतिशत को अपरिवर्तित रखा जाय। समिति का यह भी सुझाव था कि अधि-पूंजीकरण वाले अंश पर तथा नई रेलों के बनाने में किये गये पूंजी-व्यय पर लाभांश की दर नीची रखी जाय। समिति ने अधि-पूंजीकरण की मात्रा सौ करोड़ रुपये तक अनुमानित की थी।

जहां तक ह्रास-संचित-कोष में दिये जाने वाले योग का सम्बन्ध था समिति ने यह सुझाव दिया कि अगले ५ वर्षों में इसके लिए प्रति वर्ष अलग की जाने वाली राशि ३० करोड़ रुपये से धीरे-धीरे बढ़ाकर ३५ करोड़ रुपये वार्षिक कर दी जाय। यह वृद्धि इसलिये आवश्यक समझी गयी कि प्रति वर्ष सम्पत्तियों में बढ़ती होने के कारण रेलों की क्षयशील सम्पत्ति की मात्रा में लगातार वृद्धि होती रही है। उनके ह्रास की उचित व्यवस्था अनिवार्य है। समिति का यह भी सुझाव था कि विकास-कोष से प्राप्त की जाने वाली सम्पत्तियों के पुनःस्थापन का व्यय ह्रास-संचित-कोष से ही पूरा किया जाय।

विकास-कोष के सम्बन्ध में समिति का यह सुझाव था कि ३ लाख रुपये से अधिक लागत वाली अलाभकर सुधार-सम्बन्धी कार्यशालाओं के शुल्क-व्ययों को तथा तृतीय और चतुर्थ वर्ग वाले कर्मचारियों के आवासों के निर्माण व्ययों को इसी कोष से पूरा किया जाय। रेलवे यात्रियों की सुविधाओं के लिए प्रतिवर्ष

तीन करोड़ रुपये अलग किये जाने के वर्तमान क्रम से यह व्यवस्था अतिरिक्त हो। आगम-संचित-कोष में प्रति वर्ष सम्मिलित की जाने वाली राशि के सम्बन्ध में कोई सुझाव समिति ने नहीं दिया।

अन्त में समिति ने यह भी विचार प्रगट किया था कि अगले ५ वर्षो के बाद एक संसदीय समिति द्वारा रेलवे की आयों की स्थिति पर पुनः विचार किया जाय।

समिति के उपर्युक्त सभी सुझावों को सन् १९५५-५६ वाले बजट तक सम्मिलित कर लिया गया। इन नयी व्यवस्थाओं से सामान्य राजस्व को रेलों में लगी हुई पूंजी पर एक निश्चित दर से राशि सुलभ होने लगी जिससे आर्थिक विकास के लिए चलायें जाने वाले आयोजनों के संचालन में पर्याप्त सुविधा हुई। इनसे रेल-प्रशासन को भी यह सुअवसर प्राप्त हुआ कि अधिक लाभ वाले वर्षो में वह पर्याप्त कोष कायम कर सके जिससे मंदी वाले वर्ष में सामान्य राजस्व को निर्दिष्ट न्यूनतम राशि सरलतापूर्वक दी जा सके।

रेलवे-राजस्व

विभाजन के पश्चात् से रेलवे राजस्व के अन्तर्गत यात्रियों और वस्तुओं के आवागमन से सुलभ होने वाली प्राप्तियो मे पर्याप्त वृद्धि हुई। सन् १९४९-५० में इस मद से २१० करोड़ १० लाख रुपये प्राप्त हुए थे। सन् १९५७-५८ में यह प्राप्ति ३८५ करोड़ रुपये हुई। सन् १९४९-५० से रेलवे बजट पर सक्षेप में नीचे प्रकाश डाला गया है।

सन् १९४९-५० वाले संशोधित बजट मे ११ करोड़ २ लाख रुपये की बचत अनुमानित थी, जबकि वास्तविक खाते के अनुसार बचत की राशि १४ करोड़ ५९ लाख रुपये थी। यात्रियों तथा वस्तुओं के आवागमन से होने वाली कुल प्राप्तियाँ संशोधित अनुमानों की तुलना में ११ करोड़ २० लाख रुपये अधिक रही। सामान्य संचालन-व्ययों की मात्रा मे भी अधिकता हुई थी। संशोधित अनुमानों से वास्तविक व्ययों की राशि ८ करोड़ ५३ लाख रुपये अधिक थी। व्ययों की इस वृद्धि में मुद्रा-स्फीति और सुधार-संबंधी कार्यो के लिए पुनःस्थापन-व्यय के अन्तर्गत समायोजित १५ करोड़ रुपयों की राशि भी सम्मिलित थी। उस वर्ष की कुल बचत की राशि में से ७ करोड़ रुपये सामान्य राजस्व में स्थानांतरित किये गये थे और शेष ह्रास-संचित-कोष में जमा किया गया।

सन् १९५०-५१ के खातों के अनुसार यात्रियों और वस्तुओं के आवागमन से

होने वाली कुल प्राप्ति २६३ करोड़ १ लाख रुपये थी और सामान्य संचालन-व्यय १८० करोड़ २३ लाख रुपये था। ह्रास-संचित-कोष में ३० करोड़ रुपये स्थानान्तरित करने, कार्यशील लाइनों पर २५ लाख रुपया व्यय करने, ४ करोड़ ९७ लाख रुपये तक विविध व्यय करने और सामान्य राजस्व में ३२ करोड़ ५१ लाख रुपये का योग देने के पश्चात् शुद्ध बचत १५ करोड़ ५ लाख रुपये रही। यहां यह स्मरणीय है कि शुद्ध बचत की यह राशि इस वर्ष के संशोधित अनुमान के अनुसार १४ करोड़ २४ लाख रुपये थी और सन् १९४९-५० वर्ष में यह ७ करोड़ ५९ लाख रुपये थी। सन् १९५०-५१ की शुद्ध बचत की उपर्युक्त राशि में से १० करोड़ रुपये विकास-कोष में जमा किये गये। शेष ५ करोड़ ५ लाख रुपये आगम-संचित-कोष में जमा किये गये।

सन् १९५१-५२ में रेलवे की शुद्ध आय ६१ करोड़ ७ लाख रुपये थी जिसमें से ३३ करोड़ ४ लाख रुपये सामान्य राजस्व में स्थानांतरित किये गये और शेष में से १० करोड़ रुपये विकास-कोष मे तथा १८.३ करोड़ रुपये आगम-संचित-कोष में जमा किये गये।

सन् १९५२-५३ में शुद्ध बचत १३.२ करोड़ रुपये थी जिसमें से १२ करोड़ रुपये विकास-कोष में जमा किये गये। शेष आगम-संचित कोष मे ले जाया गया।

सन् १९५३-५४ में शुद्ध बचत की राशि संशोधित अनुमानों की तुलना में कम रही। इसका प्रधान कारण संचालन-व्यय में वृद्धि रहा। इस वर्ष भी यद्यपि सामान्य राजस्व में इससे ३४ करोड़ रुपये दिये गये, परन्तु विकास-कोष के लिए केवल २ करोड़ ६० लाख रुपये ही बच सके, जबकि संशोधित अनुमानों के अनुसार इसमें ३ करोड़ २० लाख रुपये जमा होने चाहिए थे।

सन् १९५४-५५ में संशोधित अनुमानों की तुलना में कुल आयों और संचालन व्ययों में वृद्धि हुई। आय की वृद्धि ३ करोड़ ९० लाख रुपये की रही जबकि व्यय की वृद्धि केवल १ करोड़ ४० लाख रुपये तक ही हो सकी। शुद्ध बचत की राशि संशोधित अनुमान से इस प्रकार २.५ करोड़ अधिक रही। इसकी कुल राशि—९ करोड़ १० लाख रुपये विकास-कोष में जमा कर दी गयी।

सन् १९५५-५६ वर्ष में सामान्य राजस्व को उचित योग देने के पश्चात् रेलवे की शुद्ध बचत की मात्रा १४ करोड़ २० लाख रुपये थी। यह राशि संशोधित अनुमान, ९ करोड़ ६० लाख रुपये से ४ करोड़ ६० लाख रुपये अधिक थी। इस वृद्धि में दो कारणों का प्रमुख हाथ रहा। विभिन्न मदों से होने वाली कुल

प्राप्तियों में लगभग २ करोड़ १० लाख रुपये की वृद्धि हुई; जबकि व्यय की राशि में २ करोड़ ४० लाख रुपये की कमी रही। शुद्ध बचत की उपर्युक्त राशि का आधा विकास-कोष में जमा कर दिया गया और शेष आगम-संचित कोष में जमा हुआ।

सन् १९५६-५७ में बस्तुओ और यात्रियों के आवागमन से होने वाली कुल प्राप्ति ३४८ करोड़ रुपये थी। सन् १९५७-५८ में संशोधित अनुमानों के आधार पर इसे ३८५ करोड़ रुपये तक आंका गया था और सन् १९५८-५९ के बजट-अनुमान के अनुसार इसकी राशि ४०८ करोड़ रुपये थी; यद्यपि संशोधित अनुमान के अन्तर्गत कुल प्राप्ति १९५८-५९ वर्ष में ३९४ करोड़ ३८ लाख रुपये रही। सन् १९५९-६० वर्ष में बजट अनुमानों के अनुसार कुल प्राप्तियां ४२२ करोड़ ३ लाख रुपये आंकी गयी। कुल व्ययों की मात्रा १९५६-५७ वर्ष में २८९ करोड़ १९ लाख रुपये और १९५७-५८ वर्ष मे ३२१ करोड़ ९९ लाख रुपये रही (खातों के अनुसार)। १९५८-५९ वर्ष में बजट अनुमानों के अनुसार कुल व्यय की राशि ३३० करोड ५६ लाख रुपये थी, जबकि सशोधित अनुमानों के अन्तर्गत इसकी मात्रा केवल ३३१ करोड़ ३५ लाख रुपये थी। बजट अनुमान से संशोधित अनुमान की राशि में वृद्धि होने का सबसे बड़ा कारण सामान्य संचालन-व्यय में वृद्धि था। १९५९-६० वर्ष के बजट के अनुसार कुल व्ययों की मात्रा ३४६ करोड़ ४४ लाख रुपये आंकी गयी है। व्ययो और शुद्ध प्राप्तियों के इन आकड़ों के आधार पर उपर्युक्त वर्षों की शुद्ध प्राप्तियां निम्नांकित रही हैं :—

वर्ष	शुद्ध प्राप्तियां
१९५६-५७	५८,३८,००,००० रुपये
१९५७-५८	५७,७८,००,००० रुपये
१९५८-५९ (बजट)	७६,९२,००,००० रुपये
१९५८-५९ (सशोधित)	६३,०३,००,००० रुपये
१९५९-६० (बजट)	७५,६०,००,००० रुपये

शुद्ध प्राप्तियों की उपर्युक्त राशियों से सामान्य राजस्व में सन् १९५६-५७ में ३८ करोड़ १६ लाख रुपये, १९५७-५८ वर्ष में ४४ करोड़ ४० लाख रुपये, १९५८-५९ वर्ष के संशोधित अनुमानों के अनुसार ५० करोड़ ३ लाख रुपये और

१९५९-६० वर्ष के बजट के अनुसार ५४ करोड़ ४१ लाख रुपयों का योग दिया गया। शुद्ध बचत की शेष राशियां विकास-कोष में जमा कर दी गयीं। इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि रेलवे से सामान्य राजस्व को प्राप्त होने वाले योग में लगातार वृद्धि होती रही है।

आर्थिक आयोजन और रेलवे

रेलवे सम्बन्धी वित-व्यवस्था का विवरण समाप्त करने के पूर्व इस बात पर विचार करना उपयुक्त है कि विकास-कोष की योजना के अन्तर्गत रेलवे विकास के क्या कार्यक्रम चलते रहे हैं। पिछले कुछ वर्षो से रेलवे की सबसे बड़ी समस्या पुनर्स्थापन और नवीनीकरण की रही है। इसका प्रारम्भ सन् १९३० की आर्थिक मंदी से माना जा सकता है। द्वितीय युद्ध और विभाजन के परिणामस्वरूप आवागमन का भार बढ़ने से यह समस्या और जटिल हो गयी किन्तु सन् १९४८ से इस ओर धीरे-धीरे प्रयास प्रारम्भ कर दिये गये। प्रथम पंचवर्षीय आयोजन के अन्तर्गत रेलवे के पुनःस्थापन तथा विकास के लिये ४०० करोड़ रुपये की व्यवस्था सोची गयी। इसमें से ३२० करोड़ रुपये रेलवे से ही सुलभ किये जाने वाले थे।

यह सन्तोष का विषय है कि प्रथम पंचवर्षीय आयोजन-काल मे रेलवे-पुनःस्थापन और विकास पर ४२३ करोड़ ७३ लाख रुपये व्यय किये गये और साथ ही रेलवे के संचित कोषों की स्थिति भी सुदृढ होती गयी। सन् १९५५-५६ के अन्त में इन कोषों की मात्रा १६३ करोड़ रुपये हो चुकी थी।

उपर्युक्त व्यय से प्रथम पंचवर्षीय आयोजन-काल मे ४३० मील लम्बी तोड़ी हुई लाइनें पुनः ठीक की गयीं और ३८० मील लम्बी नयी लाइने बनी तथा ४६ मील लम्बी सँकरी लाइनों को छोटी लाइनों मे बदला गया। प्रथम आयोजन के अन्त में ४५३ मील लम्बी नयी लाइने निर्माण के क्रम में थी। ५२ मील लम्बी लाइनों को बड़ी लाइनों में बदलने का क्रम चल रहा था और २००० मील से भी अधिक लम्बी लाइनों को बनाने के लिये सर्वेक्षण चल रहा था।

द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन के अन्त तक रेलवे पर पड़ने वाले परिवहन सम्बन्धी भार में और भी वृद्धि का अनुमान लगाया गया था। वस्तुओं का यातायात ६० लाख ८० हजार टन से तथा यात्रियों का आवागमन १५ प्रतिशत से बढ़ने का अनुमान था। इस बढ़े भार को संभालने की क्षमता भारतीय रेलों में कायम करने के लिये १,१२५ करोड़ रुपये लागत वाले विकास कार्य-क्रम को चलाने की व्यवस्था

की गयी है। विकास के कार्यक्रमों के अन्तर्गत लगभग १,६०० मील लम्बी लाइनों को दुहरी बनाने, २६५ मील लंबी छोटी लाइनों को बड़ी लाइनों में परिवर्तित करने तथा ८२५ मील तक रेलवे को विद्युत-चालित बनाने के विशेष कार्यक्रम हैं। इसके अतिरिक्त १,२९३ मील तक डीजल इंजिन से रेलें चलाने की व्यवस्था है। नई लाइनें ८४२ मील लम्बी बनायी जायेंगी। ८,००० मील लम्बी पुरानी लाइनों का नवीनीकरण किया जायगा। २,२५८ इंजिन, १,०७,-२४७ मालगाड़ी के डिब्बे और ११,३६४ सवारी गाड़ी के डिब्बे और सुलभ किये जायेंगे।

द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन काल में रेलों मे उपर्युक्त विकास के लिए ९०० करोड़ रुपये व्यय किये जाने की व्यवस्था है। इस राशि में से रेलवे प्रशासन को अपनी आय में से १५० करोड़ रुपये सुलभ करने हैं। इसके अतिरिक्त रेलवे ह्रास कोष से २२५ करोड़ रुपये और व्यय किये जाने वाले हैं। इस प्रकार द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन-काल में रेलो के विकास पर कुल मिलाकर १,१२५ करोड़ रुपये व्यय होंगे।

इन विवरणों से स्पष्ट है कि देश की परिवहन-व्यवस्था में रेलों का स्थान लगातार बढ़ता रहेगा। उनके फैलाव से उनकी आयों में भी उचित वृद्धि की सम्भावना की जा सकती है। आय में जितनी वृद्धि होगी तथा प्रशासन-व्यवस्था में जितनी ही कुशलता बढ़ेगी उसी के अनुरूप रेलों की शुद्ध आय में भी बढ़ती होती जायगी। उसके परिणामस्वरूप सामान्य वित्त व्यवस्था मे रेलवे प्रशासन द्वारा दिये जाने वाले योग में भी वृद्धि सम्भावित है।

प्रथम आयोजन की वित्तीय व्यवस्था मे रेलों से १७० करोड़ रुपये प्राप्त किय जाने का अनुमान प्रारम्भ में किया गया था, लेकिन वास्तविक प्राप्ति ११५.४ करोड़ रुपये तक ही हो सकी। आयोजन-काल के विविध वर्षों में इस प्राप्ति का क्रम निम्नलिखित रूप में था :—

	(१९५१-५२)	(५२-५३)	(५३-५४)	(५४-५५)	(५५-५६)
रेलों के आयोजन की वित्तीय व्यवस्था में योग दान	३७.७	२३.५	१२.८	१९.५	९३.५

विकास के लिये आवश्यक राशि एकत्र करने के निमित्त रेल-भाड़े में वृद्धि की गयी। १९५१-५२ वर्ष में रेल-भाड़े की वृद्धि से १८ करोड़ रुपये प्राप्त किये जाने का अनुमान था। १९५२-५३ में भी रेल-भाड़े में परिवर्तन किये गये ताकि अतिरिक्त राशि संग्रहीत करने में सुविधा हो। सन् १९५५-५६ में पुनः रेल-भाड़े में वृद्धि की गयी। प्रथम आयोजन-काल में इन वृद्धियों के फलस्वरूप १०० करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे। लेकिन कार्य-संचालन व्यय में वृद्धि होने के कारण अतिरिक्त प्राप्ति का पूर्णतः उपयोग विकास कार्यों में न हो सका।

द्वितीय आयोजन काल में रेलों से विकास-व्यय के लिए १५० करोड़ रुपये सुलभ होने का अनुमान किया गया। साथ ही यह भी आशा की गयी कि आयोजन में सम्मिलित न किये गये रेलों के चालू ह्रास—२२५ करोड़ रुपयों—की व्यवस्था उनकी आय से हो सकेगी। ये अनुमान रेल-भाड़ों की दरों में परिवर्तन तथा रेल से आने-जाने वाले यात्रियों की संख्या और सामानों की मात्रा में वृद्धि पर आधारित थे। इस आयोजन-काल के प्रथम तीन वर्षों में रेलों से क्रमशः ३४ करोड़ रुपये, ४५ करोड़ रुपये और ५० करोड़ रुपये आयोजन संबंधी विकास व्ययों के लिये प्राप्त हुए। शेष दो वर्षों में १२१ करोड़ रुपये और प्राप्त होने का अनुमान (तीसरे वर्ष के मध्य में) किया गया। अधिक अनुमान का प्रमुख आधार रेलों की आय की लगातार वृद्धि रही है। तीसरे आयोजन की वित्त व्यवस्था में भी रेलों से सुलभ होने वाले योग को उचित महत्त्व दिया जा रहा है।

आयोजनों के संचालन क्रम में रेलों से मिले वित्तीय योग से यह स्पष्ट है कि रेलें परिवहन के प्रमुख साधन के रूप में ही विकास संबंधी कार्य-क्रमों को सफल बनाने में सहायक नहीं होतीं, बल्कि वे उनके लिये आवश्यक वित्तीय-व्यवस्था का निश्चित स्रोत भी प्रस्तुत करती हैं।

अध्याय १२

भू-राजस्व

मुगल-काल और ब्रिटिश शासन-काल के प्रारम्भिक कुछ वर्षों में भू-राजस्व सरकारी आय के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण स्थान का था। परन्तु अन्य स्रोतों से होने वाली आयों की मात्रा बढने से भू-राजस्व का अनुपात धीरे-धीरे घटता गया। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों को प्राप्त होने वाले कुल राजस्व में भू-राजस्व का अनुपात लगभग दो-तिहाई रहा। किन्तु २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इसका अनुपात घट कर एक-तिहाई हो गया। सन् १९३८-३९ में भू-राजस्व का अनुपात कुल राजस्व का लगभग १६ प्रतिशत ही रहा। जमींदारी-उन्मूलन के ठीक पश्चात् यह अनुपात केवल ८.६ प्रतिशत था। नीचे दी हुई तालिका में केन्द्र और प्रान्तीय सरकारों के कुल राजस्व में भू-राजस्व की प्राप्तियों के अनुपात दिखाये गये हैं :—

वर्ष	भू-राजस्व का अनुपात
१७९३-९४	६९ प्रतिशत
१८०८-०९	६१.१ ,,
१८१८-१९	७३.१ ,,
१८३९-४०	७०.६ ,,
१८५०-५१	६६.५ ,,
१८७१-७२	४२.८ ,,
१८८१-८२	३५.५ ,,
१८९१-९२	३६.५ ,,
१९०१-०२	३३.९ ,,
१९११-१२	३१.३ ,,
१९३८-३९	१६.१ ,,
१९५३-५४	८.६ ,,

उपर्युक्त तालिका के आंकड़ों से स्पष्ट है कि भू-राजस्व का महत्त्व धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। इस कमी का सबसे बड़ा कारण यह है कि केन्द्र और प्रान्त दोनों सरकारों ने अनेक नये करों का प्रारम्भ किया। उनसे होने वाली प्राप्तियां लगातार बढ़ती रही हैं। राजस्व की वृद्धि के लिये जितने भी प्रयास हुये हैं वे भू-राजस्व के बाहर ही केन्द्रित माने जा सकते हैं। रेलों के बढ़ने, सिचाई की सुविधाओं का प्रसार होने तथा व्यावसायिक फसलों की खेती बड़े पैमाने पर किये जाने से कृषि-कार्य में जितनी सुविधा और प्रगति हुई है उसके अनुरूप भू-राजस्व की मात्रा नहीं बढ़ी। परिणामस्वरूप भू-राजस्व का भार लगातार कम होता रहा है।

स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् से भूमि-व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ ऐसे महत्त्व-पूर्ण कार्य किये गये हैं जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव भू-राजस्व की प्राप्तियों पर पड़ा है। इनमें जमींदारी और जागीरदारी के उन्मूलन का विशेष महत्वपूर्ण स्थान रहा है। भूमि पर लगान निश्चित करने की वर्तमान पद्धति और उसमें आवश्यक सुधारों की व्याख्या के पूर्व इस तथ्य पर विचार करना उचित है कि किन परि-स्थितियों में जमींदारी-उन्मूलन और भूमि-व्यवस्था में सुधार लाने वाले अन्य कार्य किये गये।

जमींदारी-उन्मूलन

ब्रिटिश शासन-काल में भू-राजस्व की जो पद्धति प्रचलित थी वह स्वतन्त्रता के पश्चात् उपयुक्त नहीं हो सकती थी, क्योंकि ब्रिटिश शासनकाल के आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टिकोण अलग थे। देश की राजनैतिक व्यवस्था में भूमिपतियों अथवा कृषकों का जैसा स्थान था उसी के अनुरूप सरकारी नीति भी स्थिर होती थी। विदेशी शासन भूमिपतियों के सहयोग पर बहुत कुछ टिका हुआ था। यही कारण था कि विदेशी शासन-काल में भूमि के संबंध में जो भी नीति अपनायी गयी उसमें भूमिपतियों के स्वत्वों की सुरक्षा को सर्वोपरि स्थान दिया गया। स्वतन्त्रता के पश्चात् स्थिति बदल गयी। जनता के सहयोग से प्रशासन चलाने का क्रम प्रारंभ किया गया। उस क्रम में जनता के हितों को अधिक महत्व देना स्वाभाविक रहा। इसी परिवर्तन के परिणामस्वरूप ही जमींदारी-उन्मूलन और भूमि-सुधार के और कार्यक्रम अपनाये गये। जमींदारी-उन्मूलन के साथ ही स्थायी बन्दोबस्त को समाप्त करने की व्यवस्था भी की गयी।

स्वतन्त्रता के ठीक पश्चात् से ही भूमि-सुधार से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों पर विचार करने के लिए उत्तर प्रदेश, हैदराबाद, सौराष्ट्र, राजस्थान और मध्य-प्रदेश में एतदर्थ समितियां बनायी गयीं। उन समितियों के निष्कर्षों के अनुरूप जमींदारी और मध्यस्थों की अन्य व्यवस्थाओं का लोप करने के लिए विशेष विधान बनाये गये। देश के कुल राज्यों में थोड़ी ही अवधि के भीतर काफी बड़ी संख्या में इस सम्बन्ध के कानून और नियम बनाये गये। कांग्रेस-मंत्रिमंडलों के बनने के कुछ समय पश्चात् ही मद्रास-विधान सभा ने जमींदारी-उन्मूलन के साधारण सिद्धान्तों को मानते हुए एक प्रस्ताव पास किया। बिहार सरकार ने भी जमींदारी-उन्मूलन-विधेयक प्रस्तुत किया। दूसरी अप्रैल १९४९ को मद्रास के जमींदारी-उन्मूलन अधिनियम को गवर्नर-जनरल की सहमति प्राप्त हुई। बिहार और मध्य-प्रदेश के जमीदारी-उन्मूलन अधिनियमों को राष्ट्रपति की सहमति २१ जनवरी १९५१ को प्राप्त हुई। तीन दिन बाद उत्तर प्रदेश के जमीदारी-उन्मूलन-अधिनियम को भी राष्ट्रपति की सहमति मिली। २३ जनवरी सन् १९५२ तक मध्य भारत, आसाम, उड़ीसा राज्यों में भी जमीदारी-उन्मूलन-अधिनियम बना दिये गये। बम्बई में जहां रैयतवारी व्यवस्था प्रचलित थी विशेष प्रकार की भूधृतियों, जैसे-भागदारी, नरवादारी, मालिकी-मेहवासी आदि को समाप्त करने के लिये विशेष अधिनियम बनाये गये। पंजाब में आला-मालिकों और भूमिपतियों को समाप्त करने के लिये सन् १९५१ में राष्ट्रपतीय अधिनियम लागू किया गया। पेप्सू में दखीलकारी काश्तकी व्यवस्था समाप्त करने के लिये अधिनियम बनाया गया। राजस्थान, हैदराबाद, मध्य भारत और सौराष्ट्र में जागीरदारी व्यवस्था समाप्त करने के लिये विशेष कानून बनाये गये। कच्छ में जागीरों और इनामी जमीनों पर लगान लगाने का क्रम प्रारम्भ किया गया।

स्थायी बन्दोबस्त का उन्मूलन

जमीदारी के साथ स्थायी बन्दोबस्त की समाप्ति भी बंगाल, बिहार, और उड़ीसा की राज्य सरकारों का एक महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है। इससे विभिन्न प्रान्तों के भू-राजस्व के भार में बड़ा अंतर आ जाता था, रैयतों, जमीदारों और कृषक समाज के अन्य वर्गों से वसूली जाने वाली लगान की दर में बहुत भेद होता था। जमींदारों से बन्दोबस्त के अनुसार निश्चित मालगुजारी ली जाती थी लेकिन जमींदार रैयतों से परिस्थितियों के अनुरूप अधिक से अधिक लगान लेने का प्रयास करते थे।

इससे सरकारी राजस्व को बड़ी क्षति पहुंचती थी। कृषक भी जमींदारों की स्वेच्छाचारिता के शिकार होते थे।

अन्य प्रान्तों में राजस्व की आवश्यकता के अनुसार भू-राजस्व में परिवर्तन किया जा सकता था, वहां के कुल राजस्व में भू-राजस्व का अनुपात भी अपेक्षाकृत अधिक होता था; लेकिन स्थायी बन्दोबस्त वाले प्रान्तों, बंगाल, बिहार और उड़ीसा में न तो भू-राजस्व में परिवर्तनशीलता ही संभव थी और न इसका अनुपात ही अन्य प्रान्तों के समकक्ष था। आगे दी गयी तालिका के आंकड़े यही तथ्य प्रतिपादित करते हैं :—

भू–राजस्व का अनुपात (१९५२-५३)
(लाख रुपयों में)

नाम राज्य	कुल राजस्व	भू-राजस्व	भू-राजस्व का कुल राजस्व से अनुपात
			(प्रतिशत)
आसाम	१०.०५	१.६५	१६.४२
विहार	३१.४३	१.५९	५.१
बम्बई	६१.५४	६.३०	१०.२४
मध्य प्रदेश	२०.७४	४.५६	२२.०
मद्रास	६३.९०	७.७८	१२.२
उड़ीसा	११.७८	१.०७	९.१
पंजाब	१६.९२	१.९५	११.५
उत्तर प्रदेश	६२.५५	१४.७७	२३.६
प० बंगाल	३५.९१	२.०७	५.८

इस प्रकार स्थायी बन्दोबस्त की समाप्ति अनिवार्य हो गयी थी। इस समाप्ति में विश्वास-भंग का दोष भी नहीं लगाया जा सकता था, क्योंकि जिन परिस्थितियों में स्थायी बन्दोबस्त का क्रम अपनाया गया थ उनमे समय बीतने के कारण पर्याप्त परिवर्तन आ चुका था। कृषकों पर मालगुजारी का भार समान करने, भू-राजस्व को सरकारी आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित करने तथा राज्य की वित्तीय व्यवस्था को और सुदृढ़ आधार देने के लिये स्थायी बन्दोबस्त को जमींदारी के साथ

ही समाप्त कर दिया गया। बंगाल, बिहार और उड़ीसा राज्य-सरकारों का यह कार्य भूमि-व्यवस्था का सुधार करने के क्रम में बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है।

जमींदारी और जागीरदारी-उन्मूलन से राज्य-सरकारों को भू-राजस्व के अन्तर्गत लगभग २९ करोड़ १९ लाख रुपयों की अधिक आय प्राप्त होने लगी तथा स्थायी बन्दोबस्त की समाप्ति से लगान को वैज्ञानिक आधारों पर निश्चित करने की सुविधा मिली।

जमींदारी और जागीरदारी उन्मूलन के सम्बन्ध में बनाये गये अधिनियमों से कृषकों की भूधृति भी प्रभावित हुई तथा संविधान के अनुच्छेद ३१ के प्रावधानों के अनुसार जमीदारों और जागीरदारों को मुआविजा भी दिये जाने की व्यवस्था की गयी है। चूकि जमीदारी उन्मूलन के क्रम में इन दो तथ्यो का महत्वपूर्ण स्थान रहा है इसलिए उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ उपयोगी होगा।

जमींदारी उन्मूलन के क्रम में क्षतिपूर्ति की व्यवस्था

जमींदारी अथवा मध्यस्थों के अधिकारो के उन्मूलन के सम्बन्ध में बनाये गये सभी अधिनियमो में क्षतिपूर्ति की व्यवस्था की गयी है। इसके अन्तर्गत क्षतिपूर्ति की मात्रा तथा क्षतिपूर्ति की विधि ये दोनों बातें महत्वपूर्ण हैं और इन दोनों में विभिन्न राज्यों के अधिनियमों के अन्तर्गत भिन्नता पायी जाती है।

क्षतिपूर्ति की राशि स्थिर करने में या तो वैयक्तिक स्वामी को आधार माना गया है अथवा सम्पदा को। बिहार और उत्तर-प्रदेश में व्यक्ति को ही क्षतिपूर्ति की राशि का आधार माना गया है। आसाम, उड़ीसा, मध्य प्रदेश और मध्य भारत में सम्पदा अथवा भू-धृति को क्षतिपूर्ति का आधार माना गया।

क्षतिपूर्ति की दर आसाम, बिहार, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में भूमि से प्राप्त होने वाली शुद्ध आय पर आधारित है। मद्रास मे भूमि के वार्षिक मूल्य और उत्तर-प्रदेश में भूमि के शुद्ध सम्पत्ति-मूल्य के अनुसार क्षतिपूर्ति की राशि निश्चित की गयी। लेकिन शुद्ध सम्पत्ति-मूल्य अथवा शुद्ध आय अथवा वार्षिक मूल्य निश्चित करने का आधार सभी अधिनियमों मे समान नही रहा। सामान्यतः शुद्ध सम्पत्ति-मूल्य और शुद्ध आय की गणना भू-स्वामी को होने वाली कुल आय मे से भू-राजस्व, कृषि-आयकर, स्थानीय कर, प्रबन्ध-व्यय और वसूला जा सकने वाला बकाया लगान घटाकर की जाती है।

मद्रास में आधारभूत वार्षिक मूल्य की गणना कुल वार्षिक रैयतवारी लगान

और ऐसी लंका-भूमि से प्राप्त औसत शुद्ध आय के आधार पर की जाती है जिसके विषय में रैयत को रैयतवारी पट्टा का अधिकार नहीं होता। कुल आय की गणना का आधार भी सभी राज्यों में समान नहीं रहा है। आसाम में पिछले १५ वर्षों की औसत आय कूती गयी जबकि बिहार, उड़ीसा और मध्य भारत में पिछले कृषि-वर्ष के आंकड़ों को ही आधार माना गया। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में आधारभूत अवधि के विषय में भी विविधता रही। प्रबन्ध व्यय और पिछले लगान के सम्बन्ध में घटायी जाने वाली राशियाँ भी भिन्न रहीं।

भूमि-स्वत्वों से होने वाली इसी शुद्ध आय का निश्चित गुणा क्षतिपूर्ति की राशि निकालने का आधार माना गया। कम आय वाले मध्यस्थों को प्रायः अधिक गुणा देने का निश्चय किया गया। उन राज्यों में जहाँ बड़े और छोटे मध्यस्थों के बीच क्षतिपूर्ति के लिए शुद्ध आय को ही आधार मानना विधान द्वारा अनिवार्य था वहाँ कम आय वाले छोटे मध्यस्थ को पुनःस्थापन अनुदान किये जाने की व्यवस्था की गयी।

उत्तर प्रदेश में क्षतिपूर्ति की राशि शुद्ध आय की आठ गुणी रखी गयी। राजस्थान और मध्य प्रदेश के कुछ हिस्सों मे क्षतिपूर्ति शुद्ध आय की १० गुनी निश्चित की गयी। मध्य भारत में क्षतिपूर्ति की राशि जमीदारी-उन्मूलन के सम्बन्ध में शुद्ध आय की आठ गुनी और जागीरदारी-उन्मूलन के संबंध में शुद्ध आय की ७ गुनी नियत की गयी। आसाम, उड़ीसा, बिहार, मद्रास और मध्य प्रदेश में क्षतिपूर्ति की बदलती दरें निश्चित की गयी। आसाम और उड़ीसा में शुद्ध आय की ३ से १५ गुणी तक क्षतिपूर्ति राशि निश्चित की गयी। बिहार में यह ३ से २० गुनी तक, मद्रास में १२½ से ३० गुनी तक और मध्य प्रदेश के शेष भागों मे १० से २० गुनी तक रखी गयी। कुछ राज्यों में खानों से होने वाली आय को भी शुद्ध आय की गणना में सम्मिलित किया गया। किन्तु बिहार और उड़ीसा में खानों के सम्बन्ध में क्षतिपूर्ति का निश्चय अलग ढंग से ही किया गया।

पंजाब और बम्बई में विशेष भू-धृतियों से सम्बन्धित क्षतिपूर्ति की राशियों का निश्चय विशेष जटिल रहा। पंजाब में दो अधिनियम पारित किये गये जिनसे आला मालिकों और दखीलकार काश्तकारों के भू-स्वामियों को क्षतिपूर्ति की अलग-अलग व्यवस्था हो सके। वे दोनों अधिनियम थे—१. पजाब के आला मालकियत और तालुकदारी अधिकारों के उन्मूलन का अधिनियम (सन् १९५१) और २ पंजाब के दखीलकारी काश्तकारों को स्वामित्व-अधिकार दिलाने का अधिनियम (सन् १९५१)।

आला मालिकों को अदना मालिकों से क्षतिपूर्ति कराने की व्यवस्था की गयी। किन्तु जहाँ आला मालिकों को सरकार से भी कुछ वार्षिक लगान मिलता रहा वहां क्षतिपूर्ति-राशि में सरकार का योग भी रखा गया। आला मालिक को वार्षिक लगान का आठगुना क्षतिपूर्ति के रूप में प्राप्त करने का अधिकार दिया गया। दखीलकार काश्तकारों के भू-स्वामियों को दखीलकार काश्तकारों की कोटि तथा उनके द्वारा दिये जाने वाले विभिन्न प्रकार के लगानों के अनुसार क्षतिपूर्ति की मात्रा निश्चित करने की व्यवस्था की गयी।

बम्बई में विशेष प्रकार की भू-धृतियों को समाप्त करने के लिए बनाये गये अधिनियमों में यह व्यवस्था की गयी कि अधिनियमों के लागू होने पर जिन व्यक्तियों के अधिकार समाप्त होते है अथवा जिनके अधिकारों में परिवर्तन आते है वे जिलाधीश के यहाँ क्षतिपूर्ति के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकते हैं। केवल उन अधिकारों को छोड़कर जहाँ कुछ अधिनियमों मे क्षतिपूर्ति की उच्चतम अथवा प्रामाणिक दरें स्थिर की गयी थी अन्य सभी परिस्थितियों में जिलाधीश को यह सुविधा दी गयी कि वे क्षतिपूर्ति की राशि निश्चित करने में सन् १८९४ वाले भूमि-प्राप्ति-अधिनियम की २३ और २४ धाराओं के अन्तर्गत दिये गये प्रावधानों का अनुसरण करें। खोटी उन्मूलन-अधिनियम मालिकी-भू-धृति-उन्मूलन-अधिनियम, पंचमहाल मेहवासी भू-धृति-उन्मूलन-अधिनियम, तालुकदारी भू-धृति-उन्मूलन अधिनियम और वतवा वजीफ़दारी अधिकारों के उन्मूलन के अन्तर्गत कुछ अधिकारों के लिए क्षतिपूर्ति की उच्चतम दरें निश्चित की गयीं। कुछ अधिनियमों में क्षतिपूर्ति के नियम के साथ इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख था कि पंजीकृत धारकों अथवा वैधानिक प्रतिनिधियों को ही क्षतिपूर्ति की राशि दी जाय।

क्षतिपूर्ति-भुगतान की विधि

क्षतिपूर्ति-भुगतान की विधि भी सभी राज्यों में समान नहीं रही। क्षतिपूर्ति की राशि के अनुसार भी भुगतान की विधि में भिन्नता रही है। छोटे भू-स्वामियों को क्षतिपूर्ति की अधिकांश राशि एक साथ ही दे दी गयी। पांच हजार रुपये या इससे कम क्षतिपूर्ति पाने वाले भू-स्वामियों को पुनःस्थापन अनुदान दिये जाने का निश्चय किया गया। अनुदान-राशि कुल क्षतिपूर्ति का २।५ भाग होती थी।

आन्ध्र, मद्रास, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, हैदराबाद, मध्यभारत, सौराष्ट्र, भोपाल और विन्ध्यप्रदेश में क्षतिपूर्ति नकद किश्तों में करने की व्यवस्था की गयी। लेकिन

बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और पश्चिमी बंगाल में क्षतिपूर्ति सम्बन्धी दायित्व अधिक था; इसलिए इन राज्यों में बांड का प्रयोग किया गया। बिहार, उत्तर प्रदेश और राजस्थान के बांड हस्तांतरणीय और परकाम्य हैं, लेकिन बंगाल के बांड केवल हस्तांतरणीय हैं, परकाम्य नहीं हैं। ये बांड समान किश्तों में निश्चित अवधि के भीतर शोधनीय रहे हैं। शोधन की अवधि बिहार और उत्तर प्रदेश में ४० वर्ष, पश्चिमी बंगाल में २० वर्ष और राजस्थान में १५ वर्ष रखी गयी है।

इस प्रकार देश भर में मध्यस्थों के स्वत्वों को समाप्त करने के लिए लगभग ६१५ करोड़ रुपये दिये जाने का अनुमान है। इसमें से ३७९ करोड़ रुपये प्राप्त की जाने वाली भूमि के मूल्य के रूप में, ८६ करोड़ रुपये पुनर्स्थापन-अनुदान के रूप में और १५० करोड़ रुपये देयनिधि पर सूद के रूप में दिये जाने की गणना की गयी है। कुछ प्रमुख राज्यों में जमींदारी-उन्मूलन के क्रम में दी जाने वाली क्षतिपूर्ति की राशियाँ निम्नांकित प्रकार से हैं :—

	रुपये
बिहार	२४० करोड़
उत्तरप्रदेश	१७८ करोड़
पश्चिमी बंगाल	५९ करोड़
राजस्थान	३६ करोड़

देश भर की सम्पूर्ण क्षतिपूर्ति की राशि में इन राज्यों का हिस्सा ८३ प्रतिशत है।

काश्तकारों के अधिकारों की सुरक्षा

जमींदारी-उन्मूलन के सम्बन्ध में बनाये गये अधिनियमों के अन्तर्गत जमीदारों के अधिकारों की समाप्ति के बाद के काश्तकारों और उपकाश्तकारों की स्थिति पर उचित प्रकाश डाला गया है। काश्तकारों को अपनी स्थिति सुधारने के लिए श्रेष्ठ अधिकार निश्चित मूल्य पर खरीदने की सुविधा दी गयी। काश्तकारों के अधिकारों की सुरक्षा की व्यवस्था जमींदारी-उन्मूलन के अन्तर्गत बहुत ही महत्त्व-पूर्ण रही है। सभी राज्यों के सन्दर्भ में इस बात पर प्रकाश डालना यहाँ उचित समझा गया है।

आसाम

आसाम में जमींदारी-उन्मूलन अधिनियम के अन्तर्गत उन रैयतों को जो गोलपारा रैयतदारी अधिनियम और सिलहट रैयतदारी-अधिनियम के अनुसार दखलदारी हक रखते हों अथवा जमींदारी-उन्मूलन की सूचना की तारीख के पहले कम से कम दस वर्षों तक लगातार भूमि रखते हों, आसाम के भूमि और राजस्व-विनियम सन् १८८६ में परिभाषित भूमि-धारक के हक प्राप्त हुए हैं। अन्य रैयतों को बन्दोबस्त-धारक के हक दिये गये। आसाम के अस्थायी बन्दोबस्ती जिलों के रैयतदारी-अधिनियम सन् १९३५ में परिभाषित उप-रैयतों के लिए यह व्यवस्था की गयी कि यदि उपरैयत गोलपारा रैयतदारी अधिनियम की धारा ४ (१अ) के अन्तर्गत दखलकारी के सीमित अधिकार प्राप्त कर चुका हो तो उसके वे अधिकार भी जारी रखे जायं। बन्दोबस्त-धारक के साथ बन्दोबस्त की जाने वाली भूमि की अधिकतम सीमा १५० बीघे रखी गयी जब कि भू-स्वामी अथवा भूमि-पट्टादार के सम्बन्ध में यह सीमा ४०० बीघे तक रखी गयी। भूमि-सम्बन्धी अधिकतम सीमा की ये शर्तें सहकारी समितियों तथा बारह से अधिक सदस्यों वाले परिवारों अथवा यांत्रिक विधियों से बड़े पैमाने पर खेती करने वाले व्यक्तियों के संबंध में लागू नहीं की गयी।

उड़ीसा

उड़ीसा के जमींदारी-उन्मूलन अधिनियम के अन्तर्गत काश्तकार को प्रचलित शर्तों पर भूमि के वर्तमान अधिकारों को सरकार के अन्तर्गत जारी रखने की सुविधा दी गयी। किंतु यह सुविधा उन व्यक्तियों को नहीं मिली जो मध्यस्थों के प्रति की जाने वाली सेवाओं के बदले भूमि अपने अधिकार में रखते थे। इनके सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गयी कि उस भूमि का उनके साथ नयी शर्तों पर बन्दोबस्त किया जाय और उन्हें मध्यस्थों की सेवा से मुक्त कर दिया जाय।

मध्यप्रदेश

मध्यप्रदेश के अधिनियम के अन्तर्गत उन व्यक्तियों को जो अधिनियम लागू होने के ठीक पहले भूमि पर पूर्ण दखीलकार अथवा सेन्ट्रल प्राविंसेज के दखीलकार काश्तकार अथवा देशी रियासतों के विलीन हुए क्षेत्रों के काश्तकार अथवा बरार के विशिष्ट काश्तकार थे उन्हें पुरानी शर्तों पर राज्य के काश्तकार के रूप में भूमि

रखने का अधिकार दिया गया। प्रत्येक पूर्ण दखीलकार काश्तकार और साधारण दखीलकार काश्तकारों को यह अधिकार दिया गया कि वे यदि चाहें तो अपनी भूमि पर दी जाने वाले वार्षिक लगान की क्रमशः तिगुनी और चौगुनी राशि नियत अवधि में सरकार को देकर "मालिक मकबूजा" के अधिकार प्राप्त करें। इस प्रकार की सुविधा रियासतों के विलीन क्षेत्रों और बरार के काश्तकारों को भी दी गयी।

बम्बई

बम्बई के अधिनियमों के अन्तर्गत सामान्यतः ऐसे व्यक्तियों का विशिष्ट उल्लेख किया गया जिन्हें बम्बई भू-राजस्व-संहिता, सन् १८७९ के अर्थों के अन्तर्गत अपने अधिकार वाली भूमि का दखीलकार समझा गया। मेहवासी भू-धृति-उन्मूलन अधिनियम के अन्तर्गत मेहवासी पट्टे पर भूमि रखने वाले प्रत्येक मेहवासी तथा प्रत्येक पंजीकृत दखीलकार को अपने अधिकार की भूमि का दखीलकार घोषित किया गया। काश्तकारों को यह भी सुविधा दी गयी कि वे भूमि के सर्वेक्षण के अन्तर्गत निर्धारित लगान का छःगुना अथवा बारहगुना रुपया जमा करके दखील-कारी अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

मद्रास

मद्रास के जमींदारी-उन्मूलन अधिनियम के अन्तर्गत प्रत्येक रैयत को निम्नांकित प्रकार की भूमि के लिए रैयतवारी पट्टा लेने का अधिकार दिया गया --

सभी रैयती भूमि जो न तो लंका-भूमि हो और न ऐसी भूमि जिसके सम्बन्ध में भूमि-धारक अथवा अन्य कोई व्यक्ति रैयतवारी पट्टे का अधिकारी हो।

ऐसी लंका-भूमि जिस पर वह अथवा उसके पूर्वजों का पहली जुलाई, सन् १९३९ से लगातार दखल काश्तकार हों। लेकिन वह व्यक्ति जो पहली जुलाई, सन् १९४५ को उस भूमि का रैयत हो चुका हो उसके सम्बन्ध में रैयतवारी पट्टा कराने का अधिकार नहीं दिया गया।

उत्तर प्रदेश

भारतवर्ष में उत्तरप्रदेश ही जमींदारी वाला प्रमुख राज्य रहा। इसमें जमीं-दारी के अतिरिक्त ताल्लुकदारी प्रथा भी रही। ब्रिटिश शासन-काल में इन जमींदारों और ताल्लुकदारों का सरकार पर बहुत अधिक प्रभाव रहा। यही

कारण है कि जमींदारी-उन्मूलन के क्रम में कृषकों की स्थिति पर सबसे अधिक प्रभाव भी इसी राज्य में पड़ा।

राज्य के जमींदारी-उन्मूलन-अधिनियम के अन्तर्गत तीन प्रकार के काश्तकारों की व्यवस्था की गयी--१-भूमिधर, २-सीरदार, ३-असामी। इन तीनों पर सक्षिप्त प्रकाश डालना यहाँ उपयोगी होगा।

भूमिधर--उत्तर प्रदेश के जमीदारी-उन्मूलन-अधिनियम के अन्तर्गत भूमिधर सर्वोत्कृष्ट कोटि का काश्तकार बनाया गया है। भूमिधरी अधिकार निम्नलिखित प्रकार के काश्तकारों को दिये गये :—

१. मध्यस्थों को अपनी सीर अथवा खुदकाश्त की भूमि पर।

२. अवध के स्थायी पट्टेदारों को अपनी निजी जुताई की भूमि अथवा बागों पर।

३. माफीदार अथवा नियत दर से लगान देने वाले काश्तकारों को।

४. (अ) दखीलकार काश्तकारों को, (ब) पुश्तैनी काश्तकारों को (स) दायमी या इस्तमरारी पट्टा के काश्तकारो को—ऐसे काश्तकारो में से केवल उन्ही को भूमिधरी के अधिकार दिये गये जिन्हें अपनी भूमि बेचने का अधिकार था।

५. उन सभी सीरदारों को जिन्होंने अपनी लगान का दसगुना एक साथ अथवा बारह गुना किश्तों मे करके जमीदारी-उन्मूलन-कोष के अन्तर्गत जमा किया हो। अधिवासियों को भी अधिनियम के अन्तर्गत दी हुई शर्तों के अनुसार भूमिधर बनने का अधिकार दिया गया।

भूमिधर अपनी भूमि का उपयोग कृषि-कार्य, औद्योगिक कार्य, अथवा भवन-निर्माण के लिए कर सकता है। वह उसमे अपनी इच्छानुसार सुधार भी कर सकता है। यदि भूमि का उपयोग पहले कृषि फल-उत्पादन अथवा पशु-पालन के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य के लिए होता था तो उसे वह अब खेती के लिए इस्तेमाल कर सकता है लेकिन ऐसी परिस्थितियों में भूमिधर को जिलाधीश की अनुमति प्राप्त करनी होगी।

भूमिधर को अपनी भूमि पर स्थायी अधिकार है। वह भूमि को हस्तांतरित कर सकता है और उसके उत्तराधिकारी उसे पा सकते है, किन्तु भूमिधर अपनी भूमि ऐसे व्यक्ति को नही हस्तांतरित कर सकता जो अपने परिवार के साथ उत्तरप्रदेश में ३० एकड़ से अधिक भूमि का स्वामी हो। उस भूमि का ऐसा रेहन भी नहीं किया

जा सकता जिसमें भूमि को जमानत के रूप में ऋण देने वाले व्यक्ति के अधिकार में दे दिया जाय। भूमिधर को अपनी भूमि किराये पर उठाने का अधिकार नहीं है। लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियों में किराये पर उठाया जा सकना मान्य है। वे परिस्थितियाँ निम्नांकित हैं—

(१) यदि व्यक्ति अपंग हो, (२) यदि भूमिधर कोई अविवाहिता स्त्री हो अथवा विधवा हो, (३) यदि वह अवयस्क हो अथवा पागल या मंदबुद्धि हो, (४) यदि वह देश की स्थल, नभ अथवा जलसेना में कार्य करता हो, (५) यदि वह कारावास में हो।

ये नियंत्रण इसलिए लगाये गये हैं कि कृषक अपनी भूमि पर स्वयं खेती करे और अनुपस्थित भू-स्वामियों की व्यवस्था परोक्ष ढग से पुनः न पनपे।

सीरदार—भूमिधरों के बाद सीरदारों का स्थान आता है। वे लोग जिन्हें अवध में विशेष शर्तो पर काश्तकारी के अधिकार प्राप्त थे अथवा जो दखीलकार काश्तकार अथवा पुश्तैनी काश्तकार अथवा इस्तमरारी पट्टादार अथवा दवामी पट्टादार उस भूमि के हों, अथवा कम लगान पर भूमि काश्त के लिए पाये हों अथवा बाग के स्वामी हों तो उन्हें जमीदारी-उन्मूलन-अधिनियम के अन्तर्गत सीरदार बनने का अधिकार प्राप्त है। सीरदार अपनी भूमि को औद्योगिक अथवा गृहनिर्माण सम्बन्धी कार्यो के लिए प्रयुक्त नही कर सकता केवल कृषि और कृषि सम्बन्धी अन्य कार्यों, जैसे पशु-पालन, मत्स्य-पालन, कुक्कुट-पालन आदि के लिए ही वह अपनी भूमि का प्रयोग कर सकता है। भूमिधर की तरह सीरदार भी अपनी भूमि को लगान पर दूसरों को जोतने के लिए नहीं दे सकता किन्तु उसे और कृषकों के साथ साझेदारी करने का अधिकार है। भूमिधर और सीरदार में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि भूमिधर अपनी भूमि बिक्री के क्रम में हस्तांतरित कर सकता है, लेकिन सीरदार को किसी भी परिस्थिति में अपनी भूमि हस्तांतरित करने का अधिकार नही है; यद्यपि उसका अपनी भूमि पर स्थायी अधिकार होता है और उसके उत्तराधिकारी उस भूमि को प्राप्त कर सकते हैं।

असामी—जमीदारी-उन्मूलन-अधिनियम के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रकार के काश्तकार असामी घोषित किये गये—

१. वे काश्तकार जो मध्यस्थों के बगीचे की भूमि के गैर-दखीलकार काश्तकार अथवा उनके उप-काश्तकार थे।

२. वे व्यक्ति जो चरागाही भूमि अथवा सिंघाड़ा उपजाने के लिए प्रयुक्त पानी से ढंकी हुई भूमि के गैर-दखीलकार-काश्तकार थे।

३. वे काश्तकार जो किसी भूमिधर अथवा सीरदार से पट्टे पर प्राप्त भूमि को जोतते हों।

४. खुदकाश्त और सीर भूमि के मालिक द्वारा जीविकोपार्जन के निमित्त दी गयी भूमि को पाने वाला।

असामी को अपने अधिकार में आयी हुई भूमि के एकमात्र स्वामी बने रहने का अधिकार है और वह उस भूमि का प्रयोग कृषि अथवा उससे सम्बन्धित अन्य कार्यों के लिए कर सकता है। असामी अपनी भूमि का सुधार भी कर सकता है, लेकिन उस सुधार से अन्य किसी की भूमि पर हानिप्रद प्रभाव न पड़ना चाहिए।

यदि ग्राम-सभा द्वारा अथवा भूमिपति द्वारा असामी को उसकी भूमि से हटाया जाय अथवा पट्टे की अवधि बीतने पर वह स्वयं उस भूमि को छोड़ दे तो ऐसी स्थिति में छोड़ने के पूर्व तक ग्राम-सभा अथवा भूमिपति की लिखित सहमति से उसने जो भी व्यय किया हो उसे वापस पाने का उसे अधिकार है।

उत्तर प्रदेश के काश्तकारों में असामी सबसे निचली श्रेणी का काश्तकार है। उसे न तो अपनी भूमि हस्तांतरित करने का अधिकार है और न उसके बँटवा का ही। निम्नाकित परिस्थितियों में उसे बेदखल भी किया जा सकता है—

१. यदि उसके ऊपर पिछला लगान बहुत अधिक बाकी हो।

२. यदि उस भूमि पर खेती की फसले न उपजायी जा सकें।

३. यदि जीविकोपार्जन के निमित्त दी गयी भूमि के सम्बन्ध में जीविकोपार्जन का अधिकार समाप्त हो गया हो।

४. यदि भूमि का वास्तविक धारक उसे स्वयं जोतना चाहे अथवा उस भूमि के पट्टे की अवधि समाप्त हो गयी हो।

इन सीमाओं के समक्ष भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नये अधिनियम के अन्तर्गत असामियों को भूमि से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण अधिकार दिये गये हैं। असामियों को पिछले काश्तकारी अधिनियम के अन्तर्गत पुश्तैनी काश्तकारों के समकक्ष रखा जा सकता है।

जमीदारी उन्मूलन-अधिनियम की उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि उससे काश्तकारों को भू-धृति सम्बन्धी सुरक्षा विशेषतः प्राप्त हुई है। उन्हें उचित

लगान और स्वतन्त्र जोत की सुविधाएँ भी मिली हैं। उससे कृषकों को भूमि में अधिक अपनापन मिल सका है जो कृषि-उत्पादन की वृद्धि में महत्त्वपूर्ण है।

भूमि-सम्बन्धी नीति में कुछ परिवर्तनों की आवश्यकता

भूमि व्यवस्था के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों द्वारा स्वतन्त्रता के पश्चात् जितने सुधार किये गये वे मुख्यतः कृषकों की भू-धृति पर ही केन्द्रित रहे हैं। मध्यस्थों का लोप करने के लिए लागू किये गये अधिनियम इसी उद्देश्य से ही अनुप्राणित थे। उनसे छोट काश्तकारों और भूमिहीन श्रमिकों की स्थिति में सुधार लाना तथा ग्रामीण क्षेत्रों में आय और अवसरों की असमानता में कमी लाना सम्भव हो सका है। ग्रामीणों को निजी प्रयास द्वारा अपना जीवनस्तर उठाने का निर्बाध-क्षेत्र भी इनसे सुलभ हो सका है। इन प्रगतियों के होते हुए भी इतना कहा जा सकता है कि अब तक भू-राजस्व की व्यवस्था में किसी प्रकार का सुधार या संशोधन करने का समुचित प्रयास नहीं हो सका है। अब भी भू-राजस्व के सम्बन्ध में १९वी शताब्दी में निश्चित की हुई पद्धतियाँ कुछ परिवर्तनों के साथ प्रचलित है। अधिकांश राज्यों में १९वीं शताब्दी के अन्त में सर्वेक्षण और बन्दोबस्त सम्बन्धी कार्रवाइयों के अन्तर्गत जो लगान निश्चित किया गया था, वही वसूला जाता है। उसे न तो १९२९ की मदी में घटाया गया और न द्वितीय महा युद्ध काल से आयी तेजी में बढ़ाया गया। स्वतन्त्रता के समय बहुत बड़ी संख्या में देशी रियासते भारत संघ में मिलीं। उन सब में लगान की अलग-अलग पद्धतियां प्रचलित थीं। उनके मिलने के पश्चात् भी किसी प्रमाणित आधार पर सम्पूर्ण भारत के भू-राजस्व को संशोधित करने की व्यवस्था नही की गयी। कृषि-उत्पादनों की कीमतों में होने वाले परिवर्तनो से भू-राजस्व को पूर्णतः अछूता रखा गया है। इससे भू-राजस्व में अनेक असंगतियाँ वर्तमान है। जमीदारी-उन्मूलन के पश्चात् भू-राजस्व के प्रशासन का जितना अधिक भार राज्यों के राजस्व-प्रशासन-यंत्र पर पड़ा है उसे सरलतापूर्वक ले चल सकने की क्षमता उसमें उत्पन्न नहीं की गयी।

भू-राजस्व के क्रम में भावी प्रशासन नीति निर्धारित करने में कुछ मौलिक तथ्यों पर दृष्टि रखना आवश्यक है। इनका विवरण संक्षेप में आगे दिया जा रहा है।

सम्पूर्ण देश के लिए समान भू-राजस्व-व्यवस्था निकालना असंभव है।

विभिन्न राज्यों में इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ भेद पाया जाना स्वाभाविक है, लेकिन कुछ मौलिक तथ्यों में समानता लायी जा सकती है और उसे रखना वांछनीय भी है। राजस्व का मौलिक निर्धारण, उसमें संशोधन, उसमें वृद्धि अथवा कमी की सीमाएँ, भू-राजस्व का स्थानीय सरकारों और निकायों में विभाजन तथा भू-राजस्व के सम्बन्ध में कृषि-आय-कर के स्थान आदि बातों में विभिन्न राज्यों के बीच समानता लाया जा सकती है।

सभी राज्यों में भू-राजस्व को सुनिश्चित करने के लिए व्यापक सर्वेक्षण और बन्दोबस्त कराये जायं। बृटिश शासन-काल में बन्दोबस्त के जिन दो प्रमुख सिद्धान्तों को अपनाया गया था उन्हें उचित परिवर्तनों के साथ प्रत्येक राज्य के सभी क्षेत्रों में कार्यान्वित किया जाय। बन्दोबस्त-सम्बन्धी कार्रवाई पूर्ण करने की अवधि कम से कम रखी जाय। प्रत्येक राज्य में बन्दोबस्त सम्बन्धी कार्रवाई आवश्यकता के अनुरूप नियत अवधि के पश्चात् करने के लिए एक बन्दोबस्त-प्रशासन स्थायी रूप से कायम किया जाय।

राजस्व पुनः निर्धारित करने के उपर्युक्त क्रम जबतक पूर्णतः कार्यान्वित नही होते, भू-राजस्व के साथ कुछ अधिकर वसूले जायं। अधिकर की मात्रा निर्धारित करते समय नीचे लिखी बातों को दृष्टि में रखा जाय—

प्रचलित भू-राजस्व की दर जिस समय निश्चित की गयी थी उस समय से लेकर अब तक कीमत-तल में कितना परिवर्तन हुआ? एक निश्चित आकार के बड़े क्षेत्र पर विशेष प्रकार की फसल जैसे—कपास, तिलहन, तम्बाकू अथवा गन्ना उपजाने का कैसा प्रभाव पड़ा है? उस क्षेत्र की फसलो की सुरक्षा-संबंधी स्थिति कैसी है? आवागमन के साधनों में हुए सुधारों का कैसा प्रभाव पड़ा है?

भू-राजस्व के साथ लगाये जाने वाले अधिकरों के सम्बन्ध में नीचे दी हुई तालिका के आधारों को भी अपनाया जा सकता है—

भू-राजस्व-निर्धारण की अवधि	औसत - कीमत - तल निर्देशांक (१८७३–१९०० आधार पर)	राजस्व की दर अधिकर-संबधीवृद्धि
१८८०–१८९९	१२४	३३$\frac{1}{3}$ प्रतिशत
१९००–१९१९	१९८	१५ ,,
१९१९–१९३१	२४२	१० ,,
१९४० से ऊपर	६९७	६$\frac{1}{4}$,,

भावी क्रम में भी जब अधिकर लागू रखने की व्यवस्था सम्भव न हो सके, स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भू-राजस्व के साथ ही विशेष प्रकार के उपकर लगाये जायं जिनकी दर स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप रखी जाय।

भू-राजस्व से होने वाली कुल शुद्ध प्राप्तियों का कम से कम २५ प्रतिशत स्थानीय निकायों को दिया जाय जिनसे वे क्षेत्रीय सुधार कर सकें।

भू-राजस्व-निर्धारण और उसके सम्बन्ध में चलाये जाने वाले संरक्षण को सुचारु रूप से संचालित रखने के लिए-भू-राजस्व सम्बन्धी कार्यों में संलग्न राज्य-कर्मचारियों को उचित प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की जाय। इसके लिए भू-राजस्व-प्रशिक्षण विद्यालय स्थापित किये जायं।

प्रत्येक राज्य में स्थानीय भूमि-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करने तथा सर्वेक्षण और राजस्व-निर्धारण के सिद्धान्त निश्चित करने के लिए एक भू-आयोग नियुक्त किया जाय।

इन उपर्युक्त दिशाओं में प्रयत्न करने से भू-राजस्व की वर्तमान असगतियाँ बहुत कुछ कम की जा सकती है। इसे आधुनिक स्थितियो के अनुरूप बनाया जा सकता है। देश की अर्थव्यवस्था के अन्य खण्डों मे बढ़ाये गये करारोपण के साथ भू-राजस्व को भी अधिक किया जा सकता है और उसके भार को कीमत-तल में होने वाले परिवर्तनो के अनुसार रखा जा सकता है।

भू-राजस्व की वर्तमान व्यवस्था के अभिनवीकरण के लिए भू-राजस्व-निर्धारण के प्रमुख सिद्धान्तों से परिचित होना आवश्यक है। अगले खण्ड मे इन्ही सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

भू-राजस्व-निर्धारण के प्रमुख सिद्धान्त

भू-राजस्व के निश्चय के सम्बन्ध में दो बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, एक तो भू-राजस्व का निर्धारण और दूसरा बन्दोबस्त। निर्धारण का तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिससे किसी जोत, क्षेत्र अथवा गांव की मालगुजारी की गणना की जाती है। बन्दोबस्त का तात्पर्य उस संविदा से है जिससे कोई व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का निकाय अकेले अथवा संयुक्त रूप से किसी क्षेत्र विशेष पर निर्धारित मालगुजारी देने के लिए उत्तरदायी होता है। लेकिन बन्दोबस्त का प्रयोग प्रायः व्यापक अर्थ में होता है। इसके अंतर्गत भू-राजस्व के निर्धारण की सभी विधियां, जैसे सर्वेक्षण

का नकशा बनाना, मिट्टी का विभाजन, विविध व्यक्तियों के अधिकारों का लेखा रखना और भू-राजस्व निर्धारित करना आदि सम्मिलित मानी जाती हैं। इन सभी कार्रवाइयों के परिणाम बन्दोबस्त की रिपोर्ट में प्रकाशित किये जाते हैं।

इस व्यापक अर्थ के आधार पर बन्दोबस्त के अन्तर्गत चार प्रमुख कार्यक्रम आते है—(१) सर्वेक्षण का नकशा बनाना और काश्तकारों के अधिकारों का लेखा रखना, (२) मिट्टी का विभाजन,(३) भू-राजस्व का निर्धारण और (४) रेवेन्यू बोर्ड तथा विधान सभा को बन्दोबस्त की रिपोर्ट प्रस्तुत करना।

सर्वेक्षण का नकशा तैयार करने के संबंध में प्रत्येक गांव का अलग-अलग नकशा नकशा-नवीसो द्वारा तैयार किया जाता है। कुछ राज्यों मे वायुयान द्वारा किये जाने वाले सर्वेक्षण से चित्रो के रूप में नकशे बनाये जाते हैं। काश्तकारों के अधिकारों के लेखे दो खण्डों में रखे जाँय। पहले में भू-स्वामी का नाम, उस भूमि पर काश्त करने वाले काश्तकार का नाम, काश्तकार की कोटि का उल्लेख, सिंचाई के स्रोत का विवरण, भूमि की प्रकृति और उस पर उगायी जाने वाली फसलों के विवरण दिये जायँ। दूसरे खंड में प्रत्येक काश्तकार के नाम के सामने उसके खेत की संख्या, उसका क्षेत्रफल, उस पर लगने वाले वार्षिक लगान का पूरा विवरण दिया जाय। इन लेखो को राजस्व विभाग द्वारा प्रतिवर्ष सशोधित करा लेना चाहिए ताकि उनसे प्रस्तुत स्थिति प्रगट हो सके।

मिट्टी-विभाजन के वर्तमान आधार कई है। उनमें गांव से सामीप्य, मिट्टी की प्रकृति, सिंचाई की व्यवस्था तथा उगाई जाने वाली फसलो के क्रम प्रमुख है। स्थानीय परिस्थितियो को महत्त्वपूर्ण स्थान देना मिट्टी-विभाजन के क्रम में अनिवार्य है। प्रत्येक भूमि पर मालगुजारी स्थिर करने मे मिट्टी का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है।

बन्दोबस्त के अतर्गत तीसरे क्रम-भूराजस्व के निर्धारण का सबसे अधिक महत्व है। मिट्टी का विभाजन भू-राजस्व-निर्धारण के लिए ही किया जाता है। अलग-अलग राज्यों में भू-राजस्व निर्धारण की अलग पद्धतियां अपनायी गयी हैं। एक ही पद्धति का प्रयोग सभी राज्यो मे हो भी नही सकता, क्योकि विभिन्न क्षेत्रों की मिट्टियां, कृषि संबंधी सुविधाएँ, उत्पादकता आदि भिन्न-भिन्न होती है। यही कारण है कि एक राज्य के अंतर्गत भी अलग-अलग क्षेत्रो मे भू-राजस्व-निर्धारण की भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ प्रयोग में लायी जाती है। लेकिन, जैसा कि कराधान जांच आयोग (१९५३-५४) ने सकेत किया था, विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों की

भू-राजस्व व्यवस्था में अन्तर रहते हुए भी उनकी भूराजस्व संबंधी नीति में समानता रहना आवश्यक है।[1] भूधृति की प्रकृति, प्रारम्भिक भू-राजस्व-निर्धारण की विधि, भूराजस्व-निर्धारण के संशोधन की विधि आदि ऐसी बातें हैं जिनमें समानता रखी जा सकती है। समानता लाने के साधनों पर विचार करने के पूर्व विभिन्न राज्यों में प्रचलित भू-राजस्व-निर्धारण की पद्धतियों का विवरण देना आवश्यक है।

हमारे यहां भूराजस्व-निर्धारण के आधार निम्नांकित तथ्यों में से होते हैं—(१) शुद्ध सम्पत्ति अथवा आर्थिक लगान, (२) शुद्ध उत्पादन अथवा वार्षिक मूल्य, (३) प्रयोग-सिद्ध-मूल्य, (४) भूमि का लगानी मूल्य, (५) कुल उपज।

शुद्ध सम्पत्ति अथवा आर्थिक लगान के आधार पर भूराजस्व का निर्धारण पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, हिमांचल प्रदेश, दिल्ली आदि में किया जाता है। बिहार, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल के कुछ क्षेत्रों में भी यही पद्धति व्यवहृत होती है। शुद्ध सम्पत्ति का तात्पर्य किसी भू-सम्पत्ति अथवा भू-सम्पत्ति-समूह की उस औसत वार्षिक बचत से है जो खेती के निश्चित अथवा अनुमानित व्ययों को कुल उपज में से घटाने पर शेष रहे। दूसरे शब्दों में इसे वह आर्थिक लगान कह सकते हैं जिसकी राशि लगान उपार्जित करने के सभी व्यय निकालने के पश्चात् स्थिर की गयी हो। इसकी गणना के क्रम में पहले कुल उत्पादन का अनुमान लगाया जाता है फिर उसमें से खेती के व्यय घटा दिये जाते है। कुल उत्पादन का मूल्यांकन उस फसल के पिछले बीस अथवा अधिक वर्षों की औसत कीमत के आधार पर किया जाता है।

शुद्ध उत्पादन अथवा वार्षिक मूल्य के आधार पर भूराजस्व-निर्धारण मद्रास में किया जाता है। विभिन्न प्रकार की भूमि पर प्रमुख फसलों की प्रति एकड़ औसत उपज प्रत्यक्ष जांच अथवा प्रयोग के आधार पर निश्चित की जाती है। औसत उपज का मूल्यांकन पिछले बीस सामान्य वर्षों की औसत कीमत पर किया जाता है। इनमें से खेती के खर्चे घटाने और खराब फसलों के लिए व्यवस्था करने पर जो राशि शेष होती है वही शुद्ध उत्पादन है जिसके आधार पर भूराजस्व का निर्धारण होता है।

१. देखिए कराधान जांच आयोग की रिपोर्ट, तृतीय खण्ड, पृष्ठ २२०।

बम्बई, हैदराबाद, मैसूर, मणिपुर, और त्रिपुरा में भूराजस्व का निर्धारण पिछले अनुभवों और प्रयोगों के आधार पर होता है। इसमें भूखंड की आर्थिक पृष्ठ भूमि की जाँच कर ली जाती है। क्षेत्र का बढ़ाव-घटाव, निवासियों की आर्थिक स्थिति, परिवहन की सुविधाएँ, प्रमुख फसलों की कीमतों में होने वाले परिवर्तन, भूमि के मूल्य में होने वाले हेर-फेर आदि तथ्यों पर विचार किया जाता है। इन्हीं आधारों पर सम्पूर्ण क्षेत्र का भूराजस्व स्थिर करके उसका विभाजन गांवों और खेत के अलग-अलग नम्बरों में कर दिया जाता है।

भूमि के लगानी मूल्य को देश के अधिकांश क्षेत्रों में भू-राजस्व स्थिर करने का आधार मानते हैं। इस विधि के अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों में जाँच द्वारा यह पता लगाया जाता है कि भू-स्वामी अपनी जमीन कितने लगान पर उठाते हैं। उसी में से कुछ घटाकर भूराजस्व स्थिर किया जाता है। काश्तकारी कानूनों में भी प्रायः भूराजस्व उतना ही रखा जाता है जितना काश्तकारों से अधिक से अधिक प्राप्त हो सकता है। काश्तकारों से मिल सकने वाले अधिक से अधिक भूराजस्व के निश्चय न में शुद्ध-सम्पत्ति-मूल्य और पिछले अनुभवों को भी दृष्टि में रखा जाता है।

आसाम में भूमि की कुल उपज का १० प्रतिशत भूराजस्व रखा जाता है। कुल उपज के आधार पर भूराजस्व का निर्धारण अब बहुत ही सीमित हो गया है। पहले जब अन्य विधियों का प्रयोग प्रारम्भ नही हुआ था तब इसी सिद्धान्त के आधार पर भू-राजस्व का निर्धारण होता था।

लगभग सभी राज्यों में अकाल, बाढ़ आदि विषम स्थितिया उत्पन्न होने पर पूर्व निर्धारित भूराजस्व मे छूट देने की भी व्यवस्था है। किस परिस्थिति में कितनी छूट दी जाय यह प्रत्येक राज्य के इस संबंध में बनाये गये नियम पर निर्भर है। मद्रास और कुछ अन्य राज्यों में विषम आपत्तियां आने पर भूराजस्व में छूट सभी कृषकों को समान रूप में नहीं दी जाती। विपन्न कृषक सम्पन्न कृषकों की अपेक्षा अधिक छूट पाते हैं ताकि उसके उद्देश्य की पूर्ति भी हो जाय और सरकारी राजस्व पर अनुचित प्रभाव कम से कम पड़ सके।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि भूराजस्व-निर्धारण की पद्धतियों में बड़ी भिन्नता पायी जाती है। इससे भू-राजस्व का भार एक ही प्रकार की मिट्टी और उत्पादकता वाली भूमि पर समान नहीं पड़ता। भू-राजस्व निर्धारण की पद्धतियों में भिन्नता के अतिरिक्त कुछ और कारणों से भी भूराजस्व के भार में असमानता

है। देशी रियासतों के विलयन के क्रम में भूराजस्व की विविध व्यवस्थाओं वाले क्षेत्र भारत में मिले। कुछ क्षेत्र तो ऐसे भी रहे जिन पर भूराजस्व निर्धारित ही नहीं हुआ था। कुछ रियासतों में लगान की दरें बहुत ऊंची थी। विलयन के पश्चात् रियासती क्षेत्र में प्रान्तों-जैसे भूराजस्व निर्धारण का प्रयास किया गया, लेकिन समय और कुशल कार्यकर्ताओं के अभाव मे उचित सर्वक्षण, मिट्टी-विभाजन आदि वैतनिक आधारों पर राजस्व निर्धारण सम्भव नही हो सका। संक्षिप्त और अस्थायी बन्दोबस्त द्वारा विलीन क्षेत्रों के उन खण्डों पर भूराजस्व स्थिर किये गये जिन पर पहले लगान नहीं लगता था और जिन क्षेत्रो में लगान की ऊँची दरें थीं उन्हें कम कर दिया गया पर इन प्रयत्नों से विलीन क्षेत्रों के भूराजस्व को अन्य क्षेत्रों के समकक्ष नही बनाया जा सका।

जमींदारी उन्मूलन और मध्यस्थों के लोप से भी भूराजस्व के पुनर्निर्धारण की आवश्यकता हुई है। जमींदारी-व्यवस्था में विभिन्न प्रकार के काश्तकार लगान की अलग-अलग दरें देते थे। भूराजस्व देने की जिसकी जितनी अधिक क्षमता थी उससे उतना ही कम भूराजस्व लिया जाता था। जिन कृषको से जितना लगान पहले लिया जाता रहा उसे ही कुछ परिवर्तनों के साथ जमीदारी उन्मूलन के पश्चात् रख दिया गया। इससे भूराजस्व के भार में बड़ी ही असमानता आ गयी है।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् आर्थिक स्थितियों मे अपूर्व परिवर्तन हुए, उनके अनुरूप भूराजस्व को संशोधित नही किया जा सका। कुछ राज्यों में कीमत-तल के परिवर्तनों के अनुरूप भूराजस्व बदलने का प्रयास हुआ; कुछ मे भूराजस्व के साथ कृषि-आयकर लगाने की व्यवस्था की गयी और कुछ में भूराजस्व के साथ अधिकर लगाने का क्रम प्रारम्भ किया गया, लेकिन सभी राज्यों में संगठित ढंग से इस ओर कोई प्रयास न हो सका। फलस्वरूप भूराजस्व के भार में और असमानता ही बढ़ी।

भूराजस्व निर्धारण की विधियों को समान बनाने के पहले भूराजस्व के भार में विशेष अन्तर लाने वाले कारणों के प्रभाव को कम करना आवश्यक है। इसके लिए सभी राज्यों में समान ढंग के प्रयास किये जाने चाहिए ताकि देशी रियासतों के विलयन, मध्यस्थों के लोप तथा कीमतों में परिवर्तन के कारण भूराजस्व-भार-में जो अन्तर आये हैं वे समाप्त हो सकें। जिन क्षेत्रों का सर्वेक्षण नही हो सका है वहां सर्वेक्षण-कार्य संगठित रूप में चलाया जाय। इसके लिए यदि कुशल कर्मचारियों का अभाव हो तो उन राज्यों से सहायता ली जाय जहां सर्वेक्षण, मिट्टी-

विभाजन आदि कार्य विधिवत संपन्न होते रहे हों और जिनमें नये क्षेत्र अपेक्षाकृत कम सम्मिलित हुए हों। इससे राज्य के समान क्षेत्र भूराजस्व का समान भार वहन करने लगेंगे।

देश के सभी हिस्सों में भूराजस्व का निर्धारण और संशोधन प्रचलित रैयतवारी ढंग से होना चाहिए। विभिन्न विधियों के प्रयोग मे इस प्रकार परिवर्तन किया जाय कि भूराजस्व का निर्धारण समान स्तर पर हो सके। सभी राज्यों में कराधान जांच आयोग द्वारा दिये हुए सुझावों के अनुरूप प्रमाणित भूराजस्व-स्तर कायम किये जायँ। इससे द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् आर्थिक स्थितियों में जो परिवर्तन आये है उनसे भूराजस्व का साम्य स्थापित हो सकेगा। भविष्य में जब भी कीमत तल में अधिक परिवर्तन हों तो आयोग द्वारा प्रस्तावित निम्नलिखित क्रम से भूराजस्व बदला जाय :—

कीमत-तल में वृद्धि	**भूराजस्व में वृद्धि**
२५ प्रतिशत तक होने पर	कुछ नही
२५ प्रतिशत से ऊपर और ३१ प्रतिशत तक वृद्धि होने पर	३ प्रतिशत वृद्धि
३१ प्रतिशत से ऊपर और ३७ प्रतिशत तक वृद्धि होने पर	६ ,, ,,
३७ प्रतिशत से ऊपर और ४३ प्रतिशत तक वृद्धि होने पर	९ ,, ,,
४३ प्रतिशत से अधिक वृद्धि होने पर	१२ ,, ,,
कीमत तल में कमी	**भूराजस्व में कमी**
२५ प्रतिशत तक कमी होने पर	कुछ नही
२५ प्रतिशत से अधिक और ३१ प्रतिशत तक कमी होने पर	६ प्रतिशत कमी
३१ प्रतिशत से अधिक और ३० प्रतिशत तक कमी होने पर	१२ ,, ,,
३७ प्रतिशत से अधिक और ४३ प्रतिशत तक कमी होने पर	१८ ,, ,,
४३ प्रतिशत से अधिक कमी होने पर	२५ ,, ,,

प्रमापित भूराजस्व प्रत्येक दसवें वर्ष पुनरीक्षित हो। पुनरीक्षण के समय सभी आर्थिक स्थितियों में हुए परिवर्तनों को दृष्टि में रखा जाय। इस अवधि के पहले यदि कीमत-तल में अत्यधिक परिवर्तन हो गया हो तो उपर्युक्त क्रम से भूराजस्व में परिवर्तन किया जाय। इसके अतिरिक्त यदि खेती की प्रणाली में विशेष सुधार अथवा सिंचाई के साधनों का प्रसार होने से उत्पादकता में वृद्धि आवे तब भी प्रमापित भूराजस्व में उचित संशोधन कर दिया जाय। इन व्यवस्थाओं से सरकार को भूराजस्व से पर्याप्त राशि प्राप्त होती रहेगी और कृषकों पर इसका भार आर्थिक स्थिति के अनुकूल पड़ेगा। इन दिशाओं में विभिन्न राज्यों द्वारा साथ-साथ प्रयास किये जाने पर देश के विभिन्न हिस्सों में कृषकों पर पड़ने वाले भूराजस्व के भार में कुछ समानता भी लायी जा सकती है।

प्रमापित-भूराजस्व-निर्धारण तथा उसमें किये जाने वाले संशोधनों का विवरण बन्दोबस्त की रिपोर्ट में प्रस्तुत किया जाना चाहिए ताकि उन पर उचित विचार हो सके और भावी कार्रवाइयों के लिए निश्चित आधार मिल सके।

१. देखिए कराधान जाँच आयोग की रिपोर्ट, तृतीय पुस्तक, पृष्ठ २३०।

अध्याय १३

मादक द्रव्यों पर उत्पादन-शुल्क

भारत में लगने वाले उत्पादन शुल्क दो प्रमुख खण्डों में विभक्त किये जा सकते है। एक प्रकार के वे उत्पादन-शुल्क है जिन्हें देश में निर्मित अथवा उत्पादित वस्तुओं पर राजस्व की आवश्यकता के अनुसार सरकार की राजकोषीय और व्यापारिक नीति के अंतर्गत लगाया जाता है। पिछले अध्याय में इसी प्रकार के उत्पादन-शुल्क की व्याख्या की गयी है। दूसरे वर्ग के वे उत्पादन शुल्क हैं जिन्हें मादक पदार्थो पर इसलिए लगाया जाता है कि जनता में उनका उपभोग शुल्क के कारण कम हो सके। इसके अन्तर्गत उत्पादन पर शुल्क ही नहीं लगता, बल्कि उनके उत्पादकों और वितरण कर्ताओं पर नियन्त्रण भी रखा जाता है। नियन्त्रण के क्रम में अनुज्ञा-पत्र जारी करना, उसे समय-समय पर बदलना, उसकी संख्या में परिवर्तन लाना आदि कार्य सरकार द्वारा किये जाते है। इसके लिए एक विशेष विभाग कार्य करता है जिसे 'आबकारी विभाग' के नाम से पुकारते है।

संविधान के अनुसार केन्द्र और राज्य सरकार दोनों के अधिकार-क्षेत्र में इस प्रकार का उत्पादन-शुल्क आता है। राज्य-सरकारें राज्य में निर्मित या मानव उपभोग के लिए उत्पादित मद्यसारिक पेयों, अफीम, भांग आदि अन्य पिनक लाने वाली औषधियों और स्वापकों पर उत्पादन शुल्क लगाती हैं। भारत में अन्य कहीं निर्मित या उत्पादित उपर्युक्त प्रकार की वस्तुओं पर भी उसी दर से अथवा कम दर से प्रति-शुल्क लगाने का अधिकार राज्य-सरकारों को है। लेकिन ऐसी औषधीय और प्रसाधनीय सामग्रियों पर जिनमें मद्यसार अथवा अफीम, भाग या अन्य पिनक लाने वाली औषधियाँ अथवा स्वापक प्रयुक्त हों, शुल्क लगाने का अधिकार राज्य सरकारों को नहीं है। इन पर केन्द्रीय सरकार उत्पादन-शुल्क लगाती है। तम्बाकू और उससे तैयार किये हुए मादक पदार्थों पर शुल्क लगाने का अधिकार भी केन्द्रीय सरकार को ही है।

मादक पदार्थों पर उत्पादन-शुल्क के सैद्धान्तिक आधार

मादक पदार्थों पर लगाया जाने वाला उत्पादन शुल्क-राजस्व की दृष्टि से उतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता जितना कि उनके उपभोग पर नियन्त्रण रखने के साधन के रूप में वह आवश्यक माना जाता है। वास्तव में नियन्त्रण के साधन रूप में ही इसे लागू किया जाता है, लेकिन चूकि इनका उपभोग केवल कीमत की वृद्धि से बहुत कम प्रभावित होता है, इसलिए इन शुल्कों से आय होना स्वाभाविक है।

जैसा कि पिछले अनुभवों से प्रगट है, केवल उत्पादन-शुल्क मादक पदार्थो के उपभोग को नियंत्रित रख सकने में सफल नहीं है इसलिए यह सुझाव बहुत पहले से आता रहा कि मादक पदार्थों का उत्पादन और वितरण बंद कर दिया जाय। केवल औषधियों के रूप में अथवा औषधियों को बनाने के उपकरण रूप में मादक पदार्थो का प्रयोग निर्बाध रखा जाय।

मादक पदार्थ के उपभोग को नियंत्रित रखना जन-स्वास्थ्य से प्रत्यक्षतः संबंधित है। इसलिए नियंत्रण लागू करने और उसे कायम रखने में दो मत नही हो सकते। पाश्चात्य देशों में भी, विशेषत. सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में, इस ओर ठोस प्रयास हुए है। हमारे देश में स्वतन्त्रता के बहुत पहले से ही मादक पदार्थों का सेवन कम करने तथा धीरे-धीरे उसे समाप्त करने के प्रयत्न होते रहे। स्वतन्त्रता के पश्चात् पूर्ण नशाबन्दी को राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत रखा गया है। इसके लिए सभी प्रकार से प्रयत्न हो रहे है। इन प्रयत्नों के प्रकार और उनसे सुलभ होने वाले परिणामों की व्याख्या इसी अध्याय में आगे दी हुई है। इस व्याख्या को देने के पूर्व यह विचारणीय है कि नशाबन्दी का कौन-सा मार्ग अधिक प्रभावोत्पादक है।

मादक पदार्थों के सेवन पर लगने वाले नियन्त्रणों का प्रत्यक्ष संबंध राजकोष से है। मादक पदार्थो पर लगने वाले उत्पादन-शुल्क से राज्य सरकार तथा केन्द्र को बड़ी मात्रा में राजस्व प्राप्ति होती रही है। यदि मादक पदार्थो का उपभोग पूर्णतः समाप्त हो जाय और परिणामस्वरूप इनका उत्पादन और वितरण बंद हो जाय तो राजस्व को अधिक क्षति पहुँचती है। लेकिन जन-स्वास्थ्य को इससे होने वाले हितों की दृष्टि से राजस्व की क्षति को नगण्य माना जा सकता है। इस दृष्टि से नशाबन्दी को पूर्ण प्रोत्साहन देना उचित भी है। पर नशाबंदी के सम्बन्ध

जनवरी, सन् १९५६ में राष्ट्रीय विकास परिषद ने उन्हें मान भी लिया। ३ मार्च सन् १९५६ को लोक-सभा द्वारा यह प्रस्ताव पास कर दिया गया कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत ही नशाबंदी कार्य-क्रम रखा जाय और शीघ्रतापूर्वक तथा प्रभाव-पूर्ण ढंग से सम्पूर्ण देश में उसे लागू किया जाय। इसी प्रस्ताव के आधार पर आयोजना-आयोग ने राज्यों को इस सम्बन्ध में आगे बढ़ने के लिए कुछ विशेष निर्देश दिये। इनका विवरण नीचे दिया गया है:—

नशाबन्दी के सम्बन्ध में आयोजना आयोग द्वारा राज्यों को दिये गये निर्देश

आयोजना-आयोग ने राज्यों को क्रमशः नशाबन्दी लागू करने के सम्बन्ध में कुछ विशेष निर्देश दिये ताकि धीरे-धीरे मादक पदार्थों का सेवन कम हो सके और जनमत नशाबंदी के पक्ष में लाया जाय। उन निर्देशों में निम्नांकित उल्लेख-नीय है—

१. राज्य मे उन सभी विज्ञापनों और प्रोत्साहनों को समाप्त किया जाय जिनसे मद्यसारिक पेयों का उपभोग बढ़ाने का प्रयास किया जाता है।

२. होटल, जलपानगृह, क्लब आदि सार्वजनिक स्थानों पर मद्यसार-पान रोका जाय और सार्वजनिक स्वागतों के अवसरों पर भी इनका प्रयोग बद किया जाय। लेकिन इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखा जाय कि विदेश से आने वाले अति-थियो और यात्रियों को विशेष कष्ट न हो। विदेशी प्रतिनिधि-मण्डलों को भी इससे छूट दी जाय।

३. नशाबदी के सम्बन्ध में क्रमबद्ध कार्यक्रमों की रचना के लिए प्राविधिक समितिया स्थापित की जायँ जो ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में शराब की दूकानों को क्रमशः घटाने की व्यवस्था पर विचार करें; सप्ताह में शराब की दूकानों की बंदी वाले दिनो की संख्या को क्रमशः बढ़ाने का क्रम निकाले; शराब की दूकानों की पूर्ति कम करने का सुझाव दें; भारत के मद्यसार के निर्माणको द्वारा उत्पादित शराब की तेजी धीरे-धीरे घटाने का उपाय निकालें; विकास योजनाओं से सम्ब-न्धित स्थानों, विशिष्ट औद्योगिक क्षेत्रों और उनके निकट वाली शराब की दूकानों को बंद करने का क्रम प्रस्तुत करे; गाँव तथा नगरों मे मादक पदार्थों की दूकानों को निवास स्थानों एवं मुख्य सड़कों से दूर रखने का सुझाव दें।

४. इस प्रकार के सक्रिय कार्य किये जायँ जिनसे सस्ते और स्वास्थ्यप्रद पेय बनाने को प्रोत्साहन मिले।

का प्रचार आवश्यक है। उस समाज में जहाँ जनता अधिक पिछड़ी हो तथा संयमित जीवन के लाभों से परिचित न हो वहाँ अधिक प्रचार किया जाय। प्रचार द्वारा जब जनता मादक पदार्थों के सेवन के प्रति अरुचि रखने लग जाय और उत्पादन-शुल्क से भारित मादक पदार्थों की ऊँची कीमत चुकाने में अनिच्छा प्रगट करने लगे तब ही धीरे-धीरे पूर्ण नशाबन्दी लागू हो सकती है।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि मादक पदार्थों पर राजस्व की दृष्टि से लगने वाले उत्पादन-शुल्क तथा नशाबन्दी में परस्पर विरोध होते हुए भी पहले को दूसरे की प्राप्ति का साधन बनाया जा सकता है। मादक पदार्थ पर लगने वाले उत्पादन शुल्क को राजस्व-प्राप्ति के उद्देश्य से नही भी रखा जा सकता लेकिन जनता में मादक पदार्थों का सेवन धीरे धीरे घटाने के लिए उत्पादन-शुल्क का अवलम्बन लेना अपरिहार्य है। भारत में नशाबंदी के सम्बन्ध में किये गये प्रयत्नों का विश्लेषण इस दृष्टि से करना आवश्यक है कि उत्पादन-शुल्क का प्रयोग उसके साधन के रूप में कहाँ तक हो सका है और नशाबन्दी के अन्य सभी प्रयास किस सीमा तक सफल हुए हैं।

भारत में नशाबन्दी

भारत में नशाबन्दी के सक्रिय प्रयासों का प्रारम्भ सन् १९३६-३७ में प्रान्तों में कांग्रेस मंत्रि-मण्डल बनने के बाद से माना जा सकता है। देश के कई प्रान्तों में कांग्रेस मंत्रिमण्डलों द्वारा नशाबन्दी लागू करने और उससे होने वाली राजस्व क्षति को पूरा करने के साधनों पर विचार किया गया। पर कांग्रेस मंत्रिमण्डलों की अवधि सीमित होने के कारण नशाबन्दी-संबंधी विचारों को सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं किया जा सका।

स्वतन्त्रता मिलने के बाद से ही नशाबन्दी को व्यवहार में लाने के सक्रिय प्रयास प्रारम्भ हो गये। धीरे-धीरे कुछ राज्यों में नशाबंदी लागू भी की गयी। नशाबन्दी-सम्बन्धी उनके प्रयोगों का अध्ययन करने और उन्हें व्यापक बनाने के उचित साधनों पर विचार करने के लिए आयोजना-आयोग ने एक विशेष समिति की स्थापना की। इस नशाबंदी-जांच समिति ने यह सुझाव दिया कि नशाबंदी के क्रम को देश की विकास योजना के साथ-साथ चलाया जाय और धीरे धीरे करके अप्रैल, सन् १९५९ तक सम्पूर्ण भारत में समान रूप से नशाबंदी लागू कर दी जाय। इस समिति के सुझावों पर केन्द्र तथा राज्य सरकारों ने विधिवत् विचार किया।

में कई वार देखा गया है कि वैधानिक ढंग से इसे कार्यान्वित करने पर प्रायः असफलता मिलती है। वैधानिक नियन्त्रण के फलस्वरूप प्रत्यक्ष उपभोग परोक्ष रूप धारण कर लेता है और मादक पदार्थों का उत्पादन और वितरण अवैधानिक ढंग से होने लगता है। इससे नशाबंदी का उद्देश्य भी पूरा नहीं होता और साधारण उत्पादन एवं वितरण को नियंत्रित रखने के लिए जो उत्पादन शुल्क लगता उससे होने वाली राजस्व-प्राप्ति भी समाप्त हो जाती है।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में नशाबंदी के प्रयत्नों से यही अनुभव हुआ कि पूर्ण नशाबन्दी असम्भव है। केवल उसी समाज में वैधानिक ढंग से पूर्ण नशावन्दी को सफल बनाया जा सकता है जो इसकी आवश्यकता के प्रति वहुत ही जागरूक हो। जब तक समाज नशाबंदी को वस्तुतः नही अपनाता और मादक पदार्थो के सेवन के प्रति उदासीन नहीं होता, विधान द्वारा नशा-सेवन वर्जित करने से पूर्ण नशाबंदी ही असम्भव नही है, बल्कि उससे अन्य अवैधानिक कार्यो को भी प्रोत्साहन मिल जाता है।

कुछ लोगों का यह भी विचार है कि नशाबंदी के लिए प्रयास ही नही करना चाहिए क्योंकि नशाबन्दी कानून से लागू करने पर लोगों का और विशेषतः नशा-सेवियो का इस ओर विशेष आकर्षण हो जाता है। उनके मतानुसार मादक पदार्थो का उत्पादन और वितरण पूर्णतः निर्बाध कर देने पर नशासेवी भी साधारण क्रम में मादक पदार्थों का उपभोग कम कर सकते है, यदि नशासेवन के विरुद्ध उचित प्रचार किया जाय। लेकिन यह दृष्टिकोण सर्वथा अमान्य है। पूर्ण नशाबन्दी और मादक पदार्थो का निर्बाध उत्पादन एवं वितरण इन दोनों किनारों के बीच का मार्ग ही अधिक उपयोगी माना जा सकता है। एक तरफ तो मादक पदार्थों के उत्पादन एवं वितरण पर धीरे-धीरे नियन्त्रण बढाया जाय और दूसरी ओर जनता में प्रचार द्वारा नशा-सेवन घटाने का प्रयास किया जाय। मादक पदार्थों के उत्पादन और वितरण पर नियन्त्रण लगाने के क्रम में उत्पादन-शुल्क का प्रयोग उपयोगी कहा जा सकता है, किन्तु इसके साथ-साथ नियन्त्रण के कुछ और साधनों का प्रयोग आवश्यक है, जैसे—अधिक हानिप्रद पदार्थों का उत्पादन धीरे-धीरे घटाया जाय, उनकी दूकानें तथा उनके खुलने के घंटे कम किये जाँय, मादक पदार्थों के सेवन के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने वाले प्रसाधनों का प्रचार रोका जाय।

जनता में मादक पदार्थों का सेवन घटाने के लिए उनसे होने वाली हानियों

५. आमोद-प्रमोद के केन्द्रों को संगठित करने में प्रयत्नशील व्यक्तियों तथा संस्थानों को उचित सहायता दी जाय।

६. राष्ट्रीय-प्रसार सेवा-खण्डों, सामुदायिक विकास योजना क्षेत्रों और ग्रामीण कल्याण-प्रसार-केन्द्रों में चलाये जाने वाले रचनात्मक कार्यों के अन्तर्गत नशा-निषेध को प्रमुख स्थान दिया जाय।

आयोजना-आयोग के इन्हीं निर्देशों के अनुसार द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत नशा-निषेध को कार्यान्वित करने का प्रयास विभिन्न राज्यों में हुआ है।

भारत में नशा-निषेध की प्रगति

राज्यों के पुनर्गठन के ठीक पूर्व आन्ध्र, मद्रास, कुर्ग, कच्छ और सौराष्ट्र में वैधानिक ढंग से पूर्ण नशा-निषेध लागू था। आसाम, दिल्ली, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, पंजाब, उत्तरप्रदेश, मध्य भारत, मैसूर, ट्रावनकोर, कोचीन और हिमांचल प्रदेश में आंशिक नशा-निषेध लागू किया गया था। आंशिक नशा-निषेध का तात्पर्य यह है कि राज्यों के कुछ जिलों में पूर्ण नशा-निषेध कर दिया जाता है और कुछ में नशा-पान वर्जित नही रहता।

कुर्ग और कच्छ राज्यों ने सन् १९५६ में ही पूर्ण नशा-निषेध लागू किया। राजस्थान, भोपाल, हैदराबाद, और मध्यप्रदेश में मद्य-निषेध के क्रमिक कार्यक्रम लागू किये गये। मद्य-निषेध के क्रमिक क्रमों का रूप आयोजना-आयोग द्वारा प्रस्तावित निर्देशों से मिलता-जुलता रहा। दिल्ली, भोपाल और राजस्थान मे खुलेआम मद्यपान वर्जित कर दिया गया। मध्यभारत और दिल्ली में शराब की दूकानों की संख्या कम कर दी गयी। राजस्थान और दिल्ली मे मद्यपान-बदी के दिनों की संख्या बढ़ा दी गयी तथा १८ वर्ष के स्थान पर, कम से कम २५ वर्ष के लोगों को ही मादक-पेय क्रय की छूट दी गयी। लगभग सभी राज्यों में मनोरंजन के दूसरे साधनों को बढ़ाने का प्रयास किया गया।

सन् १९५७ के आकड़ों के आधार पर यह प्रगट होता है कि सम्पूर्ण देश का लगभग ३९.४ प्रतिशत क्षेत्र मद्य-निषेध के अन्तर्गत आ चुका है और उससे लगभग ५० प्रतिशत जनता प्रभावित हुई है (सन् १९५७ तक)

मादक पदार्थों पर लगने वाले उत्पादन-शुल्क से प्राप्तियां

अगले पृष्ठ पर दी हुई तालिका में भारत के प्रमुख राज्यों को आबकारी से होने वाली प्राप्तियों का विवरण दिया गया है।

(लाख रुपयों में)

	१९३८ १९३९	१९४८ १९४९	१९४९ १९५०	१९५० १९५१	१९५१ १९५२	१९५२ १९५३
आसाम	३५	९५	८८	९३	८१	७६
बिहार	१,२०	४,८५	४,९९	५,२६	५,३४	५,८०
बम्बई	२,९०	६,१७	४,०९	१०,७	८५	१,०७
मध्यप्रदेश	६४	२,१९	२,२४	२,३१	२,२३	२,२३
मद्रास	३,७२	३,६७	५९	५५	३९	३४
उड़ीसा	३३	१,३६	१,८२	२,१३	१,९२	१,६७
पंजाब	१,०२	२,३८	२,३२	२,००	२,३९	२,१६
उत्तर प्रदेश	१,३३	६,५३	५,९६	६,५१	६,१६	६,१२
पश्चिमी बगाल	१,५९	६,२२	६,१४	६,२०	६,१९	५,९२
योग	१३,०९	३४,३२	२९,०३	२७,०४	२६,२८	२६,०७

उपर्युक्त तालिका मे दिये गये आंकड़ों से स्पष्ट है कि मद्य-निषेध लागू करने के बाद राज्यों के राजस्व में मादक पदार्थों पर लगने वाले उत्पादन शुल्क की प्राप्तियों मे पर्याप्त कमी हुई। बम्बई और मद्रास राज्यों में सन् १९४८-४९ में इस मद से क्रमश. ६ करोड़ ७० लाख तथा ३ करोड़ ६७ लाख रुपये प्राप्त हुए थे, पर सन् १९५१-५२ मे केवल ८५ लाख और ३९ लाख रुपये सुलभ हो सके। इसी प्रकार आंशिक रूप में मद्य-निषेध लागू करने वाले राज्यों—पंजाब, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा आदि—की इस सम्बन्ध की प्राप्तियां मद्य-निषेध सम्बन्धी नीति अपनाने के कारण सन् १९४८-४९ की तुलना मे गिरी है। सन् १९५०-५१ तक भारत का लगभग एक-तिहाई क्षेत्र देशी रियासतों के अन्तर्गत रहने के कारण मद्यनिषेध सम्बन्धी कार्यक्रमों के क्षेत्र के बाहर रहा। भारत संघ में उनके मिलने के पश्चात् उन क्षेत्रों में मद्य-निषेध का प्रसार होने लगा। नीचे दी गयी तालिका से यह स्पष्ट होता है कि सन् १९५१-५२ से लेकर सन् १९५५-५६ तक मद्य-निषेध की प्रगति कैसी रही। प्रगति का मापदण्ड मादक पदार्थों पर लगने वाले उत्पादन शुल्क की प्राप्तियों को माना गया है।

मादक पदार्थों के उत्पादन-शुल्कों से होनेवाली प्राप्तियों का राज्यों के कुल राजस्व में स्थान

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	कुल राजस्व	मादक पदार्थों पर उत्पादन-शुल्क से प्राप्तियाँ	तीसरे का दूसरे से प्रतिशत
१९५१–५२	४२८.१८	५१.४५	११.६
१९५२–५३	४४४.५५	४६.३७	११.३
१९५३–५४	४८४.२०	४४.५५	८.३
१९५४–५५	५११.१३	४२.९८	७.८
१९५५–५६	६८४.५०	४२.५५	५ ८

इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि सन् १९५१-५२ से मद्य-निषेध का प्रसार अधिक होता रहा जिसके परिणामस्वरूप मादक पदार्थो पर लगने वाले उत्पादन-शुल्क की प्राप्तियों में लगातार कमी होती रही।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि ऐसे उत्पादन-शुल्क मे अधिकांश प्राप्ति गरीब जनता से होती है जो अपनी कुल आय का एक बड़ा भाग मादक पदार्थो के सेवन पर व्यय कर देती है। मद्यनिषेध-जाँच-समिति का यह अनुमान है कि प्रत्येक व्यक्ति पर मद्यपान का औसत व्यय १०८ रुपये आता है, जबकि सम्पूर्ण भारत के लिए उस वर्ष की अनुमानित प्रति व्यक्ति आय केवल २६५ रुपये थी। यह भी कहा जाता है कि मादक पदार्थों पर लगने वाले उत्पादन-शुल्क से जितनी आमदनी होती है उसकी लगभग तिगुनी रकम मादक पदार्थों के उपभोग पर खर्च होती है। इस अनुपात की दृष्टि से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्पूर्ण राष्ट्र में कितनी बड़ी राशि का दुरुपयोग हानिप्रद पदार्थों के सेवन पर होता रहा है और इसमें आनेवाली कमियां यह स्पष्ट करती हैं कि इस दुरुपयोग को किस हद तक रोका जा रहा है।

मद्य-निषेध कहाँ तक सम्भव

धार्मिक, सामाजिक अथवा अन्य दृष्टिकोणों से भी मद्यनिषेध को पूर्ण सफल

बनाना वांछनीय ही नहीं, बल्कि आवश्यक प्रतीत होता है। किन्तु वित्तीय दृष्टि से यदि इस पर विचार किया जाय तो प्रगट होगा कि पूर्ण मद्यनिषेध से जितना सामाजिक हित सम्भव है उससे कहीं अधिक क्षति वित्तीय साधनों के अभाव में आर्थिक विकास का क्रम शिथिल पड़ जाने से हो सकती है। राज्यों की वित्तीय व्यवस्था में मद्यनिषेध के प्रयोग से जो स्थान रिक्त होता है उसे अन्य कर अथवा करसमूह लगाने के बाद भी पूरा नहीं किया जा सकता।

मद्यनिषेध से केवल प्रत्यक्षतः राजस्व, की ही क्षति नहीं होती बल्कि इसे लागू करने के लिए हमें आवश्यक प्रशासन पर भी बड़ी राशि व्यय करनी होती है। यह राशि उतनी ही बढ़ती जाती है जितनी अधिक तीव्रता से मद्यनिषेध लागू करने का प्रयास किया जाता है। राजस्व की इतनी क्षति उठाकर तथा मद्य-निषेध लागू करने के लिए आवश्यक प्रशासन पर बड़ी राशि खर्च करने के पश्चात् भी मद्यनिषेध को पूर्णतः सफल बनाना कठिन है। भारत ऐसे देश में जहाँ प्रत्येक ताड़ और महुआ का वृक्ष मादक पेय का निर्बाध स्रोत उपस्थित करता है, केवल मद्यनिषेध-विधान लागू कर देना मात्र ही मद्य-सेवन को रोकने में समर्थ नहीं हो सकता। पूर्ण मद्य-निषेध लागू करने वाले राज्यों मे यही अनुभव रहा है कि इससे जितनी आर्थिक क्षति हुई है उसके अनुरूप सामाजिक हित नहीं हो सका है। सर्वतोमुखी विकास योजनाओं के संचालन के क्रम में सभी प्रकार के वित्तीय साधनों के सम्भव स्रोतों का उपयोग करना है। ऐसी परिस्थिति में समाज-सुधार के कुछ आदर्शवादी सिद्धान्तों के नाम पर सुलभ वित्तीय साधनों का दुरुपयोग अथवा लोप करना उचित नहीं कहा जा सकता। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पूर्ण मद्यनिषेध एक ऐसी विलासिता है जिसे भारत संतुलित आर्थिक विकास के प्रयत्नों की अनिवार्यता के क्रम में अपना नहीं सकता।

अध्याय १४

बिक्री-कर

भारत में बिक्री-कर का विकास

राज्यों के राजस्व-स्रोतों के अन्तर्गत बिक्री-कर का आजकल बहुत महत्त्व बढ़ गया है। सन् १९५४-५५ के आंकड़ों के आधार पर भारत के कुल राज्यों में बिक्री-कर से लगभग सत्तावन करोड़ रुपयों की प्राप्ति हुई थी। बिक्री-कर का जो भी रूप और महत्त्व बढ़ा है वह केवल पिछले बीस वर्षों के विकास का परिणाम माना जा सकता है। बिक्री-कर सर्वप्रथम मध्यप्रदेश में सन् १९४८ में पेट्रोल-कर के रूप में प्रारम्भ किया गया। इसे मोटर-स्पिरिट और मोटर के तेल की खुदरा बिक्री पर लगाने का क्रम अपनाया गया। लेकिन पेट्रोल की बिक्री पर लगाये जाने वाले बिक्री-कर को अलग रखने की व्यवस्था की गयी और आगे चलकर इसके लिए अन्य राज्यों में भी अलग से नियम बनाये गये। इसलिए बिक्री-कर का प्रारम्भ मध्य प्रदेश के बिक्री-कर से नही भी माना जा सकता है।

बिक्री-कर का आधुनिक रूप सन् १९३९ में मद्रास द्वारा कार्यान्वित किया गया। उसके पश्चात् बंगाल में सन् १९४१ में बिक्री-कर लगाया गया। मद्रास में लागू किया गया बिक्री-कर बहुस्तरीय था, जबकि बंगाल में लागू किया हुआ बिक्री-कर एकस्तरीय था। सन् १९४१ में ही पंजाब में भी बहुस्तरीय ढंग का बिक्री-कर-अधिनियम बनाया गया। सन् १९४४ में बिहार में भी बिक्री-कर लागू करने की व्यवस्था की गयी। इसे बंगाल के एकस्तरीय नमूने पर ही आधारित रखा गया।

सन् १९४६ से ४८ तक लगभग पाँच और राज्यों में बिक्री-कर प्रारम्भ किया गया। बम्बई, आसाम, मध्यप्रदेश और उड़ीसा में एकस्तरीय बिक्री-कर अपनाया गया। लेकिन उत्तर प्रदेश में बहुस्तरीय बिक्री-कर पद्धति को कुछ परिवर्तनों के साथ लागू किया गया। सन् १९४८ के बाद धीरे-धीरे अन्य सभी राज्यों में बिक्री-कर लागू किया गया। शेष राज्यों में से मैसूर, ट्रावनकोर-कोचीन और हैदराबाद

में बहुस्तरीय बिक्री-कर लागू किया गया, लेकिन अन्य राज्यों में कई वस्तुओं अथवा कुछ वस्तुओं पर ही एकस्तरीय बिक्री-कर प्रारम्भ किया गया। प्रारम्भ से लेकर अबतक विभिन्न राज्यों की बिक्री-कर-पद्धतियों में परिवर्तन भी हुए हैं। कुछ राज्यों में बहुस्तरीय बिक्री-कर को बदलकर एकस्तरीय बिक्री-कर बना दिया गया। कुछ में एकस्तरीय बिक्री-कर बहुस्तरीय बना दिया गया। पंजाब और बम्बई राज्यों में बिक्री-कर की पद्धति में विशेष परिवर्तन किये गये।

भारत में बिक्री-कर का व्यावहारिक रूप

बिक्री का तात्पर्य

विभिन्न राज्यों में लगाये जाने वाले बिक्री-कर का आधार कुछ निश्चित वस्तुओ की बिक्री है। बिक्री का तात्पर्य अलग-अलग राज्यों में समान नही है। मद्रास, मैसूर, ट्रावनकोर-कोचीन और हैदराबाद में बिक्री का तात्पर्य व्यापार अथवा व्यवसाय के क्रम में सम्पत्ति का हस्तांतरण है। व्यक्तियो द्वारा की जाने वाली आकस्मिक बिक्रियाँ, शिक्षा-सस्थाओ से सम्बद्ध छात्रावासों मे भोजन की बिक्री अथवा किसी ऐसे फर्म द्वारा जिसका मुख्य व्यवसाय फर्नीचरों को बेचना न हो पुराने फर्नीचर की बिक्री आदि ऐसी बिक्रियां है जिनपर बिक्री-कर नही लगता। बंगाल और दिल्ली राज्यों में बिक्री का तात्पर्य मुद्रा के लिए वस्तुओं के स्वामित्व के हस्तातरण से है। मुद्रा के अतिरिक्त अन्य प्रतिफलो के लिए हुए विनिमय अथवा वस्तु-विनिमय बिक्री-कर के क्षेत्र से परे रहते है। कुछ राज्यो में बिक्री होना तभी मानते है जबकि संविदा के समय वस्तुएँ उस राज्य मे वर्त्तमान हों।

सामान्यतः बिक्री-कर के लिए बिक्री के व्यवहार की पूर्ति ही पर्याप्त मानी जाती है। बिक्रय-अधिनियम का हस्तांतरण बिक्री-कर के लिए आवश्यक नही माना जाता। बिक्री का व्यवहार जिस स्तर पर पूर्ण हो जाता है वही 'बिक्री-कर लागू हो जाता है। बिक्री के क्रम में स्वामित्व का हस्तातरण विक्रेता से क्रेता को किस स्तर पर होता है इससे और बिक्री-कर लगाये जाने से विशेष सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि अधिकांश बिक्री-कर अधिनियम मे बिक्री की पूर्ण संविदाओं पर ही कर लगाने की व्यवस्था की जाती है।

बिक्री-कर-दायित्व का आधार

बिक्री-कर के लिए व्यवसायी उत्तरदायी होते हैं। उन्हें बिक्री के कुल मूल्य पर नियत दर से कर देना होता है। बिक्री-मूल्य में किसी सामान की बिक्री के लिए ही व्यवसायी को मिलने वाली राशि सम्मिलित नहीं की जाती, बल्कि बिक्री के पूर्व अथवा बिक्री के ठीक समय पर विक्रेता द्वारा विक्रय होने वाली वस्तु के सम्बन्ध में की जाने वाली किसी व्यवस्था के लिए जो राशि वसूली जाती है उसे भी बिक्री-मूल्य में सम्मिलित करते हैं। लेकिन बिक्री के सम्बन्ध में दिये जाने वाले बट्टे अथवा वस्तु के पहुँचने आदि के व्यय बिक्री के कुल मूल्य में सम्मिलित नहीं किये जाते।

बिक्री-कर के लिए विभिन्न राज्यों में विभिन्न व्यवसायियों के आधार पर कुछ सीमाएँ निश्चित की गयी हैं। निश्चित सीमा से कम बिक्री करने वाले व्यवसायियों को बिक्री-कर से मुक्त रखा जाता है। बाहर से सामान आयात करके बिक्री करने वाले व्यवसायियों और निर्माताओं के लिए बिक्री की कम सीमा रखी जाती है। किसी भी राज्य में आयातकर्ता और निर्माता व्यवसायियों की बिक्री कर लगाने की न्यूनतम सीमा दस हजार रुपये से अधिक नहीं मानी गयी है। कुछ राज्यों में तो यह सीमा पाँच हजार रुपये ही है। लेकिन अन्य व्यवसायियों के लिए साढ़े सात हजार रुपये से पचास हजार रुपये तक बिक्री की न्यूनतम सीमाएँ निश्चित की गयी हैं।

बिक्री-कर से छूट की व्यवस्था

बिक्री-कर से कुछ विशेष प्रकार की बिक्रियों को छूट देने की व्यवस्था की जाती है। इन छूटों को यों तो बिक्री-कर अधिनियम के अन्तर्गत दी हुई अनुसूचियों में व्यक्त किया जाता है अथवा उसके लिए सरकार द्वारा अलग से अधिसूचनाएँ निर्गमित की जाती हैं। बिक्री-कर के सम्बन्ध में दी जाने वाली छूटों को चार प्रमुख वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। ये वर्ग निम्नांकित हैं—

१. उन वस्तुओं की बिक्री जिन्हें विभिन्न कारणों से आवश्यक वस्तुओं की कोटि में रखा जाता है।

२. उन वस्तुओं की बिक्री जिन पर अन्य अधिनियमों के अन्तर्गत पहले से ही भारी कर लग चुके हैं।

३. कुटीर और ग्राम-उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की बिक्रियाँ।

४. अन्य वस्तुओं की बिक्रियाँ।

पहली कोटि में खाद्यान्न, दूध, हरी सब्जियाँ, हरे फल, नमक, गुड़, खाद्य-तेल, तिलहन, मिट्टी का तेल, दियासलाई और सस्ते कपड़े प्रायः आते हैं। अलग-अलग राज्यों में इन्हीं में से कुछ अथवा सब वस्तुओं की बिक्री पर कर नहीं लगाया जाता। दूसरी कोटि में पेट्रोल, बिजली, तम्बाकू आदि वस्तुएँ आती हैं जिन पर राज्य-सरकार द्वारा अन्य अधिनियमों के अन्तर्गत पर्याप्त कर लगाये जाते हैं।

तीसरी कोटि के अन्तर्गत खद्दर, हाथ के कर्घों से बुने कपड़े, हाथ से बनाये गये कागज, घानी के तेल, कच्चे तथा सिझाये हुए चमड़े, सूत आदि आते हैं। इनकी बिक्री-पर बिक्री-कर इसलिए नहीं लगाया जाता कि कुटीर-उद्योगों को प्रोत्साहन मिल सके। चौथी कोटि के अन्तर्गत पाठ्य पुस्तकें, धर्मग्रन्थ, हाथ से बनाये हुए कृषि के औजार, पशुओं की खाद्य-सामग्री, खाद, विशेष प्रकार की औषधियां आदि आती हैं।

बिक्री-कर से छूट की उपर्युक्त सूचियां सभी राज्यों की बिक्री कर से छूट सम्बन्धी औसत स्थिति प्रगट करती हैं। अलग-अलग राज्यों में छूट की सूचियां अलग-अलग है। मद्रास में केवल नमक, खद्दर और हाथ के कर्घे के सूत पर बिक्री-कर से छूट दी जाती है। छूट की सबसे अधिक संख्या राज्य पुनर्गठन के पूर्व तक सौराष्ट्र में थी जहां साठ से भी अधिक वस्तुओं की बिक्री पर छूट दी जाती थी। कुछ राज्यों में कुछ वस्तुओं पर कम दर से बिक्री-कर लगाकर आंशिक छूट देने की व्यवस्था की जाती है। कुछ विशेष प्रकार की संस्थाओं, संघों अथवा सरकारी विभागों को की जाने वाली बिक्री को बिक्री-कर से मुक्त रखा जाता है। निर्यात की जा सकने वाली वस्तुओं को भी बिक्री-कर से आंशिक छूट देने की व्यवस्था की जाती है।

विलासिता की सामग्रियों पर अधिक बिक्री-कर

जैसे आवश्यक वस्तुओं और कच्चे मालों को पूर्ण अथवा आंशिक रूप से बिक्री-कर से छूट दी जाती है उसी प्रकार ऐसी वस्तुओं पर जिनका उपभोग सम्पन्न वर्ग करता है, ऊंची दर से बिक्री-कर लगाया जाता है। ऐसी वस्तुओं में मोटर गाड़ियां और उनके सामान, शीतकारी और तापमान-नियंत्रक यंत्र, रेडियो, ग्रामो फोन, विभिन्न प्रकार के कैमरे और उनके सामान, बिजली के सामान और औजार, फाउन्टेन पेन, घड़ियां, लोहे और इस्पात की तिजोरियां और फर्नीचर, विविध शस्त्रास्त्र, प्रसाधन की सामग्रियां, आदि आती हैं। इन पर विभिन्न राज्यों मे

बिक्री-कर की ऊंची दरें लागू होती हैं। बिक्री-कर की ये दरें नौ पाई प्रति रुपये से चौबीस पाई प्रति रुपये तक रही हैं।

बिक्री-कर के विविध प्रकार

जैसा कि बिक्री-कर के विकास के क्रम में स्पष्ट किया गया है, देश के विभिन्न राज्यों में समान ढंग से बिक्री-कर नही लगता। कुछ जगह एक स्तरीय बिक्री-कर, कुछ जगह द्विस्तरीय बिक्री-कर, कहीं बहुस्तरीय बिक्री-कर और कही-कहीं कुछ चुनी हुई वस्तुओं पर ही बिक्री-कर लगता है। कुछ राज्यों में क्रय पर कर लगाया जाता है। संविधान के अनुसार राज्यों को क्रय और विक्रय दोनों पर कर लगाने का अधिकार है। केवल वस्तुओं के ही क्रय अथवा विक्रय इस अधिकार के आधार पर करारोपित हो सकते है। सेवाओं के क्रय अथवा विक्रय करारोपित नहीं किये जा सकते।

बिक्री-कर के उपर्युक्त विविध रूपों और उनके समकक्ष क्रय-कर की संक्षिप्त व्याख्या यहाँ उचित है।

एकस्तरीय बिक्री-कर

सामान्य बिक्री-कर के अन्तर्गत एकस्तरीय और बहुस्तरीय दो प्रकार के प्रमुख बिक्री-कर आते है। एकस्तरीय बिक्री-कर लगाने का प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि अन्तिम उपभोक्ता को जिस कीमत पर वस्तु मिले उसमे विभिन्न स्तरों पर बिक्री-कर के कारण अतिरिक्त राशियां अधिक न जुटी हों। वस्तु के प्रथम व्यवसायी से लेकर अन्तिम विक्रेता तक उसका कई बार विक्रय होना स्वाभाविक है। प्रत्येक बार के विक्रय पर अलग-अलग कर न लगा कर किसी एक ही स्तर पर बिक्री-कर लगाना एकस्तरीय बिक्री-कर के नाम से पुकारा जाता है। एकस्तरीय बिक्री-कर की दर प्रायः ऊंची रखी जाती है और इसमें आवश्यक वस्तुओं, जैसे-खाद्यान्नों और सस्ते कपड़ों को छूट भी अधिक दी जाती है। वस्तु की बिक्री के विभिन्न स्तरों पर पर्याप्त हिसाब-किताब रखना भी आवश्यक हो जाता है ताकि यह सरलता से निश्चित हो सके कि विक्रयों की शृखला के किस स्तर पर बिक्री-कर लगा है।

द्विस्तरीय बिक्री-कर

एकस्तरीय बिक्री-कर की तरह द्विस्तरीय बिक्री-कर भी नियंत्रित बिक्री-

कर-भार-पद्धति पर ही आधारित है। इसमें प्रथम विक्रेता से अन्तिम विक्रेता तक होने वाली बिक्रियों की श्रृंखला में दो स्तरों पर बिक्री कर लगाने की व्यवस्था की जाती है। करारोपण का क्रम ऐसा रखा जाता है कि प्रारम्भ से अन्त तक की सम्पूर्ण श्रृंखला पर बिक्री-कर का नियत भार पड़ सके। प्रथम स्तर पर बिक्री-कर की जो मात्रा वसूली गयी रहती है, दूसरे स्तर पर उसके अतिरिक्त बिक्री-कर के कुल भार का शेष लगा दिया जाता है। दो बार करारोपण का यह क्रम प्रायः बिक्री-श्रृंखला के प्रारम्भ और अन्त पर ही केन्द्रित रखा जाता है।

नियन्त्रित बिक्री-कर-भार-पद्धति के उपर्युक्त दोनों प्रकार प्रायः उन्ही परिस्थितियों में प्रयुक्त होते हैं जहाँ वस्तुओं की बिक्री-श्रृखला छोटी होती है और प्रारम्भिक व्यवसायी से लेकर अन्तिम विक्रेता के बीच के व्यवसायियों की संख्या पूर्व निश्चित रहती है।

बहुस्तरीय बिक्री-कर

बिक्री-कर की इस पद्धति को प्रायः उन वस्तुओ के सम्बन्ध में विशेषतः लागू किया जाता है जहां यह निश्चित करना सम्भव नही होता कि प्रथम व्यवसायी से उपभोक्ता तक पहुंचने में कितनी बार वस्तु की खरीद-बिक्री हुई। प्रत्येक विक्रेता को वस्तु की बिक्री पर निश्चित दर से कर देना ही होता है। इसके पहले वाले व्यवसायी द्वारा बिक्री-कर दिया गया है अथवा आगे वाले व्यवसायी द्वारा बिक्री-कर दिया जायगा, इससे प्रस्तुत व्यवसायी का बिक्री-कर-दायित्व तनिक भी प्रभावित नही होता। यही कारण है कि बहुस्तरीय बिक्री-कर-पद्धति मे वस्तुओ की बिक्री-श्रृखला के विभिन्न स्तरों पर बिक्री सम्बन्धी विवरणो की यथार्थता और पर्याप्तता पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। प्रत्येक व्यवसायी से उसके द्वारा की गयी विक्रियो का पूर्ण हिसाब प्राप्त किया जाता है और उसी पर नियत दर से कर लगाया जाता है।

इस पद्धति के अन्तर्गत एकस्तरीय बिक्री-कर-पद्धति की तुलना में कर की दर कम रखी जाती है। उन परिस्थितियों में जहाँ उपभोग की अधिकांश वस्तुएँ करारोपित होने वाली है अथवा जहां कई व्यवसायियो पर एक ही साथ कर लगाया जाने वाला है, बिक्री-कर की बहुस्तरीय पद्धति ही विशेष उपयुक्त मानी जाती है। यही कारण है कि बहुस्तरीय पद्धति का प्रयोग राज्य सरकारों के बिक्री-कर लगाने के उद्देश्यों पर बहुत कुछ निर्भर होता है।

चुनी हुई वस्तुओं पर बिक्री-कर

अब तक बिक्री-कर के जो रूप स्पष्ट किये गये हैं वे सामान्य बिक्री-कर के अन्तर्गत आते हैं जिन्हें पंजीकृत व्यवसायियों की कुल बिक्री पर लगाया जाता है। इस प्रकार कर लगाने में राज्य-सरकार को पर्याप्त सुविधा होती है क्योंकि इसमें व्यवसायियों द्वारा की जाने वाली बिक्री पर बिक्री-कर लगता है। सामान्य बिक्री-कर के विपरीत चुनी हुई वस्तुओं पर लगाया जाने वाला बिक्री-कर अलग-अलग वस्तुओं की बिक्री पर लगाया जाता है। बिक्री-कर के लिए वस्तुओं का चुनाव उनकी मांग की लोच और राजस्व की आवश्यकता के अनुसार किया जाता है। समय-समय पर इनकी संख्या में परिवर्तन लाना भी सरल होता है।

क्रय-कर

जैसा कि बिक्री-कर के विकास के सम्बन्ध में स्पष्ट किया गया है, भारत के कुछ राज्यों में क्रय पर कर लगाया जाता है। क्रय-कर के विश्लेषण के क्रममें बिक्री-कर से क्रय-कर का अन्तर समझना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में केवल इतना कह देना पर्याप्त नहीं होगा कि बिक्री पर लगने वाला कर बिक्री-कर है और क्रय पर लगने वाला कर क्रय-कर है। एक ही व्यवहार एक पक्ष के लिए क्रय हो जाता है तथा वही दूसरे के लिए विक्रय होता है। जिस प्रकार व्यवसायियों द्वारा लाभ के उद्देश्य से किये जाने वाले विक्रयों पर बिक्री-कर लगाये जाते है, उसी प्रकार व्यवसायियों द्वारा पुनः बेचे जाने के उद्देश्य से किये जाने वाले क्रयों पर लगने वाले कर को क्रय-कर के नाम से पुकारते हैं। व्यवसायियों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों द्वारा निजी व्यवहार के लिए किये जाने वाले क्रयों को क्रय-कर के अन्तर्गत नहीं रखा जाता। केवल कुछ राज्यों में उपभोग के लिए खरीदी जाने वाली महंगी और विलासिता की सामग्रियों पर भी क्रय-कर लगाया जाता है। क्रय-कर को इस प्रकार व्यवसायियों के कुल क्रय की राशि पर लगने वाला कर कहा जा सकता है। इसमें क्रय की गयी वस्तु का विक्रय हुआ अथवा नही, इसके विषय में कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता।

बिक्री की तरह क्रय में भी कई स्तर हो सकते हैं और वस्तु-विशेष के क्रयों की शृंखला बँध सकती है। प्रशासन की सुविधा के लिए क्रय-कर कुछ इस प्रकार के व्यवहारों पर लगाया जाता है जिनके क्रेताओं का निश्चय सरलता से हो सके। विक्रय की अपेक्षा क्रय की मात्रा का निश्चय भी अधिक सरलता से हो सकता है।

कभी कभी बिक्री-कर ठीक ढंग से लगाने के लिय भी क्रय-कर लागू किया जाता है ताकि यह आसानी से निश्चित हो सके कि किसी विशेष व्यवसायी द्वारा किये गये कुल क्रयों में से कितनी बिक्री हुई और किस दर पर। कुछ विशेष प्रकार के व्यवसायों में कुल क्रय का लेखा विक्रय के लेखे की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और पूर्ण ढंग से रखा जाता है। इससे करदायित्व का सही निर्धारण हो सकना सम्भव हो जाता है। कुछ राज्यों में व्यवसायियों से विक्रय की अपेक्षा क्रय का खाता दिखाने को ही कहा जाता है। कुल बिक्री में से क्रय की कुल राशि घटाकर शेष पर कर लगाया जाता है।

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट है कि क्रय-कर का बिक्री-कर से घनिष्ठ सम्बन्ध है और यही कारण है कि कई राज्यों में बिक्री-कर और क्रय-कर को साथ-साथ लगाने की व्यवस्था की जाती है।

बिक्री-कर लगाने की पद्धति

सभी राज्यों में बिक्री-कर प्रशासन के लिए व्यवसायियों के पंजीकरण की व्यवस्था अपनायी जाती है। पंजीकरण के लिए अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग नियम बनाये गये हैं। एक नियत सीमा से अधिक बिक्री करने वाले व्यवसायियों को अनिवार्यतः पंजीकृत होना पड़ता है। व्यवसायियों का तात्पर्य उन व्यक्तियों से है जो राज्य-विशेष मे कई अथवा कुछ वस्तुओं की बिक्री अथवा पूर्ति करते हैं। सहकारी समितियां, क्लब अथवा ऐसे संघ भी, जो अपने सदस्यों तक ही वस्तुओं का विक्रय सीमित रखते हैं, बिक्री-कर-अधिनियम के अन्तर्गत व्यवसायियों की कोटि में आते हैं। कुछ राज्यों के बिक्री-कर-अधिनियम के अन्तर्गत राज्य-सरकार, केन्द्रीय सरकार तथा स्थानीय सरकारों को भी व्यवसायियों की कोटि मे रखा जाता है और उनके द्वारा की जाने वाली बिक्रियों पर बिक्री-कर लगाया जाता है।

पंजीकृत व्यवसायियों को अपनी कुल बिक्री के सम्बन्ध में यह विवरण तैयार करना पड़ता है कि कुल बिक्री का कौन-सा अंश अन्य पंजीकृत व्यवसायियों को बेचा गया और कितना अंश अपंजीकृत व्यवसायियों को बिका। पंजीकृत व्यवसायियों को की जाने वाली बिक्री पर प्रायः बिक्री-कर से छूट दी जाती है।

प्रत्येक पंजीकृत व्यवसायी को नियत अवधि के भीतर अपनी बिक्री का पूर्ण विवरण, करारोपित होने वाली बिक्री की राशि तथा उस पर नियत दर से देय

बिक्री-कर सरकारी खजाने में जमा करने की रसीद के साथ बिक्रीकर अधिकारी के यहां भेजना पड़ता है। बिक्री-सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण बिक्री-कर अधिकारी के पास भेजने का क्रम अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग है। कुछ राज्यों में इसे तीन महीने पर, कुछ में छः महीने पर और कुछ में प्रत्येक महीने भेजने की व्यवस्था है।

बिक्री-करारोपण

बिक्री-कर का आरोपण प्रायः वित्तीय वर्ष के आधार पर संपूर्ण वर्ष के लिए किया जाता है। कुछ राज्यों में करारोपण की अवधि उन व्यवसायियों के सम्बन्ध में कम रखी जाती है जिनसे कर-वंचन की सम्भावना अधिक रहती है। बिक्री-कर-अधिकारी व्यवसायियों द्वारा दिये हुए विवरणों की शुद्धता और पूर्णता से सन्तुष्ट होने पर उसी के आधार पर करारोपण करते हैं। लेकिन जहां बिक्री सम्बन्धी पूर्ण विवरण सुलभ नहीं होते अथवा प्रस्तुत विवरणों के सम्बन्ध में अविश्वास हो जाता है वहां बिक्री-कर-अधिकारी व्यवसायियों पर अपने उचित निर्णय के आधार पर करारोपण करते हैं। यदि किसी व्यवसायी ने जान-बूझकर अपना बिक्री-सम्बन्धी उचित विवरण प्रस्तुत नही किया है तो बिक्री-कर-अधिकारी ऐसी परिस्थितियों में बिक्री-कर-निर्धारण के लिए व्यवसायी से आवश्यक खाता-पुस्तकें और अन्य विवरण-पत्र मँगा सकता है, ताकि वास्तविकता के अनुरूप कर-निर्धारण हो सके। खाता-पुस्तकों के अभाव में बिक्री-कर-अधिकारी अन्य सुलभ प्रमाणों जैसे पिछले वर्ष के कर-निर्धारण, व्यवसायी की आर्थिक स्थिति, अन्य व्यवसायियों द्वारा उसको की हुई बिक्रियों आदि के आधार पर प्रस्तुत वर्ष के लिए कर-निर्धारण कर सकते है।

अधिक-कर वापसी का अधिकार

कर-निर्धारण के पश्चात् यदि यह विदित होता है कि करदाता व्यवसायी ने निर्धारित कर-राशि से कम कर जमा किया है तो शेष राशि नियत अवधि में जमा करने की उसे सूचना दी जाती है। अन्य करों की तरह बिक्री कर मे भी यदि निर्धारित कर से अधिक राशि किसी व्यवसायी द्वारा पहले जमा कर दी गयी है तो अधिक जमा की गयी राशि के सम्बन्ध में वापसी का संवैधानिक अधिकार उसे प्राप्त रहता है।

अपील का अधिकार

कर-निर्धारण में यदि व्यवसायी कोई दोष पाता है अथवा वह उसके विरुद्ध किसी प्रकार की कार्यवाही करना चाहता है तो उसे ऊंचे अधिकारियों के यहाँ अपील करने की स्वतन्त्रता दी गयी है। कुछ राज्यों में अपीलेट ट्रिब्युनल-जैसी अर्ध न्यायिक संस्थाएँ होती हैं जो बिक्री-कर-निर्धारण के सम्बन्ध में अंतिम अपील सुनती हैं। अन्य राज्यों में राजस्व परिषदों (रेवेन्यू बोर्ड) अथवा वित्तीय आयुक्त-जैसे अन्य ऊंचे अधिकारी अन्तिम अपील सुनते हैं। बिक्री-कर से सम्बन्धित कानूनी तथ्यों के बारे में उच्च न्यायालय में भी अपील की जा सकती है। अपील के लिए संबंधित राज्यों के बिक्री-कर-अधिनियम में दिये हुए नियमों की पूर्ति आवश्यक होती है।

सापराध कार्यों के लिए दण्ड-व्यवस्था

बिक्री-कर-अधिनियमों के अन्तर्गत सामान्यतः कुछ अपराध उल्लिखित हैं जिन पर दण्ड देने की व्यवस्था है। उनमें पंजीकरण के बिना अथवा अनुज्ञापत्र के बिना व्यवसाय चलाना, उचित अवधि में बिक्री का विवरण-पत्र प्रस्तुत न करना अथवा गलत विवरण-पत्र प्रस्तुत करना, देय-कर का भुगतान न करना, गलत बहियों, प्रलेख अथवा सूचनायें देना, बिक्री-कर-अधिकारियों द्वारा की जाने वाली जाँच में बाधा पहुंचाना आदि ऐसे अपराध कार्य हैं जिनके लिए कुछ राज्यों में कारावास और कुछ में आर्थिक दण्ड दिये जाते हैं। आर्थिक दण्ड देने का प्रचलन ही विशेष है।

राज्यों की वित्त-व्यवस्था में बिक्री-कर का महत्त्व

जैसा कि प्रारम्भ में संकेत किया गया है, आजकल राज्यों की वित्त-व्यवस्था के अन्तर्गत बिक्री-कर का महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया है। उनके कुल राजस्व में भू-राजस्व के पश्चात् बिक्री-कर की प्राप्ति का ही स्थान है। बम्बई, मद्रास और बंगाल में भू-राजस्व की अपेक्षा बिक्री-कर ही अधिक महत्त्वपूर्ण राजस्व स्रोत है। सन् १९५७-५८ में सभी राज्यों में बिक्री-कर से १०७ करोड़ ३७ लाख रुपये प्राप्त हुए थे जबकि कुल करों से उनकी आय ४६९ करोड़ ५१ लाख रुपये रही। सन् १९५८-५९ के संशोधित अनुमानों के अनुसार बिक्री-कर की कुल प्राप्ति ५७ करोड़ ७१ लाख रुपये रही। सन् १९५९-६० के बजट के अनुसार

कुल राज्यों में बिक्री-कर से १०० करोड़ ८४ लाख रुपये प्राप्त होने की सम्भावना थी। सन् १९५४-५५ में विभिन्न राज्यों में सामान्य बिक्री-कर से लगभग ६६ करोड़ ३९ लाख रुपये प्राप्त हुए थे जबकि बजट में इस मद से केवल ५७ करोड़ रुपये प्राप्त होने का अनुमान किया गया था। इसमें ४७ करोड़ ९४ लाख रुपये "ए" वर्ग के राज्यों से, ८ करोड़ १९ लाख रुपये "बी" वर्ग के राज्यों से तथा १ करोड़ ३२ लाख रुपये "सी" वर्ग के राज्यों से प्राप्त होने की सम्भावना थी। इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि प्रतिवर्ष बिक्री-कर से सुलभ होने वाले राजस्व में लगातार वृद्धि होती रही है।

राज्यों को बिक्री-कर से सुलभ होने वाले राजस्व की दृष्टि से ही इसका महत्त्व नहीं है, बल्कि आवश्यकता के अनुसार इसमें परिवर्तन लाने की सुविधा भी इसे विशेष महत्त्वपूर्ण बना देती है। प्रारम्भ से लेकर अबतक जितने परिवर्तन बिक्री-कर के अन्तर्गत आवश्यकतानुरूप राजस्व बढ़ाने की दृष्टि से किये गये हैं, उतने सम्भवतः आय-कर और उत्पादन-शुल्क को छोड़कर अन्य किसी भी केन्द्रीय अथवा राज्य-कर में नहीं हुए होंगे। इन्हीं कारणों से कुछ ही समय में बिक्री-कर का स्थान राज्यों की राजस्व व्यवस्था के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा है।

उत्तर प्रदेश में बिक्री-कर

उत्तर प्रदेश में पहली अप्रैल, सन् १९४८ से बिक्री-कर का प्रारम्भ बहुस्तरीय आधार पर किया गया। पन्द्रह हजार रुपये से अधिक वार्षिक बिक्री करने वाले व्यवसायियों पर इसे लगाने की व्यवस्था की गयी। खाद्यान्नों, दाल, आटा, गुड़, मछली, नमक, खाद, कोयला, मिट्टी का तेल, घानी के तेल, कागज आदि बिक्री-कर से पूर्णतः मुक्त रखे गये। कुछ वस्तुओं पर एकस्तरीय आधार पर ३ पाई और ६ पाई प्रति रुपये की दर से बिक्री-कर लगाया जाने लगा और कुछ पर ९ पाई तथा एक आना प्रति रुपये की दर से बिक्री-कर लगाया जाने लगा। उसी वर्ष के सितम्बर महीने में बिक्री-कर की ९ पाई प्रति रुपये तथा एक आने प्रति रुपये की ऊंची दरें, घटाकर ६ पाई प्रति रुपये की दर में परिवर्तित कर दी गयीं।

सन् १९५२ में बिक्री-कर की दरों में कुछ और परिवर्तन किये गये। बीड़ी, दियासलाई, जूट से बने सामानों और खांडसारी शक्कर पर ६ पाई प्रति रुपये की दर से एकस्तरीय बिक्री-कर लगाया जाने लगा, जबकि सिगार, सिगरेट और नली

से पिये जाने वाले तम्बाकू पर बिक्री कर की दर ९ पाई प्रति रुपये ही रखी गयी।

सन् १९५३ में दाने वाली चीनी पर बिक्री कर की दर छः पाई प्रति रुपये कर दी गयी। आजकल बिक्री-कर-अधिनियम का जो रूप लागू है वह सन् १९५६ का संशोधित अधिनियम है। इसके अन्तर्गत १२ हजार रुपया अथवा अधिक की वार्षिक बिक्री करने वाले व्यवसायियों को अनिवार्यत. पंजीकृत होना पड़ता है। पंजीकरण का शुल्क दस रुपये है। कुल बिक्री की मात्रा निर्धारित करते समय उन वस्तुओं की बिक्री को भी सम्मिलित किया जाता है जिन्हें अधिनियम की धारा ४ के अन्तर्गत बिक्री-कर से छूट मिलती है।

बिक्री-कर-अधिनियम के अनुसार इस राज्य मे एकस्तरीय और बहुस्तरीय दोनों प्रकार के बिक्री-कर लगते हैं। उत्तर-प्रदेश के बाहर से जो भी एकस्तरीय बिक्री-कर अथवा बहुस्तरीय बिक्री-कर वाले सामान मगाये जाते है उन पर बिक्री-कर लगाया जाता है। एकस्तरीय बिक्री-कर कुछ वस्तुओ पर एक नये पैसे प्रति रुपये और कुछ पर दो नये पैसे प्रति रुपये और कुछ पर तीन नये पैसे प्रति रुपये की दर से लगता है। खाँडसारी, शीरा, खाद, धोने का साबुन, ऊन के बने हुए सभी प्रकार के सूत, साइकिल, बच्चों की गाड़िया और उनके हिस्सो तथा सामानो, जूट से बने हुए सामानो, सिझाये हुए चमड़ों पर तीन नये पैसे प्रति रुपये की दर से एकस्तरीय बिक्री-कर लगता है। भाग, गाजा, अफीम, खाँडसारी चीनी, देशी स्पिरिट पर खुदरा विक्रेताओं के हाथ एक आना प्रति रुपये की दर से एकस्तरीय बिक्री-कर लगता है। औषधियों, आटा, मैदा और सूजी पर १.५६ प्रति सैकड़ा की दर से बिक्री-कर लगता है। धातुओं पर बहुस्तरीय बिक्री-कर लगाया जाता है। सोने, चाँदी पर सभी स्तरों को मिला कर बहुस्तरीय बिक्री-कर २५ प्रति सैकड़ा की दर से लगाया जाता है। ताँबा, टिन, निकल, जस्ता और इस प्रकार की अन्य मिश्रित धातुओं पर ५० नये पैसे प्रति सैकड़े की दर से बहुस्तरीय बिक्री-कर लगता है।

यदि राज्य का कोई व्यवसायी उत्तर प्रदेश के बाहर सामान भेजता है तो उसे केन्द्र-सरकार द्वारा लगाये जाने वाला बिक्री-कर देना होता है। जो व्यवसायी अपनी पंजीयन संख्या बताकर उचित विधि के अनुसार सामान बाहर भेजते हैं उन्हें यह केन्द्रीय बिक्री-कर एक प्रति सैकड़ा की दर से देना होता है। लेकिन जो वैधानिक विधि को बिना पूरा किये हुए बाहर सामान भेजते हैं उन्हें पहली अक्टू-

बर, १९५८ से सात प्रति सैकड़ा की दर से बिक्री-कर देना होता है। राज्य के बाहर भेजे जाने वाले सामान पर केन्द्रीय बिक्री-कर लगाने का यह क्रम पहली जुलाई, सन् १९५७ से प्रारम्भ किया गया है। इसके लिए व्यवसायियों को केन्द्रीय बिक्री-कर अधिनियम के अन्तर्गत पंजीयन कराना आवश्यक होता है।

उत्तर प्रदेश के बिक्री-कर-अधिनियम की धारा ९ के अन्तर्गत कर-निर्धारण सम्बन्धी जो भी आज्ञा बिक्री-कर-अधिकारी द्वारा जारी की जाती है उसके विरुद्ध आज्ञा पाने के ३० दिनों के भीतर बिक्री-कर-न्यायाधीश के न्यायालय में अपील की जा सकती है। यदि अपील सुनने वाला न्यायाधीश उसे सुनने से इन्कार कर देता है तो इन्कार के १२० दिनों के भीतर उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।

बिक्री-कर-अधिनियम के अन्तर्गत बिक्री-सम्बन्धी गलत विवरण देना, अथवा उचित समय पर बिक्री सम्बन्धी विवरण देने अथवा बिक्री-कर जमा करने में असफल होना, अथवा खाता-पुस्तकों की उचित जॉच किये जाने में बाधा पहुँचाना सापराध कार्य माने जाते हैं। इनके लिए एक हजार रुपये तक आर्थिक दण्ड लगाया जा सकता है। अवधि सम्बन्धी सापराध कार्यो का क्रम जितने दिनों तक चलता रहता है उतने दिनों के लिए ५० रुपये प्रतिदिन की दर से और आर्थिक दण्ड लगाने की व्यवस्था है।

यदि बिक्री-कर लगाने वाले अधिकारियों को यह विश्वास हो जाय कि किसी वर्ष बिक्री की कुछ मात्रा करारोपित होने से छूट गयी है तो ऐसी स्थिति में उसकी सूचना उस व्यवसायी को देकर उस पर पुनः कर लगाने की व्यवस्था की जा सकती है।

उत्तर प्रदेश में प्रयुक्त बिक्री कर-अधिनियम के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि बिक्री-कर का प्रशासन किस ढंग से इस राज्य में किया जाता है। यह बिक्री-कर के व्यावहारिक रूप का एक उदाहरणमात्र है।

अध्याय १५

उपसंहार

राजवित्त और तत्सम्बन्धी नीति के अन्तर्गत नये क्रम

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत के राजवित्त का क्षेत्र बहुत अधिक बढ़ गया है। देश की आर्थिक नीति दो बड़े उद्देश्यों से अनुप्राणित है। एक तो राष्ट्र के सभी साधनों के उपयोग द्वारा जनसाधारण का जीवन-स्तर उठाना है; दूसरे, सामाजिक स्थिति न्याय-संगत रखनी है। ये उद्देश्य भारतीय संविधान में वर्णित राज्यनीति के निर्देशक सिद्धान्तों पर आधारित है, जिनके अनुसार सरकार को सभी नागरिकों के लिए अवसर की समानता देना तथा उनके कार्य करने और उचित पारिश्रमिक पानेके अधिकार सुरक्षित रखना आवश्यक है। संविधान का लक्ष्य कल्याणमय राज्य की स्थापना है जिसके लिए पचवर्षीय आयोजनों का प्रारम्भ किया गया है। देश की भावी आर्थिक स्थिति आयोजनों की सफलता पर निर्भर है। आयोजनों के संचालन-क्रम में सरकार का कार्य-क्षेत्र बहुत ही विस्तीर्ण हो गया है। इससे सरकारी वित्त-व्यवस्था पर चार प्रकार के प्रभाव पड़े हैं— सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक व्ययों के बढ़ने के कारण अतिरिक्त राजस्व की आवश्यकता बहुत बढ़ गयी है। दूसरे, प्रशासन-क्रम में कुशलता और मितव्ययिता लाने के लिए भारत सरकार और राज्य-सरकारों के बीच कार्यो का विभाजन हुआ है। तीसरे, कार्यो के बटवारा होने से केन्द्र और राज्य सरकार की आवश्यकताओंके अनुरूप राजस्व की व्यवस्था अनिवार्य हो गयी है। चौथे अतिरिक्त राजस्व एकत्र करने का दायित्व राज्य सरकारों को भी सौंपा गया है ताकि वे राजस्व सबंधी अपनी आवश्यकता कुछ अशों में स्वयं पूर्ण कर सकें।

भारतीय संविधान के बन जाने के बाद से यहाँ की संघीय वित्त व्यवस्था के क्षेत्र में भी विशेष परिवर्तन हुए हैं। ये परिवर्तन निम्नलिखित तीन प्रकार के है :—

१. १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत जिन संवैधानिक सीमाओं के बीच

वित्त-व्यवस्था का संचालन हो रहा था नये संविधान में उन्हें समाप्त कर दिया गया।

२. सरकार के आर्थिक कार्यों में अपूर्व परिवर्तन लाया गया।

४. भारत संघ में देशी रियासतों के विलयन से राष्ट्र में आर्थिक एकता आ गयी।

भारतीय संविधान केन्द्रीयकृत संघीय संविधान है। इसकी वित्तीय व्यवस्थाओं ने केन्द्र को बहुत अधिक सुदृढ़ बना दिया है। देश की नयी राजनीतिक व्यवस्था में विग्रहात्मक प्रवृत्तियों को रोकने के लिए केन्द्र को सुदृढ़ बनाना आवश्यक भी रहा है। अपनी साधन संबंधी सीमाओं के कारण राज्यों को वित्तीय योग के लिए सदा केन्द्र पर निर्भर रहना पड़ता है। इसलिए सभी महत्त्वपूर्ण वित्तीय और राजनीतिक मामलों में केन्द्र सरकार की सलाहों को मानना राज्य-सरकारों के लिए आवश्यक हो जाता है।

स्वतन्त्रता के बाद से सरकार की राजकोषीय नीति भी बहुत परिवर्तित हो चुकी है। पहले संतुलित बजट रखने का प्रयास किया जाता था। सरकारी व्यय की दर काफी नीची रहती थी और कर बहुत हलके रखे जाते थे। लेकिन स्वतन्त्रता के बाद से ही विकास संबंधी कार्यक्रमों को चलाने के लिए सरकारी व्ययों में पर्याप्त वृद्धि की गयी। उसी के अनुसार राजस्व बढ़ाने के लिए भी प्रयास किये जाने लगे। परिणामस्वरूप बजट के आगम वाले हिस्से से पर्याप्त बचत निकलने लगी जिसका उपयोग पूंजी-व्यय के लिए किया जाता है।

देश में पंचवर्षीय आयोजनों के प्रारंभ से सरकारी क्षेत्र के व्ययों की मात्रा और प्रकृति में बहुत अधिक परिवर्तन हुए हैं। केन्द्र सरकार, राज्य सरकारों तथा रेलवे प्रशासन द्वारा विकास पर किये जाने वाले व्ययों में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। इनमें बहूपयोगी नदी-घाटी-योजनाएँ, सिचाई, बिजली-उत्पादन, गृह-निर्माण, औद्योगिक विकास तथा भू-प्रशासन में आमूल परिवर्तन करने के व्यय प्रमुख है। सरकारी क्षेत्र में विकास संबंधी कार्य-क्रमों के बढ़ते जाने से अब यह आवश्यक हो गया है कि सरकारी संस्थाओं के लिए अलग से व्यावसायिक बजट तैयार कराये जायँ।

कृषि के विकास तथा कृषकों की आर्थिक स्थिति के सुधार पर पर्याप्त व्यय हो रहे हैं। उत्पादन बढ़ाने के नये तरीके प्रचलित किये जा रहे हैं। सह-कारिता-आन्दोलन का क्षेत्र बढ़ा दिया गया है। इनसे कृषकों के ऋणों की समस्या

ही नहीं सुलझायी जाती, बल्कि उन्हें अपनी खेती को और अधिक उपयोगी बनाने के लिए सहायक साधन भी इन समितियों की मध्यस्थता से उपलब्ध किये जाते हैं। शिक्षा, जन-स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि पर भी उचित व्यय किये जा रहे हैं। लेकिन विपन्न, भूखे और रोगों से आक्रान्त लाखों भारतीयों को सुखी और संपन्न बनाने के लिए और अधिक प्रयास आवश्यक है।

विकास की कुछ प्रमुख बाधाएँ

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या समृद्धि लाने के लिए आवश्यक प्रयास सम्भव है? यद्यपि सरकार की वित्त-व्यवस्था में परिवर्तन हुए हैं, लेकिन सामाजिक सेवा के विकास में पायी जाने वाली बाधाएँ पूर्ववत् हैं। राजवित्तीय समस्याओं की जटिलता भी ज्यों की त्यों है। केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच वित्तों का पुनर्विभाजन अथवा नये करों का प्रयोग मात्र ही विशाल जन-समूह में आर्थिक उन्नति नही ला सकता। इसके कुछ विशेष कारण है।

लगभग सवा प्रतिशत वार्षिक की दर से बढ़ती हुई जनसंख्या विकास का क्रम बढ़ाने मे पूर्णतः बाधक बनी रहती है। जबतक जन-संख्या की सतत वृद्धि रोकी नही जाती, सर्वसाधारण को सुखी नही बनाया जा सकता; क्योकि विकास के क्रम में जो भी राष्ट्रीय आय बढ़ती है वह व्यक्ति का जीवन स्तर उठाने में पूर्णतः नही लग पाती; बढ़ी हुई जनसंख्या के भरण-पोषण मे ही उसका उपयोग हो जाता है।

भारत में सरकार की शक्ति के विषय में भी अनुचित अनुमान किये जाते है। जनता में समाज-सेवा की प्रवृत्ति न होने से सभी सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य-क्रम सरकार द्वारा चलाये जाते हैं। विशाल जन-संख्या वाले देश में अधिक से अधिक सुदृढ़ वित्त-व्यवस्था वाली सरकार भी जनता के सहयोग के बिना समाजोत्थान-क्रम को शीघ्रगामी नहीं बना सकती। यदि राष्ट्रीय नेता समाजोत्थान के लिए सक्रिय प्रयास करें तो भारत की वर्तमान आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ सुलझ सकती हैं। अन्य देशों में समाज-उत्थान संबंधी बहुत-से कार्य जनता द्वारा कर लिये जाते हैं। भारत में भी जब तक जनता और जननेता इस दिशा में प्रयत्नशील न होंगे और समाजोत्थान को अपना दायित्व नहीं समझेंगे तब तक केवल सरकारी व्यय बढ़ा देने मात्र से विशेष सफलता की आशा नहीं है।

राष्ट्र की कर-व्यवस्था में स्थानीय अधिकारियों और उनके प्रयत्न को उचित महत्त्व नहीं दिया गया है। स्थानीय अधिकारी भी अपने वित्तीय साधनों का उचित विकास नहीं कर सके हैं और न ही उन्होंने सामाजिक सेवाओं के संगठन और विकास में अपने दायित्व को निभाना प्रारम्भ किया है। शिक्षा, जन-स्वास्थ्य, चिकित्सा, ग्रामीण तथा नागरिक क्षेत्रों में परिवहन के साधनों की व्यवस्था तथा सुधार स्थानीय स्रोतों के उपयोग से नहीं, बल्कि सरकारी राजस्व के योग से चलते रहे हैं। इसीलिए स्थानीय करों को ज्यों का त्यों छोड़ दिया गया है और सरकार की कर-व्यवस्था में ही विशेष सुधार तथा फैलाव किया गया है। इस प्रकार समाज-सेवाओं के पुनर्गठन तथा विकास संबंधी कार्यक्रमों को बड़े ही संकीर्ण आधारों पर चलाया जा रहा है। स्थानीय सहयोग का अभाव ही सामाजिक सेवाओं की प्रगति की विशेष बाधा रही है। जब तक इन तीनों सीमाओं को हटाया नही जायगा तब तक सरकारी वित्त के प्रयोग मात्र से देश के विकास का क्रम तीव्रगामी नही हो सकता।

सरकारी वित्त-व्यवस्था में किस प्रकार का विकास सम्भव है?

भारत में विशाल उद्योगों तथा देशी और विदेशी व्यापार का प्रसार होने पर भी यहाँ की लगभग दो तिहाई जनता कृषि पर निर्भर है। यही कारण है कि सरकार और कृषकों के सम्बन्ध को प्रभावित करने वाली भूमि-नीति का जितना महत्त्व देश में है उतना महत्त्व छोटे-बड़े उद्योगों को प्रोत्साहन देने वाली व्यावसायिक अथवा शुल्क-दर नीति का नहीं है। जमींदारी उन्मूलन मात्र से कृषकों की स्थिति नहीं सुधर सकती। उनके लिए भूधृति की सुरक्षा तथा कृषि-कार्य-संचालन की स्वतंत्रता आवश्यक है, तभी कृषकों की सम्पन्नता बढ़ायी जा सकती है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि सरकारी वित्त व्यवस्था का भविष्य केवल नये करों की खोज पर नहीं निर्भर है और न विकास की विशेष योजनाओं अथवा नयी रीतियों के उद्घाटन का ही उस पर विशेष प्रभाव पड़ता है। सामाजिक सुधार और पुनर्गठन सम्बन्धी उन मौलिक कार्यक्रमों का ही जिन्हें जनसंख्या को नियंत्रित रखने, प्रस्तुत सामाजिक ढांचे में परिवर्तन लाने, जनता में विकास के लिए आवश्यक कार्यों को प्रोत्साहित करने और शिक्षा का प्रचार करने के लिए अपनाया जाता है इस पर विशेष प्रभाव पड़ेगा। इन प्रयत्नों के साथ ही सरकारी वित्त का प्रयोग भारत की दरिद्र जनता को सुखी जीवन बिताने का अवसर दे सकता है।

राज्य सरकारों और स्थानीय प्रशासनों के बीच भी वित्तीय सहयोग आवश्यक हैं। राज्य और स्थानीय वित्त-सम्बन्धी समस्याओं को अलग-अलग समझने और सुलझाने का समय बदल चुका है। आजकल राज्य सरकारों तथा स्थानीय प्रशासनों के सीमित साधनों का सावधानीपूर्वक उपयोग आवश्यक है। सभी राज्यों के वित्तीय साधनों का जुटाव भी आवश्यक है तभी विविध क्षेत्रों की साधन सम्बन्धी असमानताएँ कम की जा सकती हैं और आवश्यक सामाजिक सेवाएँ सभी क्षेत्रों में सुलभ की जा सकती हैं। इसके लिए पूर्ण सावधानी के साथ वित्तीय आयोजन आवश्यक है; राज्यों और स्थानीय वित्त-व्यवस्थाओं का पूर्ण पुनर्गठन भी बहुत ही वांछनीय है ताकि जनता को शिक्षा, चिकित्सा तथा जन स्वास्थ्य-सम्बन्धी विविध सुविधाएँ सुलभ हो सके।

आजकल विकास-कार्यों के बढ़ जाने से सरकारी व्ययों को पूर्ण नियंत्रण में रखना आवश्यक है। जन-साधारण की यह धारणा हो गयी है कि सरकार व्ययों पर उचित नियंत्रण नहीं रखती और व्यय सम्बन्धी अधिकार रखने वाले कर्मचारी लेखा-सम्बन्धी निश्चित नियमों का अनुसरण नही करते। विभिन्न सरकारी विभागों से सम्बन्धित आडिट रिपोर्टों से भी वित्तीय अनियमितताओं का संकेत मिलता है। प्रत्येक वर्ष के आडिट रिपोर्ट में दिखायी गयी इन अनियमितताओं से यह स्पष्ट होता है कि कुछ विभागों के नियन्त्रण-स्तर में सुधार की काफी गुजाइश रहती है।

व्ययों के सम्बन्ध में नियन्त्रण के नियम बना देना अपेक्षाकृत आसान है; लेकिन यह देखना कि सरकारी राजस्व व्यय करने वाला अधिकारी उन नियमों का पालन कर रहा है या नही, कठिन होता है। सभी सरकारी कर्मचारियों द्वारा व्यय के सम्बन्ध में निम्नलिखित पूर्व-निश्चित सिद्धान्तों का पालन आवश्यक है :—

१. विशेष अवसर पर जितना व्यय प्रत्यक्षतः उचित है उतना ही किया जाना चाहिए। प्रत्येक सरकारी नौकर को राजकोष से किये जाने वाले व्यय के सम्बन्ध में उतनी ही सतर्कता रखनी चाहिए जितनी कोई भी व्यक्ति अपने पैसों के व्यय मे रखता है।

२. किसी भी अधिकारी को ऐसे व्ययों के किये जाने की अनुमति देने का अधिकार न हो कि जिनसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में उसकी निजी सुविधाएँ अथवा लाभ बढ़ सकें।

३. राजकोष से कोई भी ऐसा व्यय न किया जाय जो किसी व्यक्ति विशेष अथवा वर्गविशेष के हितों को बढ़ा सके।

सरकारी व्ययों को नियंत्रित रखने के लिए विधान-मण्डल और वित्त-विभाग की सतर्कता अनिवार्य है। आगणक समितियों और सरकारी लेखा समितियों द्वारा विधान-मण्डल सरकारी व्ययों पर पर्याप्त नियंत्रण रख सकता है। ब्रिटेन में संसदीय समितियों द्वारा सरकारी व्ययों की जाँच होने से संसद उन पर पूर्ण नियन्त्रण रख सकती है। इन समितियों के सम्बन्ध में श्रीमती हिक्स का यह कहना है कि संसदीय नियंत्रण रखने की जितनी विधियाँ यूनाइटेड किंगडम में निकाली गयी हैं उनमें आगणन समिति वाली विधि सर्वश्रेष्ठ है। ब्रिटेन में महा लेखा-परीक्षक द्वारा लेखों का अंकेक्षण होने और उन पर प्रतिवेदन प्रस्तुत किये जाने के पश्चात् संसद की सरकारी लेखा समिति सरकारी व्ययों को पूर्ण सावधानी से जाँचती है। सरकारी लेखा समिति का अध्यक्ष विरोधी दल का एक सदस्य होता है और संसद के सभी दलों से इस समिति के लिए उचित अनुपात में सदस्य लिये जाते हैं। व्ययों की अनियमितता अथवा उनके नियोजन सम्बन्धी दोषों और अकुशलता को इस प्रकार के दोहरे नियंत्रण से उचित सीमा में रखा जाता है। केन्द्र में हमारे यहां भी सरकारी लेखा समिति और आगणन समितियां सरकारी व्ययों पर नियंत्रण रखने में पर्याप्त सहायक हो रही हैं। कुछ राज्यों में भी इस प्रकार की समितियां बनायी गयी हैं, लेकिन विधान-मण्डल के सदस्य इन समितियों द्वारा सरकारी व्ययों पर पूर्ण नियंत्रण रख सकने में सफल नहीं हो रहे हैं।

व्यय करने वाले विभागों पर वित्त मंत्रणालय द्वारा रख जाने वाले नियन्त्रण में और सुधार की आवश्यकता है। विभिन्न व्ययों को निश्चित करने में वित्त-मंत्री के सुझावों का अनुसरण किया जाय। राजकोष के संग्रहकर्त्ता और संरक्षक की हैसियत से वित्त-मंत्री यह देखें कि जो सेवाएँ राष्ट्र के लिए अनिवार्य नहीं हैं उन पर व्यय निश्चित किये जायँ और विभिन्न सेवाओं के लिए जो भी व्यय निश्चित किये गये हैं वे मितव्यय की दृष्टि से उपयुक्त हैं। इस प्रकार वित्तमंत्री को सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के रखवाले की भाँति कार्य करना चाहिए।

प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर होने वाले व्ययों को और अधिक नियन्त्रित करने के लिए सभी विभागों में ब्रिटेन की तरह संगठन और प्रणाली विभागों (आर्गानाइजेशन एण्ड मेथड डिपार्टमेण्ट्स) की स्थापना अनिवार्य है। वित्त

मंत्रणालय के संगठन-और-प्रणाली-सेवा के कार्यकर्ताओं के सहयोग से विभागीय संगठन-प्रणाली-विभाग के अधिकारी कार्य करें।

बजट लेखा की नयी पद्धति

राष्ट्र के आय-व्यय सम्बन्धी लेखे को नये ढंग से प्रस्तुत करने की व्यवस्था की जानी चाहिए। जब से सरकारी व्ययों में अपूर्व वृद्धि हुई है और सरकार द्वारा बहुत-से ऐसे कार्य प्रारम्भ किये गये हैं जो पहले व्यक्तिगत उद्यमों के अन्तर्गत थे तब से बजट लेखे में नयी प्रणाली अपनाना आवश्यक हो गया है। लगभग पिछले ५० वर्षों से एक निश्चित ढंग से सरकारी बजट दिखाने की एक परम्परा बन गयी है जो आधुनिक आवश्यकताओं के अनुरूप नही है। इधर सरकार का कार्यक्षेत्र भी बहुत बढ़ गया है और प्रशासनिक कार्यों के अतिरिक्त व्यावसायिक कार्य करने का भार सरकार ने अपने ऊपर उठा लिया है। इसलिए बजट को नये ढंग से दिखाने की आवश्यकता बढ़ गयी है। बजट बनाने की परम्परागत शैली सरकार द्वारा केवल प्रशासनिक कार्य सम्पादित होने तक ही उपयुक्त थी। अब व्यावसायिक कार्यों के लिए सरकार को अलग बजट तैयार करना चाहिए। जब तक यह क्रम नही अपनाया जाता तब तक बजट द्वारा सरकार की राजस्व और व्यय सम्बन्धी स्थिति सही-सही प्रदर्शित कर सकना सम्भव नहीं है।

उदाहरणस्वरूप यदि खाद्य-मंत्रणालय अपने विभाग के लेखे परम्परागत पद्धति से दिखाता है तो १९५८-५९ में खाद्यान्नों पर व्यय की गयी कोई राशि उस वर्ष के व्यय रूप में दिखा दी जाती है। यदि मान लें, उन खाद्यान्नों को उस वर्ष न बेचा गया और अगले वर्ष १० लाख रुपये पर बेच दिया गया तो प्रथम वर्ष में खाद्यान्नो के रहतिये का कोई उल्लेख नही होता और अगले वर्ष जब १०० करोड़ १० लाख रुपयों में उनकी बिक्री हो जाती है तो उस राशि को उस वर्ष की प्राप्ति में दिखा दिया जाता है। परिणामस्वरूप पहले वर्ष का बजट १०० करोड़ रुपये का घाटा दिखाता है और दूसरे वर्ष का बजट १०० करोड़ १० लाख रुपये की अनुचित बचत दिखा सकता है। चूकि खाद्यान्नों का क्रय-विक्रय पूर्णतः व्यावसायिक सौदा है, इसलिए पहले वर्ष के १०० करोड़ रुपये का रहतिया अगले वर्ष ले जाना चाहिए और इस प्रकार अगले वर्ष में प्रारम्भिक रहतिया के रूप में इसका लेखा होना चाहिए।

भारत सरकार की बजट-प्रणाली ब्रिटेन की बजट प्रणाली पर आधारित रही है। ब्रिटेन में भी राजवित्त-शास्त्रियों का यह कहना है कि ब्रिटिश सरकार के

व्यावसायिक कार्यों की वृद्धि के कारण बजट की परम्परागत प्रणाली उपयुक्त नहीं रह गयी है। चूंकि व्यावसायिक कार्यों के क्रम में सरकारी विभाग भी व्यवसायियों की तरह उधार लेन-देन करते हैं और अपने यहाँ स्थायी सम्पत्तियाँ विविध राशियों में संग्रहीत करते हैं, इसलिए परम्परागत शैली के अनुसार उनकी आयों और व्ययों का लेखा दिखाना अनुचित है। इन आलोचनाओं के होने पर भी बजट की परम्परागत शैली में किसी प्रकार का सुधार ब्रिटेन में कार्यान्वित न किया जा सका। भारत में भी इस ओर विशेष प्रयत्न नहीं हुए हैं जब कि भारत में ब्रिटेन की अपेक्षा बजट बनाने की परम्परागत शैली को बदलना बहुत ही आवश्यक हो गया है।

बजट की नयी प्रणाली में सरकार के व्यावसायिक कार्यों से सम्बन्धित आयों और व्ययों को व्यापारिक लेखा की पद्धति पर प्रदर्शित किया जाय। अन्य कार्यों से सम्बन्धित आगम और व्ययों को परंपरागत शैली से ही दिखाया जाय। बजट बनाने की इस नयी शैली का प्रयोग करते समय यह आवश्यक है कि सरकार के सभी कार्यों को व्यावसायिक और प्रशासनिक वर्गो मे विभक्त किया जाय। यह विभाजन सर्वदा के लिए स्थिर न हो, बल्कि कार्य की प्रकृति और उद्देश्य के परिवर्तन के साथ उसमें भी अदला-बदली की जा सके। प्रशासनिक कार्यो के सम्बन्ध मे दिखाये जाने वाले बजट को परम्परागत शैली के आधार पर उसके सभी नियमो और सिद्धान्तों की पूर्ति के साथ प्रदर्शित किया जाय। लेकिन सरकार के व्यावसायिक विभागों के लेखे सामान्य बैंकों के लेखे की भाँति दिखाये जायें और सरकार उनके व्ययो पर वैसा ही नियन्त्रण रखे जैसा कि बैंक अपने ग्राहकों पर नियन्त्रण रखते है। इन्ही तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए यह कहा गया है कि प्रशासनिक विभागों के लिए सरकार का वित्त-विभाग भुगतानकर्ता के रूप में है, लेकिन व्यावसायिक विभागों के लिए इसकी स्थिति बैंक जैसी है।

उपर्युक्त सुझाव को सरलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए सरकारी खजाने के कार्यों को दो वर्गों में विभक्त करना आवश्यक है--(१) प्रशासनिक विभागों के प्रति, (२) व्यावसायिक विभागों के प्रति। व्यावसायिक विभागों के वित्तीय कार्यों की स्थिति किसी भी व्यावसायिक संस्था की तरह व्यापारिक खाता, लाभ-हानि खाता और पूंजी खाता इन तीन वर्गों में विभक्त करके दिखायी जानी चाहिए।

सरकार के सम्पूर्ण बजट को राजस्व खाता और पूंजी खाता इन दो वर्गो में विभक्त करके प्रदर्शित किया जाय। इन दोनों खातों को पुनः दो-दो वर्गों में विभाजित

किया जाय ताकि प्रशासनिक और व्यावसायिक विभागों के राजस्व तथा पूंजी सम्बन्धी लेखे स्पष्ट किये जा सकें।

निष्कर्ष

अन्त में भारत सरकार तथा राज्य सरकारों की वित्तीय स्थिति के संबंध में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विकासवादी आयोजनों का संचालन प्रारंभ करने और उनके संबंध में होने वाले विकास व्ययों के बढ़ने पर भी यहाँ की वित्तीय स्थिति पर्याप्त सुदृढ़ है। विभाजन के पश्चात् जिस प्रकार की असाधारण वित्तीय कठिनाइयाँ देश में उपस्थित हुई थीं और उनके संबंध में जिस प्रकार के संकटो की सम्भावना थी उनसे हमारा राष्ट्र बच सका है। विकास व्ययों की व्यवस्था में घाटे के बजट का आश्रय जितना लिया गया उसके अनुरूप देश की आर्थिक स्थिति में गड़बड़ियाँ उत्पन्न नही हुई। कीमत तल मे वृद्धि अवश्य हुई, लेकिन वह घाटे के बजट की तुलना में कम रही। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारी राजकोषीय नीति राष्ट्र में विकासवादी कार्यक्रमों को संचालित करने मे पूर्णतः सफल रही है और विकास व्ययों की वृद्धि के कारण कोई विशेष अव्यवस्था नही आयी है। रिजर्व बैंक आफ इंडिया की विवेकपूर्ण मौद्रिक नीति भी विशेष सहायक हुई है। रिजर्व बैंक अन्य व्यावसायिक बैंको के साथ-साथ केन्द्र और राज्य सरकारों की स्थिति के संरक्षक के रूप में कार्य करता है। देश की वित्तीय व्यवस्था के उचित प्रशासन से ही जनता की आस्था सरकार और उसके आर्थिक प्रयत्नों में बढ़ती है जिसके परिणामस्वरूप देश का आर्थिक विकास तीव्रगति से होता जाता है।

परिशिष्ट (अ)

संविधान की सप्तम अनुसूची

सूची १; संघ-सूची

१. भारत की तथा उसके प्रत्येक भाग की प्रतिरक्षा जिसके अन्तर्गत प्रतिरक्षा के लिए तैयारी तथा सारे ऐसे कार्य भी है, जो युद्ध-काल में युद्ध को चलाने और उसकी समाप्ति के पश्चात् सफलतापूर्वक सैन्यवियोजन में सहायक हों।

२. नौ, स्थल और विमान बल, संघ के कोई अन्य सशस्त्र बल।

३. कटक क्षेत्रों का परिसीमन, ऐसे क्षेत्रों में स्थानीय स्वायत्तशासन, ऐसे क्षेत्रों के अन्दर कटक-प्राधिकारियों का गठन और शक्तियां, तथा ऐसे क्षेत्रों में गृह-वासन का विनियमन (जिसके अन्तर्गत किराये का नियंत्रण भी है)।[१]

४. नौ, स्थल और विमान-बल की कर्मशालाएँ।

५. शस्त्रास्त्र, अग्न्यस्त्र, युद्धोपकरण और विस्फोटक।

६. अणुशक्ति तथा उसके उत्पादन केलिए आवश्यक खनिज सम्पति।

७. संसद निर्मित विधि द्वारा प्रतिरक्षा के प्रयोजन के लिए अथवा युद्ध चलाने के लिए आवश्यक घोषित किये गये उद्योग।

८. केन्द्रीय गुप्तवार्ता और अनुसंधान विभाग।

९. भारत की प्रतिरक्षा, विदेशीय कार्य या सुरक्षा सम्बन्धी कारणों से निवारक निरोध, इस प्रकार निरुद्ध व्यक्ति।

१०. विदेशी कार्य; सब विषय जिनके द्वारा संघ का किसी विदेशी से सम्बन्ध होता हे।

१. जम्मू और काश्मीर राज्य पर लागू होने में प्रविशिष्ट ३ के स्थान पर निम्नलिखित प्रविशिष्ट रख दिया जायेगा, अर्थात्

"३ कटकों का प्रशासन।"

११. राजनयिक, वाणिज्य-दूतिक और व्यापारिक प्रतिनिधित्व।

१२. संयुक्त राष्ट्र-संघटन।

१३. अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, संस्थाओं और अन्य निकायों में भाग लेना तथा उनमें किये गये विनिश्चयों की अभिपूर्ति।

१४. विदेशों से संधि और करार करना तथा विदेशों से की गयी संधियों, करारों और अभिसमयों की अभिपूर्ति।

१५. युद्ध और शान्ति।

१६. विदेशीय क्षेत्राधिकार।

१७. नागरिकता, देशीयकरण तथा अन्यदेशीय।

१८. प्रत्यर्पण।

१९ भारत में प्रवेश और उसमें से उत्प्रवासन और निर्वासन; पार-पत्र और दृष्टांक।[1]

२०. भारत के बाहर के स्थानों की तीर्थयात्राएँ।

२१. महासमुद्र या वायु में की गयी जलदस्युता और अपराध; स्थल या महासमुद्र या वायु में राष्ट्रों की विधि के विरुद्ध किये गये अपराध।

२२. रेल।

२३. राज-पथ, जिन्हें संसद निर्मित विधि के द्वारा या अधीन राष्ट्रीय राज्य-पथ घोषित किया गया है।

२४. यंत्र-चालित जलयानों के विषय में ऐसे अन्तर्देशीय जल-पथों में नौ-वहन और नौ-परिवहन जो संसद्-निर्मित विधि द्वारा राष्ट्रीय जल-पथ घोषित किये गये हैं; तथा ऐसे जल-पथों के पथ-नियम।

२५. समुद्र-नौ-वहन और नौ-परिवहन जिसके अन्तर्गत ज्वार-जल नौ-वहन और नौ-परिवहन भी हैं; वणिक-पोतीय शिक्षा और प्रशिक्षण के लिए उपबन्ध तथा राज्यों और अन्य अभिकरणों द्वारा दी जाने वाली ऐसी शिक्षा और प्रशिक्षण का विनियमन।

२६. प्रकाश-स्तम्भ, जिनके अन्तर्गत प्रकाशपोत, आकाशदीप तथा नौ-वहन और विमानों की सुरक्षितता के लिए अन्य उपबन्ध भी हैं।

१. ये मदें जम्मू और काश्मीर राज्य पर लागू न होंगी।

२७. वे पत्तन, जिनको संसद-निर्मित विधि या वर्तमान विधि के द्वारा या अधीन महापत्तन घोषित किया गया है। उसके अन्तर्गत उनका परिसीमन तथा उनमें पत्तन-प्राधिकारियों का गठन और शक्तियाँ भी सम्मिलित हैं।

२८. पत्तन-निरोध, जिसके अन्तर्गत उससे सम्बद्ध चिकित्सालय भी हैं; नाविक और समुद्रीय चिकित्सालय।

२९. वायु-पथ; विमान और विमान-परिवहन, विमान क्षेत्रों का उपबन्ध; विमान-यातायात और विमान-क्षेत्रों का विनियमन और संघटन; वैमानिक शिक्षा, और प्रशिक्षण के लिए उपबन्ध तथा राज्यों और अन्य अभिकरणों द्वारा दी गयी ऐसी शिक्षा और प्रशिक्षण का विनियमन।[1]

३०. रेल-पथ, समुद्र या वायु से अथवा यंत्र-चालित यानों में राष्ट्रीय जल-पथों से यात्रियों और वस्तुओं का वहन।

३१. डाक और तार, दूरभाष, बेतार, प्रसारण और अन्य समरूप संचार।

३२. संघ की संपत्ति और उससे उत्थित राजस्व किन्तु . . . किसी राज्य में अवस्थित संपत्ति के विषय में, जहाँ तक संसद विधि द्वारा अन्यथा उपबन्ध न करे वहां तक, उस राज्य के विधान के अधीन रहते हुए।[2]

३४. देशीराज्यों के शासकों की सम्पत्ति के लिए प्रतिपालक-अधिकरण।

३५. संघ का लोक-ऋण।

३६. चलार्थ, टंकण और विधिमान्य विदेशीय विनिमय।

३७. विदेशी ऋण।

३८. भारत का रक्षित बैंक।

३९. डाकघर बचत बैंक।

४०. भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार द्वारा संघटित लाटरी।

१. प्रथम अनुसूची के भाग (क) या भाग (ख) में उल्लिखित शब्द और अक्षर संविधान (सप्तम संशोधन) अधिनियम, १९५६, धारा २९ और अनुसूची द्वारा लुप्त कर दिये गये।

२. प्रविष्टि ३३ अपरोक्त के ही द्वारा लुप्त कर दी गयी। जम्मू और कश्मीर राज्य को लागू न होगी।

४१. विदेशों के साथ व्यापार और वाणिज्य, शुल्क-सीमान्तों को पार करने वाले आयात और निर्यात; शुल्क-सीमान्तों की परिभाषा।[1]

४२. अन्तर्राज्यिक व्यापार और वाणिज्य।

४३. व्यापारिक निगमों का, जिनके अन्तर्गत महाजनी, बीमाई और वित्तीय निगम भी हैं, किन्तु सहकारी संस्थाएँ नहीं हैं, निगमन, विनियमन, और समापन।

४४. विश्वविद्यालयों को छोड़कर ऐसे निगमों का, चाहे वे व्यापारिक हों या नहीं, जिनके उद्देश्य एक राज्य तक सीमित नहीं हैं, विनियमन और समापन।[2]

४५. महाजनी।

४६. विनिमय-पत्र, चेक, वचन-पत्र तथा ऐसी अन्य लिखतें।

४७. बीमा।

४८. श्रेष्ठि-चत्वर और वादा बाजार।

४९. एकस्व; आविष्कार और रूपांकन; प्रतिलिप्यधिकार; व्यापार-चिह्न और पण्यचिह्न।

५०. बाटों और मापों का मान-स्थापन।

५१. भारत से बाहर निर्यात की जाने वाली अथवा एक राज्य से दूसरे राज्य को भेजी जाने वाली वस्तुओं के गुणों का मान-स्थापन।

५२. वे उद्योग जिनके लिए संसद में विधि द्वारा घोषणा की गयी है कि लोकहित के लिए उन पर संघ का नियंत्रण इष्टकर है।

५३. तैल क्षेत्रों और खनिज तैल सम्पत् का विनियमन और विकास; पैट्रोलियम और पैट्रोलियम उत्पाद; संसद् से विधि द्वारा भयानक रूप से ज्वाला-ग्रही घोषित अन्य तरल और द्रव्य।

५४. उस सीमा तक खानों का विनियमन और खनिजों का विकास जिस तक संघ के नियंत्रण में वैसे विनियमन और विकास को संसद् विधि द्वारा लोकहित के लिए इष्टकर घोषित करे।

१. जम्मू और कश्मीर राज्य पर लागू न होंगी।

२. जम्मू और कश्मीर राज्य को लागू होने में प्रविष्टि ४३ के स्थान पर निम्नलिखित प्रविष्टि रख दी जायगी, अर्थात् ४३. महाजनी, बीमाई और वित्तीय निगमों का निगमन और समापन किन्तु इनके अन्तर्गत सहकारी संस्थायें नहीं हैं।

५५. श्रम का विनियमन तथा खानों और तैल-क्षेत्रों में सुरक्षितता।

५६. उस सीमा तक अन्तर्राज्यिक नदियों और नदी दूनों का विनियमन और विकास जिस तक संघ के नियन्त्रण में वैसे विनियमन और विकास को संसद् ससद विधि द्वारा लोक-हित के लिए इष्टकर घोषित करे।[1]

५७. जल प्रांगण से परे मछली पकड़ना और मीन क्षेत्र।

५८. संघ अभिकरणों द्वारा लवण का निर्माण, सम्भरण और वितरण, अन्य अभिकरणों द्वारा लवण के निर्माण, सम्भरण और वितरण का विनियमन और नियंत्रण।

५९. अफीम की खेती, निर्माण तथा निर्यात के लिए विक्रय।

६०. प्रदर्शन के लिए चल-चित्रों की मंजूरी।

६१. संघ के नौकरों से संपृक्त औद्योगिक विवाद।

६२. इस संविधान के प्रारम्भ पर राष्ट्रीय पुस्तकालय, भारतीय संग्रहालय, साम्राज्यिक युद्धसग्रहालय, विक्टोरिया-स्मारक, भारतीय युद्ध स्मारक नामों से ज्ञात सस्थाएँ तथा भारत सरकार द्वारा पूर्णतः या अंशतः वित्त-पोषित तथा संसद से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्त्व की घोषित ऐसी कोई अन्य तद्रूप संस्था।

६३. इस सविधान के प्रारम्भ पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और दिल्ली विश्वविद्यालय नामों से ज्ञात संस्थाएँ तथा संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्त्व की घोषित ऐसी कोई अन्य संस्था।

६४. भारत सरकार से पूर्णतः या अंशतः वित्त-पोषित तथा संसद से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था घोषित वैतनिक या शिल्पिक शिक्षा संस्थाएँ।

६५. संघ अभिकरण और संस्थाएँ जो—

(क) वृत्तिक, व्यावसायिक या शिल्पि-प्रशिक्षण, जिनके अन्तर्गत आरक्षी पदाधिकारियों का प्रशिक्षण भी है, के लिए है, अथवा (ख) विशेष अध्ययनों की गवेषणा की उन्नति के लिए है; अथवा (ग) अपराध के अनुसंधान या पता चलाने में वैज्ञानिक या शिल्पिक सहायता के लिए हैं।

६६. उच्चतर शिक्षा या गवेषणा की संस्थाओं मे तथा वैज्ञानिक और शिल्पिक संस्थाओं में एकसूत्रता लाना और मानों का निर्धारण।

१. जम्मू और कश्मीर राज्य पर लागू न होंगी।

६७. (संसद द्वारा निर्मित विधि के द्वारा या अधीन राष्ट्रीय महत्त्व के घोषित[1]) प्राचीन और ऐतिहासिक स्मारक और अभिलेख तथा पुरातत्त्वीय स्थान और अवशेष।[2]

६८. भारतीय भूपरिमाप, भूतत्त्वीय, वानस्पतिक, नरतत्त्वीय, प्राणकीय परिमाप, अन्तरिक्ष शास्त्रीय संस्थाएं।

६९. जनगणना।

७०. संघ-लोकसेवाएँ, अखिल भारतीय सेवाएँ, संघ-लोक सेवा आयोग।

७१. संघ-निवृत्ति-वेतन, अर्थात् भारत सरकार द्वारा या भारत की संचित निधि में से दिये जाने वाले निवृत्ति-वेतन।

७२. संसद और राज्यों के विधान मंडलों के लिए तथा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पदों के लिए निर्वाचन, निर्वाचन-आयोग।[3]

७३. संसद के सदस्यों, राज्य-सभा के सभापति और उप-सभापति तथा लोक-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते।

७४. संसद के प्रत्येक सदन की तथा प्रत्येक सदन के सदस्यों और समितियों की शक्तियां, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ, संसद की समितियों अथवा ससद द्वारा नियुक्त आयोगों के सामने साक्ष्य देने या दस्तावेज पेश करने के लिए व्यक्तियों की उपस्थिति बाध्य करना।

७५. राष्ट्रपति और राज्यपालों की उपलब्धियाँ, भत्ते, विशेषाधिकार, तथा अनुपस्थिति-छुट्टी के बारे में अधिकार, संघ के मंत्रियों के वेतन और भत्ते, नियन्त्रक-महालेखापरीक्षक के वेतन, भत्ते और अनुपस्थिति-छुट्टी के बारे में अधिकार तथा अन्य सेवा शर्तें।

१. संविधान (सप्तम संशोधन) अधिनियम, १९५६, धारा २७ द्वारा "संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्त्व के घोषित" शब्दों के स्थान पर रखे गये।

२. जम्मू और कश्मीर राज्य पर लागू होने में प्रविष्टि ६७ के स्थानपर निम्न-लिखित रख दी जायेगी अर्थात्—"६७. संसद् द्वारा विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्त्व के घोषित प्राचीन और ऐतिहासिक स्मारक और पुरातत्त्वीय स्थान, और अवशेष।"

३. जम्मू और कश्मीर राज्य पर लागू होने में राज्यों के प्रति निर्देश का यह अर्थ न किया जायेगा कि वह उस राज्य के प्रति निर्देश है।

७६. संघ के और राज्यों के लेखाओं की लेखापरीक्षा।[1]

७७. उच्चतम न्यायालय का गठन, संघटन, क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ जिसके अन्तर्गत उस न्यायालय का अवमान भी है तथा उसमें ली जाने वाली फीसें, उच्चतम न्यायालय के सामने विविध-व्यवसाय करने का हक्क रखने वाले व्यक्ति।

७८. उच्चन्यायालयों के पदाधिकारी और सेवकों के बारे के उपबन्धों को छोड़कर उच्चन्यायालयों का गठन और संघटन; उच्चन्यायालयों के सामने विधि-व्यवसाय करने का हक रखने वाले व्यक्ति।

७९. (किसी संघ राज्य-क्षेत्र में या किसी उच्चन्यायालय के क्षेत्राधिकारी का विस्तार अथवा किसी उच्चन्यायालय के क्षेत्राधिकार का अपवर्जन)[2]

८०. किसी राज्य के आरक्षी बल के सदस्यों की शक्तियाँ और क्षेत्राधिकार का उस राज्य में न होने वाले किसी क्षेत्र पर विस्तार, किन्तु इस प्रकार नहीं कि एक राज्य की आरक्षी, उस राज्य में न होने वाले किसी क्षेत्र में बिना उस राज्य की सरकार की सम्मति के जिसमें कि ऐसा क्षेत्र स्थित है, शक्तियां और क्षेत्राधिकार का प्रयोग कर सके; किसी राज्य की आरक्षी बल के सदस्यों की शक्तियां और क्षेत्राधिकार का उस राज्य से बाहर रेल-क्षेत्रों पर विस्तार।

८१. अन्तर्राज्यीय प्रव्रजन; अन्तर्राज्यीय निरोधा।[3]

८२. कृषि आय को छोड़कर अन्य आय पर कर।

८३. सीमा शुल्क जिसके अन्तर्गत निर्यात शुल्क।

८४. भारत में निर्मित या उत्पादित तम्बाकू तथा—

(क) मानव उपभोग के मद्यसारिक पानों,

(ख) अफीम, भांग और अन्य पिनक लाने वाली औषधियों तथा स्वापकों को छोड़कर, किन्तु ऐसी औषधीय और प्रसाधनीय सामग्री को अन्तर्गत करके,

१. जम्मू और कश्मीर राज्य पर को लागू न होगी।

२. संविधान (सप्तम संशोधन) अधिनियम, १९५६, धारा २९ और अनुसूची द्वारा प्रतिस्थापित।

३. जम्मू और कश्मीर राज्य को लागू होने में मद ८१ में "अन्तर्राज्यीय निरोधा" शब्द लुप्त कर दिये जायेंगे।

जिनमें कि मद्यसार अथवा उक्त प्रविशिष्ट की उपकण्डिका (ख) में का कोई पदार्थ अन्तर्विष्ट हो, अन्य सब वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क।

८५. निगम-कर।

८६. व्यक्तियों या समवायों की आस्ति में से कृषि-भूमि को छोड़कर उसके मूलधन-मूल्य पर कर, समवायों के मूल-धन पर कर।

८७. कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के बारे में सम्पत्ति-शुल्क।

८८. कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार के बारे में शुल्क।

८९. रेल या समुद्र या वायु से ले जाये जाने वाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा-कर, रेल के जनभाड़े और वस्तुभाड़े पर कर।

९०. मुद्रांक शुल्क को छोड़कर श्रेष्ठिचत्वर और वादा बाजार के सौदों पर कर।

९१. विनिमय पत्रों, चेकों, वचन-पत्रों, वहन-पत्रों, प्रत्यय-पत्रों, अंशों के हस्तांतरण, ऋणपत्रों, प्रति-पत्रियों और प्राप्तियों के संबंध में लगने वाले मुद्रांक शुल्क की दर।

९२. समाचार-पत्रों के क्रय या विक्रय पर तथा उनमें प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों पर कर।

(९२.क, समाचार पत्रो से भिन्न वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर उस सूरत में कर जिसमें कि ऐसा क्रय या विक्रय अन्तर्राज्यिक व्यापार या वाणिज्य की चर्या में हो,)[1]

९३. इस सूची के विषयों में से संबंद्ध विधियों के विरुद्ध अपराध।

९४. इस सूची के विषयों से किसी प्रयोजन के लिए जाँच, परिभाषा और सांख्यिकी।

९५. उच्चतम न्यायालय को छोड़कर अन्य न्यायालयों के इस सूची में के विषयों में से किसी के संबध में क्षेत्राधिकार और शक्तियां, नवाधिकरण-क्षेत्राधिकार।

९६. किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीसों को छोड़कर इस सूची के विषयों में से किसी के बारे में फीस।

१. संविधान (षष्ठ शोधन) अधिनियम, १९५६, धारा २ द्वारा अन्तःस्थापित।

९७. सूची (२) या (३) में किसी में अवर्णित किसी कर के सहित उन सूचियों में अप्रमाणित कोई अन्य विषय।

सूची २, राज्यसूची[1]

१. सार्वजनिक व्यवस्था, (किन्तु असैनिक शक्ति की सहायता के लिए संघ के नौ, स्थल या विमान बलों के प्रयोग को अन्तर्गत न करते हुए)।

२. आरक्षी, जिसके अन्तर्गत रेल या ग्राम आरक्षी भी हैं।

३. न्याय-प्रशासन, उच्चतम न्यायालय, और उच्चन्यायालय को छोड़कर सब न्यायालयों का गठन और संघटन, उच्चन्यायालय के पदाधिकारी और सेवक भाटक और राजस्वन्यायालयों की प्रक्रिया, उच्चतमन्यायालय को छोड़कर सब न्यायालयों में ली जाने वाली फीसें।

४. कारागार, सुधारालय, वोर्स्टल संस्थाएँ और तद्रूप अन्य संस्थाएँ और उनमें निरुद्ध व्यक्ति, कारागारों और अन्य संस्थाओं के उपयोग के लिए अन्य राज्यों से प्रबन्ध।

५. स्थानीय शासन अर्थात् नगर-निगम, सुधार-प्रन्यास, जिला-मण्डलों, खनिज-वसाति-प्राधिकारियों तथा स्थानीय स्वशासन या ग्राम्य प्रशासन के लिए अन्य स्थानीय प्राधिकारियों का गठन और शक्तिया।

६. सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता, चिकित्सालय और औषधालय।

७. भारत के बाहर के स्थानों की तीर्थ-यात्राओं को छोड़कर अन्य तीर्थ यात्राएँ।

८. मादक पान अर्थात् मादक पानों का उत्पादन, निर्माण, कब्जा, परिवहन, क्रय और विक्रय।

९. अंगहीनों और नौकरी के लिए अयोग्य व्यक्तियों की सहायता।

१०. शव गाड़ना और कबरस्थान; शव दाह और श्मशान।

११. सूची १ की, प्रविष्टियों ६३, ६४, ६५ और ६६ तथा सूची ३ की प्रविष्टि २५ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए शिक्षा, जिसके अन्तर्गत विश्वविद्यालय भी हैं।

१. जम्मू और कश्मीर राज्य पर न लागू होगी।

१२. राज्य से नियंत्रित या वित्त-पोषित पुस्तकालय, संग्रहालय या अन्य समतुल्य संस्थाएँ (संसद् द्वारा निर्मित विधि के द्वारा या अधीन राष्ट्रीय महत्त्व के घोषित)[1] से भिन्न प्राचीन और ऐतिहासिक स्मारक और अभिलेख।

१३. संचार अर्थात् सड़कें, पुल, नौका घाट तथा सूची १ में अनुल्लिखित संचार के अन्य साधन, ट्राम पथ, रज्जुपथ, अन्तर्देशीय जल-पथ और उन पर यातायात, वैसे जल पथों के विषय में सूची १ और सूची ३ में के उपबन्धों के अधीन रहते हुए यंत्र-चालित यानों को छोड़कर अन्य यान।

१४. कृषि, जिसके अन्तर्गत कृषि शिक्षा, और गवेषणा, मरकों से रक्षा तथा उद्भिद रोगों का निवारण भी है।

१५. पशु के नस्ल का परिरक्षण, संरक्षण और उन्नति तथा पशुओं के रोगों का निवारण, शालिहोत्री प्रशिक्षण और व्यवसाय।

१६. पश्वरोध और पशुओं के अतिचार का निवारण।

१७. सूची १ की प्रविष्टि ५६ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए जल, अर्थात् जल सम्भरण, सिंचाई और नहरें, जल निस्सारण और बंध जल संग्रह और जल-शक्ति।

१८. भूमि अर्थात् भूमि में या पर अधिकार, भूधृति जिसके अन्तर्गत भूस्वामी और किसानों का संबंध भी है, तथा भाटक का संग्रहण, कृषि भूमि का हस्तांतरण और अन्य संक्रमण, भूमि सुधार, उपनिवेषण।

१९. वन।

२०. वन्य प्राणियों और पक्षियों की रक्षा।

२१. मीन-क्षेत्र।

२२. सूची १ की प्रविष्टि ३४ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए प्रति पालक अधिकरण, भारग्रस्त और कुर्क सम्पदाएँ।

२३. संघ के नियंत्रणाधीन विनियमन और विकास के संबंध में सूची १ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए खानों का विनियमन और खनिजों का विकास।

१. संविधान (सप्तम संशोधन) अधिनियम, १९५६, धारा २७ द्वारा 'संसद से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्त्व के घोषित' के स्थान पर रखे गये।

२४. सूची १ की (प्रविष्टि ७ और ५२)[1] के उपबन्धों के अधीन रहते हुए उद्योग।

२५. गैस, गैस-कर्मशालाएँ।

२६. सूची ३ की प्रविष्टि ३३ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए राज्य के व्यापार और वाणिज्य।

२७. सूची ३ की प्रविष्टि ३३ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए वस्तुओं का उत्पादन, संभरण और वितरण।

२८. बाजार और मेले।

२९. मान स्थापन को छोड़कर बाट और माप।

३०. साहूकारी और साहूकार; कृषिऋणिता का उद्धार।

३१. पान्थशाला और पान्थशालापाल।

३२. सूची १ में उल्लिखित निगमों से भिन्न निगमों का और विश्व-विद्यालयों का निगमन, विनियमन और समापन; व्यापारिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, धार्मिक और अन्य अनिगमित समाज और संस्थाएँ, सहकारी समाज।

३३. नाट्यशाला, नाटक अभिनय, प्रथम अनुसूची की प्रविष्टि ६० के उपबन्धों के अधीन रहते हुए चल-चित्र, क्रीड़ा, आमोद और विनोद।

३४. पण लगाना और जुआ।

३५. राज्य में निहित या उसके स्ववश की कर्मशालाएँ, भूमि और भवन।[2]

३७. संसद-निर्मित किसी विधि के उपबन्धों के अधीन रहते हुए राज्य के विधान मण्डल के लिए निर्वाचन।

३८. राज्य के विधान मण्डल के सदस्यों के, विधान सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के तथा, यदि विधान-परिषद् है तो, उसके सभापति और उपसभापति के वेतन और भत्ते।

३९. विधान सभा और उसके सदस्यों और समितियों की तथा यदि विधान

१. संविधान (सप्तम संशोधन) अधिनियम, १९५६, धारा २८ द्वारा "प्रविष्टि ५२" के स्थान पर रखे गये।

२. प्रविष्टि ३९ संविधान (सप्तम संशोधन) अधिनियम, १९५६, धारा २६ द्वारा लुप्त कर दी गयी।

परिषद हो तो उस परिषद्, और उसके सदस्यों और समितियों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ, राज्य के विधान-मंडल की समितियों के सामने साक्ष्य देने या दस्तावेज पेश करने के लिए व्यक्तियों की उपस्थिति बाध्य करना।

४०. राज्य के मंत्रियों के वेतन और भत्ते।

४१. राज्य-लोक सेवाएँ, राज्य-लोक सेवा-आयोग।

४२. राज्य निवृत्ति-वेतन अर्थात् राज्य द्वारा अथवा राज्य की संचित निधि में से देय निवृत्ति-वेतन।

४३. राज्य का लोक-ऋण।

४४. निखात निधि।

४५. भूराजस्व जिसके अन्तर्गत राज्य द्वारा निर्धारण और संग्रहण, भू-अभिलेखों का बनाए रखना, राजस्व प्रयोजनों के लिए और स्वत्व अभिलेखों के लिये परिमाप और राजस्व का अन्य संक्रामण भी है।

४६. कृषि-आय पर कर।

४७. कृषि-भूमि के उत्तराधिकार के विषय में शुल्क।

४८. कृषिभूमि के विषय में सम्पत्ति-शुल्क।

४९. भूमि और भवनों पर कर।

५०. संसद से, विधि द्वारा, खनिज-विकास के संबंध में लगायी गयी परिसीमाओं के अधीन रहते हुए खनिज-अधिकार पर कर।

५१. राज्य में निर्मित या उत्पादित निम्नलिखित वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क तथा भारत में अन्यत्र निर्मित या उत्पादित तत्सम वस्तुओं पर उसी या कम दर से प्रतिशुल्क।

(क) मानव उपभोग के लिए मद्यसारिक पान।

(ख) अफीम, भांग और अन्य पिनक लाने वाली औषधियां और स्वापक, किन्तु ऐसी ओषधीय और प्रसाधनीय सामग्रियों को छोड़कर जिनमें मद्यसार अथवा इस प्रविष्टि की उपकंडिका (ख) में का कोई पदार्थ अन्तर्विष्ट हो।

५२. किसी स्थानीय क्षेत्र में उपभोग, प्रयोग या विक्रय के लिए वस्तुओं के प्रवेश पर कर।

५३. विद्युत के उपभोग या विक्रय पर कर।

५४. सूची १ की प्रविष्टि ९२ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, समाचार पत्रों से भिन्न वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर कर।)[1]

५५. समाचार पत्रों और प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों को छोड़ कर अन्य विज्ञापनों पर कर।

५६. सड़कों या अन्तर्देशीय जलपथों पर ले जायी जाने वाली वस्तुओं और यात्रियों पर कर।

५७. सड़कों पर उपयोग के यानों पर, चाहे वे यंत्रचालित हों या न हों, तथा सूची ३ की प्रविष्टि ३५ के उपबन्धों के अधीन ट्रामगाड़ियाँ भी जिनके अन्तर्गत हैं, कर।

५८. पशुओं और नौकाओं पर कर।

५९. पथ-कर।

६०. वृत्तियों, व्यापारों, आजीविकाओं और नौकरियों पर कर।

६१. प्रतिव्यक्ति-कर।

६२. विलास वस्तुओं पर कर, जिनके अन्तर्गत आमोद, विनोद, पण लगाने और जुआ खेलने पर भी कर हैं।

६३. मुद्रांक शुल्क की दरों के संबंध में सूची १ के उपबन्धों में उल्लिखित दस्तावेजों को छोड़कर अन्य दस्तावेजों के बारे में मुद्रांक शुल्क की दर ।

६४. इस सूची में के विषयों में से किसी से संबद्ध विधियों के विरुद्ध अपराध।

६५. इस सूची के विषयों में से किसी के बारे में उच्चतम न्यायालय को छोड़कर सब न्यायालयों का क्षेत्राधिकार और शक्तियां।

६६. किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीसों को छोड़कर इस सूची में के विषयों में से किसी के बारे में फीस।

सूची ३; समवर्ती सूची

१. दंड विधि जिसके अन्तर्गत वे सब विषय हैं जो इस संविधान के प्रारम्भ पर भारतीय दंड संहिता के अन्तर्गत हैं, किन्तु सूची १ या सूची २ में उल्लिखित

१. संविधान (षष्ठ संशोधन) अधिनियम, १९५६, धारा २ द्वारा मूल प्रविष्टि ५४ के स्थान पर रखी गयी।

विषयों में से किसी से सम्बद्ध विषयों के विरुद्ध अपराधों को छोड़कर तथा असैनिक शक्ति की सहायतार्थ नौ, स्थल और विमान बलों के प्रयोग को छोड़कर।

२. दंड प्रक्रिया जिसके अन्तर्गत वे सब विषय हैं जो इस संविधान के प्रारंभ पर दंड प्रक्रिया-संहिता के अन्तर्गत हैं।

३. राज्यकी सुरक्षा से, सार्वजनिक व्यवस्था बनाये रखने से अथवा समुदाय के लिए अत्यावश्यक संभरणों और सेवाओं को बनाये रखने से संसक्त कारणों के लिए निवारक निरोध; ऐसे निरुद्ध व्यक्ति।[1]

४. कैदियों, अभियुक्त व्यक्तियों तथा इस सूची की प्रविष्टि ३ में उल्लिखित कारणों से निवारक निरोध में किये गये व्यक्तियों का एक राज्य से दूसरे राज्य को हटाया जाना।

५. विवाह और विवाह-विच्छेद; शिशु और अवयस्क; दत्तक-ग्रहण; इच्छापत्र; इच्छापत्रहीनत्व; और उत्तराधिकार; अविभक्त कुटुम्ब और विभाजन; वे सब विषय जिनके सम्बन्ध में न्यायिक कार्यवाहियों में पत्र इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले अपनी स्वीय विधि के अधीन थे।

६. कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्तियों का हस्तांतरण; विलेखों और दस्तावेजों का पंजीयन।

७. संविदा जिनके अन्तर्गत भागिता, अभिकरण, परिवहन-संविदा, और अन्य विशेष प्रकार की संविदाएँ भी हैं, किन्तु कृषि-भूमि संबंधी संविदाएँ नहीं हैं।

८. अभियोज्य दोष।

९. दिवाला और शोधाक्षमता।

१०. न्यास और न्यासी।

११. महाप्रशासक और राजन्यासी।

१२. साक्ष्य और शपथ, विधियों, सार्वजनिक कार्यों, अभिलेखों, और न्यायिक कार्यवाहियों का अभिज्ञान।

१३. व्यवहार-प्रक्रिया, जिसके अन्तर्गत वे सब विषय हैं जो इस संविधान के प्रारम्भ पर व्यवहार प्रक्रिया संहिता के अन्तर्गत हैं, परिसीमा और मध्यस्थ-निर्णय।

१. जम्मू और कश्मीर राज्य पर लागू न होगी।

१४. न्यायालय-अवमान, किन्तु जिसके अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय का अवमान नहीं हैं।

१५. आहिण्डन, आस्थिरवासी, और प्रव्राजी आदिम जातियां।

१६. उन्माद और मनोवैकल्य जिसके अन्तर्गत उन्मत्तों और मनोविकलों के रखने या उपचार के स्थान भी हैं।

१७. पशुओं के प्रति निर्दयता का निवारण।

१८. खाद्य पदार्थों और अन्य वस्तुओं में अपमिश्रण।

१९. अफीम विषयक सूची १ की प्रविष्टि ५९ में के उपबन्धों के अधीन रहते हुए औषधि और विष।

२०. आर्थिक और सामाजिक योजना।

२१. वाणिज्यिक और औद्योगिक एकाधिपत्य, गुट्ट और न्यास।

२२. व्यापार संघ, औद्योगिक और श्रमिक विवाद।

२३. सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा, नौकरी और बेकारी।

२४. श्रमिकों का कल्याण जिसके अन्तर्गत कार्य की शत भविष्य निधि, नियोजक दायित्व, कर्मकार-प्रतिकर, असमर्थता और वार्धक्य-निवृत्ति-वेतन और प्रसूति-सुविधाएँ भी है।

२५. श्रमिकों का व्यावसायिक और शिल्पी-प्रशिक्षण।

२६. विधि-वृत्तियां, वैद्यक वृत्तियां और अन्य वृत्तियां।

२७. भारत और पाकिस्तान की डोमीनियनों के स्थापित होने के कारण अपने मूल निवास-स्थान से विस्थापित व्यक्तियों की सहायता और पुनर्वास।

२८. पूर्त और पूर्त संस्थाएँ, पूर्त और धार्मिक धर्मस्व और धार्मिक संस्थाएँ।

२९. मानवों, पशुओं और उद्भिदों पर प्रभाव डालने वाले सांक्रमिक और सांसर्गिक रोगों और मारकों के एक राज्य से दूसरे में फैलने का निवारण।

३०. जीवन संबंधी सांख्यिकी, जिसके अन्तर्गत जन्म और मृत्यु का पंजीयन है।

३१. संसद-निर्मित विधि या वर्तमान विधि के द्वारा या अधीन महापत्तन घोषित पत्तनों से भिन्न पत्तन।

३२. राष्ट्रीय जल-पथों के विषय में सूची १ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए अन्तर्देशीय जल-पथों पर यंत्र-चालित यानों विषयक नौ-वहन और नौ-परि-

वहन तथा ऐसे जल-पथों पर पथ-निगम तथा अन्तर्देशीय जल-पथों पर यात्रियों और वस्तुओं का परिवहन।

३३. (क) जहां संसद द्वारा निर्मित विधि द्वारा किसी उद्योग का संघ द्वारा नियंत्रण लोक हित में इष्टकर घोषित किया गया है वहां उस उद्योग के उत्पादों में, और उसी प्रकार के आयात किये गये मालों का ऐसे उत्पादों के रूप में—

(ख) खाद्य पदार्थों का, जिनके अन्तर्गत खाद्य तिलहन और तेल भी हैं,

(ग) ढोरों के चारे का, जिनके अन्तर्गत खली और अन्य सारकृत चारे हैं,

(घ) कच्ची रुई का, चाहे धुनी हो या बिना धुनी हुई हो और बिनौले का, और

(ङ) कच्चे पटसन का,

व्यापार और वाणिज्य तथा उत्पादन, संभरण और वितरण।)[1]

३४. मूल्य नियंत्रण।

३५. यंत्र-चालित यान, जिनके अन्तर्गत वे सिद्धांत भी हैं जिनके अनुसार ऐसे यानों पर कर लगाया जाना है।

३६. कारखाने।

३७. वाष्पयंत्र।

३८. विद्युत्।

३९. समाचारपत्र, पुस्तकें और मुद्रणालय।

४०. (संसद द्वारा निर्मित विधि के द्वारा या अधीन राष्ट्रीय महत्त्व के घोषित)[2] से भिन्न पुरातत्त्व संबंधी स्थान और अवशेष।

४१. विधि द्वारा निष्काम्य घोषित सम्पत्ति की कृषि भूमि सहित अभिरक्षा, प्रबंध और व्ययन।

४२. संपत्ति का अर्जन और अधिग्रहण।[3]

१. संविधान (तृतीय संशोधन) अधिनियम, १९५४, द्वारा प्रतिस्थापित।

२. संविधान (सप्तम संशोधन) अधिनियम, १९५६, धारा २७ द्वारा "संसद से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व के घोषित" के स्थान पर रखे गये।

३. उपर्युक्त की ही धारा २६ द्वारा मूल प्रविष्टि ४२ के स्थान पर रखी गयी।

४३. किसी राज्य में, उस राज्य से बाहर पैदा हुए कर विषयक दावों तथा अन्य सार्वजनिक अभियाचनाओं की, जिस के अन्तर्गत भूराजस्व की बकाया और इस प्रकार वसूल की जाने वाली बकाया भी है, वसूली।

४४. न्यायिक मुद्रांकों द्वारा संगृहीत शुल्कों या फीसों को छोड़कर अन्य मुद्रांक शुल्क, किन्तु इसके अन्तर्गत मुद्रांक शुल्क की दरें नहीं हैं।

४५. सूची २ या सूची ३ में उल्लिखित विषयों में से किसी के प्रयोजनों के लिए जांच और सांख्यिकी।

४६. उच्चतम न्यायालय को छोड़कर अन्य न्यायालयों की इस सूची के विषयों में से किसी के बारे में क्षेत्राधिकार और शक्तियां।

४७. इस सूची में के विषयों में से किसी के बारे में फीसें, किन्तु इन के अन्तर्गत किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीसें नहीं हैं।

परिशिष्ट (ब)

प्रो० काल्डर द्वारा भारतीय कर ढाँचे में सुधार लाने के सुझाव

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के रीडर श्री निकोलस कॉल्डर भारतीय सांख्यिकी संस्था द्वारा भारतीय कर व्यवस्था का अनुसन्धान करने के लिए सन् १९५६ में बुलाये गये थे। भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना की राजस्व सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी करने में देश के कर-ढाँचे को कैसे सुगठित किया जाय, इसी समस्या का सुलझाव ढूढना उनके अनुसंन्धान का प्रमुख उद्देश्य रहा। कॉल्डर महोदय ने भारतीय कर-व्यवस्था का विश्लेषण दो दृष्टि-कोणों से किया—

(१) व्यक्तियों पर करारोपण,

(२) व्यवसायों पर करारोपण।

कर ढाँचे में सुधार लाने के निमित्त दिये गये उनके सुझाव भी इन्हीं दो वर्गों में विभक्त हैं।

भारतीय कर-व्यवस्था के सम्बन्ध में कॉल्डर महोदय का यह निर्णय रहा कि इसमें पाश्चात्य देशों की कर-व्यवस्था की भाँति राष्ट्रीय उत्पादन और आय की वृद्धि के साथ अधिक राजस्व सुलभ करने का क्रम नहीं है, लेकिन यदि इसमें विस्तृत सुधार ला दिये जायँ तो उचित मात्रा में राजस्व संग्रह हो सकता है और प्रजातन्त्रात्मक समाज की न्याय और समानता की भावना को भी मूर्त किया जा सकता है। भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अधिक कुशल और न्यायपूर्ण कर-व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है।

देश में प्रचलित प्रत्यक्ष करारोपण की व्यवस्था को उन्होंने अकुशल और समत्वहीन बतलाया। इसे समत्वहीन उन्होंने इसलिए बतलाया कि करारोपण का प्रचलित आधार, 'आय' जैसी उसकी परिभाषा आयकर अधिनियम में है, दोषपूर्ण है; यह कर देय योग्यता का उचित माप नहीं है और कुछ प्रकार के करदाताओं द्वारा इसमें अनुचित हेर-फेर किये जा सकते हैं। उनके अनुसार यह अकुशल इसलिए है कि करदाताओं द्वारा बड़ी सीमित सूचनाएँ दी जाती हैं।

सम्पत्ति सम्बन्धी सौदों और आयों का पूर्ण विवरण दिये जाने की व्यवस्था न रहने से लाभों और सम्पत्ति सम्बन्धी आयों को छिपाकर अथवा कम दिखाकर बड़े पैमाने पर कर-वंचन करना सरल होता है।

व्यक्तियों पर करारोपण के सम्बन्ध में प्रो० काल्डर के सुझाव

भारत में आर्थिक विकास का क्रम जितना द्रुतगामी होता जायगा उसी के अनुरूप आय और धन के वितरण की असमानता बढ़ेगी। आर्थिक और सामाजिक असमानता कम करने के लिए "प्रगामी करारोपण" का सफल प्रयोग आवश्यक है। लेकिन जैसा कि और देशों का अनुभव है, प्रगामी करारोपण कुछ कारणों से समानता लाने के बदले और असमानता ला देता है। कर लगायी जाने वाली आय के स्पष्ट और व्यापक रूप की व्याख्या न होने से कई प्रकार की लाभपूर्ण प्राप्तियाँ जिनमें सभी प्रकार के पूंजीगत लाभ विशेष उल्लेखनीय हैं, छूट जाती हैं। इससे सम्पत्तियों के स्वामित्व से अथवा व्यावसायिक क्रियाओं से उत्पन्न होने वाली आयों को कर न लगने योग्य पूंजीगत लाभ बनाने के अनेक पटु प्रबन्धों को भी रोकना असम्भव हो जाता है। करारोपण के क्रम में इस तथ्य को समझना चाहिए कि बिक्री योग्य सम्पत्तियों का स्वामित्व आय के अतिरिक्त कुछ और सुविधाएँ भी स्वामी को देता है, इसलिए आयों पर कर लगाने के साथ सम्पत्तियों के शुद्ध-मूल्य पर भी कर लगाना चाहिए। यह न समझने तथा सम्पत्तियों के शुद्ध मूल्य पर भी कर न लगाने से करारोपण के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक लाभों का आगणन करते समय प्राप्तियों में से घटाये जाने वाले व्ययों की लचीली परिभाषा के कारण तथा हानियों के प्रति बहुत उदार दृष्टि-कोण रखने से व्यवसायियों को सरकारी राजस्व पर अनुचित प्रभाव डालकर अपनी सम्पत्तियों के सम्बर्धन का अवसर मिलता है। उनके ऐसे लाभों पर करारोपण की व्यवस्था नहीं हो पाती। सम्पूर्ण परिवार की आयों को समेकित करने से सम्बन्धित जो वैधानिक प्रावधान चालू हैं उनके दोषपूर्ण होने से किसी व्यक्ति अथवा परिवार की असली आयों को निश्चित कर सकना कठिन होता है। इसी प्रकार आयों अथवा सम्पत्तियों को प्रन्यासों और बन्दोबस्तों में हस्तांतरित करने से सम्बन्धित वैधानिक प्रावधानों के दोषपूर्ण होने के कारण किसी व्यक्ति की कुल आयों का सही निश्चय नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप प्रगामी करारोपण के मूल उद्देश्यों को पूरा कर सकना कठिन होता है। सभी व्यक्तियों की आय अथवा

सम्पत्ति का पूर्ण विवरण न मिलने से भी बाधा उत्पन्न होती है। आय अथवा सम्पत्ति का पूर्ण विवरण प्राप्त न होने के कुछ विशेष कारण हैं जिनमें प्रमुख निम्नांकित हैं —

१. स्वाभाविक क्रम में सम्पत्ति की आय और सम्पत्ति सम्बन्धी सौदों का पूर्ण विवरण देने की व्यवस्था वैसी नहीं है जैसी कि किसी रोजगार से होने वाली आय के सम्बन्ध में है।

२. करदाता अपनी आय आदि का उतना विस्तृत विवरण नहीं देते जिससे प्राप्त सूचनाओं के एक भाग की जांच दूसरे के आधार पर की जा सके।

३. सामान्य विधान में ऐसी व्यवस्थाएँ सुलभ हैं जिनसे झूठे नामों पर सम्पत्तियों को हस्तांतरित करके आय और सम्पत्तियों को छिपाया जा सकता है।

प्रो० काल्डर का ऐसा विश्वास है कि किसी भी देश की कर-व्यवस्था में ऐसे सुधार लाये जा सकते है जिनसे उपर्युक्त बाधाओं को मिटाया जा सके और कर-दुराव के विधि-विहित स्रोतों और कर-वंचन के विशाल क्षेत्र को यदि पूर्णतः समाप्त नहीं, तो सीमित अवश्य किया जा सकता है। पश्चिमी गणतन्त्रों अथवा भारत में इस प्रकार के सुधार प्राविधिक असम्भावनाओं के कारण नहीं, बल्कि सम्बद्ध हितों के विरोध के कारण कार्यान्वित नहीं हो सके हैं।

उनके अनुसार किसी भी कर-व्यवस्था को सुधारने का क्रम तीन दृष्टिकोणों से अपनाया जाना चाहिए—समत्व आर्थिक प्रभाव और प्रशासनिक कुशलता। समत्व का तात्पर्य यह है कि करारोपण किसी भी करदाता वर्ग के पक्ष मे अथवा विपक्ष में न हो। कार्य करके कमाई हुई आय और संपत्ति की आय पर करारोपण सम्बन्धी समता लाने के लिए आय के तात्पर्य को विस्तृत बनाना, आयकर के साथ धन पर वार्षिक कर लगाना, कर देय आय, लाभ अथवा प्राप्ति की गणना में समान और निष्पक्ष सिद्धान्तों के आधार पर व्ययों को घटाने की व्यवस्था करना अनिवार्य है। करारोपण के आर्थिक प्रभावों के अन्तर्गत मुख्यतः यह देखना है कि कर-व्यवस्था लोगों के प्रयत्नों, मौलिकता अथवा उद्यम पर अनुचित प्रभाव न डाले। इस सम्बन्ध में करारोपण की सीमान्त दरों और कर-वंचन की सम्भावनाओं पर दृष्टि रखनी चाहिए। प्रशासनिक कुशलता के लिए करारोपण के आधारों का सुबोध होना और उसमें सभी प्रकार की लाभ-पूर्ण-प्राप्तियों और धन का सम्मिलित किया जाना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त कर-दाता अपनी आय के सम्बन्ध में जो विवरण प्रस्तुत करता है उसे विस्तृत होना चाहिए अर्थात् उसमें केवल करदेय

आय का ही उल्लेख न हो, बल्कि वर्ष के प्रारम्भ में उसके कुल धन की क्या स्थिति थी, वर्ष के भीतर उसमें कितनी वृद्धि, आय, प्राप्ति अर्पण, जीत आदि के रूप में हुई उसमें से कितना व्यक्तिगत खर्चों और विनियोगों में लगा और अन्त में उसकी सम्पत्ति सम्बन्धी स्थिति क्या हो गयी, इनका विवरण भी मांगा जाय। इससे किसी प्राप्ति को छिपाना सम्भव नही हो सकता। करारोपण क्रम में आयकर के साथ पूजीलाभ-कर, धन पर वार्षिक कर, व्ययकर, अर्पणकर लगाये जायँ। इन्हें करदाता द्वारा प्रस्तुत विस्तृत विवरण के आधार पर एक ही साथ एक ही अधिकारी द्वारा लगाया जाय। इस क्रम को अपनाने से करारोपण के एक खण्ड पर दूसरे खण्ड द्वारा नियन्त्रण रखा जा सकता है और किसी आय को छिपाना अथवा कर वंचन करना बहुत कठिन हो जायगा।

इस प्रकार प्रत्यक्ष कर-व्यवस्था के अन्तर्गत पांच कर लागू रखने का सुझाव दिया गया—(१) आयकर, (२) पूँजी लाभकर, (३) शुद्ध धन कर, (४) व्यक्तिगत व्ययकर और (५) अर्पण कर। इनमें से प्रत्येक के सम्बन्ध मे प्रो० काल्डर के निम्नांकित विचार थे—

आयकर

व्यक्तियों और साझेदारी फर्मों पर लगने वाले आय-कर और अतिकर के स्थान पर एक ही आयकर हो, जिसमें २५,००० रुपये की आय तक दरें क्रमशः बढ़ायी जाती रहें और उसके पश्चात् वाली राशि पर ७ आने प्रति रुपये की दर से कर लगाया जाय। इस प्रकार उच्चतम सीमान्त दर (अधिकर के साथ) ४५ प्रतिशत रहे। कम्पनियाँ अपनी सभी आयो पर ७ आने प्रति रुपये की दर से कर दें जो वापस न किया जाय। सभी सूद और लाभांश सम्बन्धी भुगतानों से उच्चतम दर (७ आने प्रति रुपये) से कर घटा कर पाने वाले के आय-कर-खाते मे जमा कर दिया जाय।

पूंजी लाभ कर

सभी पूजी लाभों की प्राप्ति पर, सभी आकस्मिक लाभों और पूजी-प्राप्तियों पर ७ आने प्रति रुपये की दर से कर लगाया जाना चाहिये यदि करदाता की पूंजी लाभों की प्राप्तियों को लेकर सम्मिलित आय २५,००० रुपये से अधिक हो। कम्पनियों के पूंजी लाभों पर व्यावसायिक लाभों की तरह कर लगाना

चाहिए। इस कर के लागू होने पर करदाता की सभी लाभ-प्राप्तियां करारोपित होने लगेंगी।

धन पर वार्षिक कर

व्यक्तियों, हिन्दू अविभक्त परिवारों, साझेदारी संस्थाओं आदि के शुद्ध धन पर निम्नांकित दरों से प्रतिवर्ष धन-कर लगाया जाय —

शुद्ध सम्पत्ति मूल्य	धनकर की दरें
१,००,००० रु० से ४,००,००० रुपये तक	१।३ प्रतिशत
४,००,००१ रु० से ७,००,००० ,, ,,	१।२ ,,
७,००,००१ रु० से १०,००,००० ,, ,,	३।४ ,,
१०,००,००१ रु० से १५,००,००० ,, ,,	१ ,,
१५,००,००० रुपये से ऊपर	१ १।२ ,,

व्यक्तिगत व्ययकर

प्रति वयस्क १०,००० रुपये से अधिक व्यक्तिगत व्यय वर्ष भर में होने पर व्यक्तिगत व्यय-कर लगाया जाय। कर की दरें प्रगामी पैमाने पर १०,००० रुपये से १२५०० रुपये तक की व्यय-शिला पर २५ प्रतिशत से प्रारम्भ होकर प्रति वयस्क ५०,००० रुपये से अधिक वार्षिक व्यय पर ३०० प्रतिशत तक रखी जाय।

सामान्य-अर्पण-कर

१०,००० रुपये से अधिक मूल्य का अर्पण पाने वाले व्यक्ति पर अर्पण कर लगाया जाय। कर लगाने का आधार प्राप्त करने वाले व्यक्ति की शुद्ध सम्पत्ति का वह मूल्य हो जो वार्षिक धन-कर लगाने के लिए निश्चित किया गया हो। यदि शुद्ध सम्पत्तिका मूल्य १,००,०००रुपये से कम हो तो कर की दर १० प्रतिशत रखी जाय, शुद्ध सम्पत्ति मूल्य की राशि जैसे-जैसे अधिक हो कर की दरों को सम्पत्ति-शुल्क की तदनुरूप शिलाओं पर लागू दरों से दूना रखा जाय अर्थात् ये दरें १५ प्रतिशत से ८० प्रतिशत तक शुद्ध सम्पत्ति मूल्य की विविध शिलाओं पर रखी जायँ। वार्षिक धन-कर लागू होने के पश्चात् अर्पण-कर चालू सम्पत्ति शुल्क को

हटाने और उसका स्थान स्वयं लेने योग्य हो सकता है। सम्पत्ति-शुल्क का सैद्धान्तिक आधार पुराना हो चुका है। कर का भार वास्तव में मृतक पर नहीं, बल्कि उत्तराधिकारी पर पड़ता है। किसी व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त उत्तराधिकार में मिली सम्पत्ति अथवा उसके जीवन-काल में अर्पण द्वारा मिली सम्पत्ति में पाने वाले की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है।

व्यक्तियों पर लगने वाले इन सभी नये करों से आगे चलकर लगभग ६० से १०० करोड़ रुपये प्रतिवर्ष की अतिरिक्त प्राप्ति होती रहेगी, ऐसा अनुमान प्रो० काल्डर का रहा। इसमें पूंजी-लाभ-कर से २५ से ४० करोड़ रुपये तक की प्राप्ति, वार्षिक धनकर से १५ से २५ करोड़ रुपये की प्राप्ति, व्यक्तिगत व्ययकर से १० से १५ करोड़ रुपये की प्राप्ति और सामान्य अर्पण-कर से लगभग ३० करोड़ रुपये की सम्भावना रही है। अतिकर हटाने से लगभग १८.३ करोड़ रुपयों की कमी हो सकती है।

व्यक्तिगत करारोपण के सम्बन्ध में पाये जाने वाले कर-वचन को रोकने तथा पूंजीलाभकर, धन पर वार्षिक कर, व्यक्तिगत व्ययकर की प्रशासनिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए प्रो० काल्डर ने सभी पूंजी व्यवहारों का विस्तृत विवरण स्वाभाविक क्रम में दिये जाने की व्यवस्था को लागू करने का सुझाव दिया। उनका यह सुझाव स्वेडन में अपनायी गयी इसी प्रकार की एक पद्धति के अनुरूप रहा है। इस व्यवस्था का संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है —

(१) आयकर अधिकारी द्वारा अपने हलके के प्रत्येक आयकर-दाता को एक सांकेतिक संख्या दी जाय। इस सांकेतिक संख्या में राज्य, जिला, आयकर-हलका की संस्थाओं का निर्देश हो। कोई भी अपने घर वाले जिले के आयकर विभाग में अपना नाम रजिस्टर्ड करा सकता है और अपने लिए एक सांकेतिक संख्या प्राप्त कर सकता है।

(२) सम्पत्तियों के हस्तांतरण-अधिनियम के अन्तर्गत पंजीयन योग्य सम्पत्तियों के हस्तांतरण में हस्तान्तरणकर्ता और प्राप्तकर्ता की सांकेतिक संख्याए अनिवार्यतः स्पष्ट की जायँ। प्राप्तकर्ता इस घोषणा पर भी हस्ताक्षर करे कि वह वास्तविक स्वामी बन रहा है अथवा बेनामीदार या न्यास-धारी है। यदि वह बेनामीदार है तो उसे वास्तविक स्वामी की सांकेतिक संख्या बतानी चाहिए। यदि प्राप्तकर्ता कुछ नहीं घोषित करता तो उसे ही वास्तविक स्वामी माना जाय।

(३) पंजीयन के लिए जब पंजीयन-कार्यालय में हस्तांतरण विलेख दिया

जाय तो उसके साथ उपर्युक्त घोषणाओं को अवश्य प्रस्तुत किया जाय। इसके लिए दो खण्डों वाला प्रमाणक (वाउचर) रखा जाय जिसके एक भाग को सम्पत्ति का विक्रेता भरे और दूसरे को क्रेता। दोनों खण्डों के भरे जाने के पश्चात् प्रमाणक को हस्तान्तरण विलेख के साथ पंजीयन कार्यालय में दे दिया जाय। पंजीयन कार्यालय इसे राजस्व विभाग में भेजे जहाँ से हस्तान्तरणकर्ता और प्राप्तकर्ता के कर-अधिकारियों के पास इन्हें भेजने की व्यवस्था की जाय।

(४) व्ययकर लागू होने पर उपर्युक्त प्रमाणक तीन खण्डों में तैयार किया जाय। तीसरा खण्ड प्राप्तकर्ता अपने पास ही रखे और कर-मुक्त-व्यय के प्रमाण-स्वरूप अपने कर निर्धारक अधिकारी को प्रस्तुत करे।

(५) उन व्यवहारों के सम्बन्ध में भी करदाता अपने लाभ की दृष्टि से उपर्युक्त प्रमाणकों को भरना और जमा करना चाहेगा जिनमें पंजीयन कराना अनिवार्य नहीं है। स्कन्ध-विपणि सम्बन्धी उन व्यवहारों में भी, जहाँ अंशों का वास्तविक हस्तांतरण नहीं होता, बल्कि कई व्यवहारों के समायोजन से शेष का भुगतान होता है, भुगतान करने वाले व्यक्ति से भुगतान प्राप्त करने वाले व्यक्ति द्वारा भरे गये प्रमाणक को मांगा जा सकता है और उसके आधार पर व्यय-कर सम्बन्धी छूट दी जा सकती है।

(६) वस्तुओं और सेवाओं से सम्बन्धित उन भुगतानों को छोड़कर, जो व्ययकर के अन्तर्गत कर-मुक्त कोटि में आते हैं, शेष भुगतानों के संबंध में भी उपर्युक्त प्रकार के प्रमाणक-जैसी रसीद भरकर देना विधानतः अनिवार्य बनाया जा सकता है। भुगतानकर्ता व्ययकर में छूट पाने के लिए इसे भरने की तत्परता दिखायेंगे।

(७) यदि कम्पनियों के अंश रजिस्टर में नाम-मात्र के धारकों के नाम के साथ वास्तविक स्वामियों की सांकेतिक संस्थाएँ दी जायँ तो सूद और लाभांश से होने वाली आयों पर नियन्त्रण रखा जा सकता है; साथ ही पिछले छिपाये गये लाभों द्वारा गुप्त ढंग से खरीदे गये अंशों का भी पता चल सकता है।

इस व्यवस्था से आयकर-विभाग सभी पूंजी व्यवहारों का ज्ञान स्वाभाविक क्रम में रख सकता है और बहुत-सी छिपायी गयी प्राप्तियों और लाभों का पता लगा सकता है। इसे कार्यान्वित करने में भी विशेष लागत नहीं पड़ेगी। पूरे देश में उतने ही लिपिक-कार्य से इसे संचालित किया जा सकता है जितना कि युद्धकाल में किसी एक बड़े शहर में राशनिंग के प्रशासन में आवश्यक होता था।

व्यवसायों पर करारोपण के सम्बन्ध में काल्डर के सुझाव

व्यवसायों पर करारोपण की प्रचलित व्यवस्था के सम्बन्ध में प्रो० काल्डर ने दो प्रमुख तथ्यों पर विचार किया—(१) व्यावसायिक लाभों की गणना में घटाये जाने वाले व्ययों, पूंजीगत व्ययों के लिए छूट तथा पिछली हानियों की व्यवस्था और (२) कम्पनियों पर करारोपण।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है, प्रो० काल्डर के अनुसार कर-वंचन का एक मुख्य कारण व्यावसायिक लाभ निश्चित करते समय घटाये जाने वाले व्ययों और हानियों की व्याख्या का अभाव है। घटाये जाने वाले व्ययों के सम्बन्ध में इनका निम्नांकित सुझाव रहा—

ऐसे घटाये जाने वाले व्ययों को उस वर्ष के लाभ कमाने में पूर्णतया केवल इसी उद्देश्य से अपरिहार्य रूप में किये हुए व्यय के रूप में परिभाषित किया जाय। इस परिभाषा से करदेय लाभ की गणना करदाताओं की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं रहेगी। यदि ऐसे खर्चों को जो किसी लाभ के उपार्जन में अनिवार्यतः नहीं किये जाते लाभ में से घटाये जाने की सुविधा दी जाती है तो इससे अनावश्यक व्ययों को प्रोत्साहन मिलेगा। परिहार्य और स्वैच्छिक व्ययों में विविध प्रकार की सम्पत्तियों की प्राप्ति के व्यय, आवर्तक अथवा अनावर्तक प्रकार के अन्वेषक सम्बन्धी व्यय, अन्वेषण करने वाली और अन्य वैज्ञानिक संस्थाओं को किये गये भुगतान, विज्ञापन और विक्रय-प्रोत्साहन सम्बन्धी विविध व्यय, यात्रा व्यय आते हैं। इन सभी को घटाये जाने की सुविधा उसी सीमा तक दी जा सकती है, जहां तक कि सामाजिक हित की दृष्टि से ये उपयुक्त हों, जैसे—वैज्ञानिक अन्वेषणों पर होने वाले व्यय छूट दिये जाने योग्य हैं, लेकिन इन पर भी सरकार द्वारा यह विचार किया जाना आवश्यक है कि पूरी राशि के लिए छूट दी जाय अथवा उसके किसी अंश या प्रकार के लिए। विज्ञापन आमोद-प्रमोद आदि के सम्बन्ध में भी यही तथ्य विचारणीय है।

प्रो० काल्डर ने आय-कर-गणना के सम्बन्ध में उपार्जित आय के लिए दी जाने वाली छूट पर भी विचार किया। उनके अनुसार केवल वेतन पाने वालों को ही यह छूट मिलनी चाहिए और इस सम्बन्ध में कोई सीमा न लगायी जाय।

पूंजीगत-व्यय के सम्बन्ध में दी जाने वाली छूटों और पूजी संबंधी ह्रासों को घटाने की व्यवस्था पर भी काल्डर महोदय ने अपना मत दिया। उनके अनुसार समत्व की दृष्टि से पूंजीगत ह्रासों की व्यवस्था तभी की जाय जबकि पूंजीगत लाभों पर कर लगाने का प्रावधान हो। प्राप्त-पूंजी-लाभों पर करारोपण का प्रारम्भ

होने के पश्चात् ही पूंजीगत ह्रासों को पूंजी-हानि के रूप में छूट देनी चाहिए अर्थात् सम्पत्तियों के घिसाव और ह्रास से होने वाली पूंजी-हानि जब (उनके विक्रय के क्रम में) वास्तव में प्रगट हो तभी उसके लिए छूट दी जानी चाहिए। यह सिद्धान्त समत्व की दृष्टि से उपयुक्त होते हुए भी सामाजिक हितों की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। सामाजिक हितों की दृष्टि से पूंजीगत व्ययों को प्रोत्साहित करने के लिए ह्रास सम्बन्धी वार्षिक छूट देना आवश्यक है, पर ह्रास सम्बन्धी वार्षिक छूट देने की व्यवस्था जिस प्रकार प्रचलित है उसमें संशोधन की आवश्यकता है। करमुक्ति द्वारा पूंजी-व्ययों को प्रोत्साहन देने के लिए इन्हें भी चालू व्ययों के समकक्ष माना जाय। लेकिन सम्पूर्ण राशि के लिए छूट की व्यवस्था न की जाय बल्कि, सम्पत्ति के सम्भावित जीवन-काल को दृष्टि में रखते हुए उसके एक अनुपात को छूट दी जाय। उदाहरणस्वरूप यंत्रों पर पूंजी-व्यय की दो-तिहाई और उच्च कोटि के भवनों के निर्माण पर हुए पूंजी-व्यय के एक-तिहाई की व्यय वाले वर्ष में ही छूट दी जाय। लाभ की कमी से यदि उपर्युक्त प्रकार की छूट उसी वर्ष नहीं दी जाती तो जो अंश बच रहता है उस पर एक नियत दर से सूद लगा कर छूट के लिये अगले वर्ष में ले जाया जाय।

भारत में यंत्रों पर किये जाने वाले पूजी-व्यय के सम्बन्ध में ह्रास, विकास आदि के लिए दी जाने वाली छूटें इतनी पर्याप्त हैं कि करदाता कर बचाने के लिए पूंजी-व्यय को चालू व्यय के रूप में उल्लिखित करने को उतना उत्सुक नहीं रहता जितना कि चालू व्यय को पूंजी व्यय दिखाने को वह रहता है। काल्डर ने इन्हें जारी रखने के विरुद्ध केवल इतना ही कहा कि यदि पूंजी-व्यय प्रोत्साहित करने के लिए पहले प्रस्तावित छूट की व्यवस्था प्रचलित विधि के बदले की जाय तो राजस्व की दृष्टि से यह क्रम अधिक उपयुक्त होगा।

करदेय लाभ की गणना करते समय घटायी जाने वाली पिछली हानि के सम्बन्ध में इनका यह सुझाव रहा कि एक व्यवसाय से होने वाली हानि को उसी व्यवसाय के आगामी लाभों में से घटाया जाय। अन्य स्रोतों और व्यवसायों से होने वाले लाभों में से दूसरे व्यवसाय अथवा स्रोत की हानि को हानि वाले वर्ष में अथवा आगामी वर्षों में न घटाया जाय। केवल असली व्यापारिक हानि को, जो अपरिहार्य चालू व्ययों की चालू आयों से अधिकता के रूप में प्रगट हो, उसी वर्ष में अन्य व्यावसायिक लाभों से अपलिखित करने की सुविधा दी जा सकती है।

अपलिखित न हो सकने वाली ह्रास सम्बन्धी छूटों को अनन्तकाल तक ले

चलने की जो व्यवस्था भारतीय आय-कर अधिनियम में है उसे नियंत्रित करने का सुझाव भी इन्होंने दिया। इनके मतानुसार अपलिखित न हो सकने वाली पूंजीगत छूटों को व्यावसायिक हानियों की अपेक्षा अधिक नियंत्रित रखना चाहिए। ह्रास सम्बन्धी पूंजी व्ययों पर दी जाने वाली छूटों को उसी व्यवसाय के आगामी लाभों से अपलिखित किया जाय जिनसे वे सम्बन्धित हैं और जबतक वह व्यवसाय उसी स्वामित्व में कायम रहे।

कम्पनी-करारोपण सुधारने के सम्बन्ध में प्रो० काल्डर के सुझाव

कम्पनियों की कुल आय पर ७ आना प्रति रुपये की दर से कर लगाया जाय। यदि पूंजी सम्बन्धी छूटों को पूर्वोक्त ढंगों से विवेकपूर्ण आधारों पर ला दिया जाय तो कम्पनियों पर ६ आने प्रति रुपये की दर से ही कर लगाया जाय।

कम्पनी द्वारा जो भी कर चुकाया जाता है उसे गैरवापसी माना जाय। कम्पनी द्वारा अंशधारियों को दिये जाने वाले लाभांशों में से ७ आने प्रति रुपये की दर से आयकर घटाया जाय और इस राशि को उनके नाम जमा कर दिया जाय।

यदि किसी कम्पनी को दूसरी ऐसी कम्पनी से जिस पर कम्पनी टैक्स लगा दिया गया है, लाभांश मिलता है तो उसे करारोपित न किया जाय।

पूजी-लाभ पर कर लागू करने तथा व्यय-कर प्रारम्भ करने के पश्चात् आय-कर अधिनियम के अन्तर्गत धारा २३ ए को लागू रखने की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी और लाभांश वितरण पर लगाये जाने वाले विभेदीय करों की आवश्यकता भी समाप्त हो जायगी। कम्पनियों पर किये जाने वाले करारोपण को उपर्युक्त करारोपण पद्धति द्वारा व्यक्तिगत करारोपण से अलग कर दिया जाय। कम्पनियां जो भी कर दें अपने लिए दें।

करवंचन पर नियन्त्रण रखने के सम्बन्ध में प्रो० काल्डर के सुझाव

५० हजार रुपये से अधिक व्यावसायिक आय और एक लाख रुपये से अधिक अन्य व्यक्तिगत आय सम्बन्धित खातों का अंकेक्षण अनिवार्यतः होना चाहिए।

अंकेक्षकों पर यह वैधानिक दायित्व हो कि वे इस बात को प्रमाणित करें कि करारोपण के निमित्त प्रस्तुत किये जाने वाले खाते इस प्रकार बनाये गये है जिनसे कर देय वास्तविक आय प्रगट होती है। इन अंकेक्षकों को दी जाने वाली पारिश्रमिक की दर सरकारी विनिमयों द्वारा निश्चित की जाय और अंकेक्षकों के शुल्क

का ५० प्रतिशत सरकार द्वारा देय हो। इन अंकेक्षकों की नियुक्ति सरकारी खातों के नियन्त्रक के अनुमोदन से की जानी चाहिए।

आय-कर-अधिकारियों द्वारा खातों की उचित छानबीन की सुविधा देने के लिए अन्य आवश्यक विधियां अपनायी जायँ।

आय-कर-वंचकों पर लगाये जाने वाले दण्डों में पर्याप्त वृद्धि कर दी जाय। छल-कपट के मामलों में भी अपराध सम्बन्धी कानूनी कार्रवाई न करने की जो वर्तमान नीति है उसे शीघ्रातिशीघ्र छोड़ा जाय।

अन्त में काल्डर महोदय ने यह भी सुझाव दिया कि राजस्व विभाग के प्रशासन स्तर को ऊंचा उठाने के लिए आय-कर-अधिकारियों को दिये जाने वाले वेतन में पर्याप्त वृद्धि की जाय।

यदि उपर्युक्त सुझावों को कार्यान्वित किया जाय तथा भू-राजस्व और उत्पादन शुल्क में भी पर्याप्त संशोधन किये जायँ तो आयोजनों को विशेषतः द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन को सफलतापूर्वक संचालित रखने के लिए पर्याप्त राजस्व संग्रहीत हो सकता है। इनसे भारतीय कर-व्यवस्था को विस्तृत आधार भी दिया जा सकना सम्भव है। अन्य देशों की अपेक्षा कर की उच्चतम दरों को सीमित रखने का सुझाव काल्डर महोदय ने दो तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए दिया—एक तो कर की ऊंची दरें आर्थिक विकास में बाधक होती हैं क्योंकि इनका आर्थिक कार्य-प्रेरणाओं पर अनुचित प्रभाव पड़ता है, दूसरे कर की ऊंची दरें करदाताओं को सभी प्रकार से कर-वंचन और कर-दुराव करने के लिए प्रेरित करती हैं। कर की ऊंची दरों के साथ कर-वंचन की व्यापकता करारोपण के उद्देश्यों की पूर्ति कठिन बना देती हैं।

*

*

परिशिष्ट (स)

प्रत्यक्षकर प्रशासन जाँच-समिति की प्रमुख संस्तुतियाँ

इस समिति की नियुक्ति भारत सरकार द्वारा जून, सन् १९५८ में की गयी थी। श्री महावीर त्यागी इसके अध्यक्ष तथा श्री राजेन्द्र प्रताप सिन्हा, श्री बी० एम० गुप्ते, श्री जी० पी० कपाडिया और के० एस० सुन्दरराजन सदस्य थे। इस समिति को सरकार के सम्मुख ऐसे सुझाव रखने थे जिन से प्रत्यक्ष कराधान की सर्वांगीण योजना कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक प्रशासनिक संगठन और कार्य-शैलियां निकाली जा सकें ताकि कर-वंचन मिट सके और करदाताओं की असुविधाएँ दूर हों। समिति को यह भी छूट दी गयी थी कि वह प्रत्यक्ष करों के अधिनियमों में दिये मूल प्रावधानों को भी संशोधित करने का सुझाव दे सकती थी। ३० नवम्बर, सन् १९५९ को समिति ने अपना प्रतिवेदन सरकार को प्रस्तुत किया। प्रतिवेदन के प्रकाशित होने के पश्चात् से ही समिति की संस्तुतियों के सम्बन्ध में अनेक आलोचनाएँ आने लगी। वित्त अधिनियम १९६० के कुछ प्रावधान तथा आय-कर अधिनियम के आमूल संशोधन की चर्चा उन संस्तुतियों के परिणाम माने जा सकते है। समिति की संस्तुतियां निम्नांकित विषयों से सम्बन्धित रही हैं—

१. प्रत्यक्ष कराधान के सर्वांगीण ढाँचे में विकास से सम्बन्धित प्रमुख तथ्य।

२. कराधान शैली।

३. कराधान के क्रम में उत्पन्न होने वाली विशिष्ट समस्याओं, जैसे विदेशों मे उपार्जित आय तथा सम्पत्ति पर करारोपण, ह्रास सम्बन्धी छूट तथा विकास सम्बन्धी अवहार, डूबे ऋणों के सम्बन्ध में छूट, कम्पनियों के अविभाजित लाभों पर करारोपण, फर्मों का पंजीकरण, कर-निर्धारण की पुनरावृत्ति, गैरनिवासियों पर करारोपण तथा विभिन्न प्रत्यक्ष कर-अधिनियमों के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाली सम्पत्तियों के मूल्यांकन सम्बन्धी समस्याएँ।

४. अपील और पुनरीक्षण।

५. कर वसूली और करों का बकाया।

६. करवापसी।
७. कर-वंचन और कर-दुराव।
८. प्रस्तुत कर प्रशासन व्यवस्था।
९. कर प्रशासन का जनता से समुचित सम्बन्ध।

इन संस्तुतियों का सारांश उपर्युक्त क्रम में नीचे दिया गया है—

(अ) प्रत्यक्ष कराधान के सर्वांगी ढांचे के विकास से सम्बन्धित तथ्यों के सम्बन्ध में संस्तुतियां :—

१. प्रत्यक्ष करों के प्रशासन को सुविधाजनक बनाने के लिए समिति के सम्मुख यह विचार रखा गया था कि इन सभी प्रत्यक्ष करों के लिए एक ही संहिता बना ली जाय। इस सम्बन्ध में समिति ने यह सुझाव दिया कि जब तक कर प्रशासन विभाग और कर-दाता प्रत्यक्ष करों के प्रस्तुत अधिनियमों की गतिविधि का पर्याप्त अनुभव नहीं प्राप्त कर लेते उन्हें अलग-अलग रखा जाय।

२. विभिन्न प्रत्यक्ष कर अधिनियमों के अन्तर्गत करदाता द्वारा अपनी आय, धन, व्यय और अर्पण के सम्बन्ध में दिये जाने वाले विवरण एक ही समय पर दिये जायँ। उन्हें सामूहिक ढंग से एक ही प्रपत्र में देने का क्रम प्रारम्भ करना अभी उपयुक्त नहीं है।

३. सभी प्रत्यक्ष कर अधिनियमों के अंतर्गत कर-निर्धारण अधिकारियों को "प्रत्यक्ष कर अधिकारी" कहा जाय। इसी प्रकार "अपीलीय सहायक आयुक्त प्रत्यक्षकर" "निरीक्षणकर्ता सहायक आयुक्त प्रत्यक्षकर", "प्रत्यक्ष करों के आयुक्त", "प्रत्यक्ष करों के अपीलीय ट्रिब्यूनल" के नाम से अन्य अधिकारी पुकारे जायँ। आयकर विभाग का नाम बदल कर "प्रत्यक्षकर विभाग" कर दिया जाय।

४. अधिनियमों में जल्दी-जल्दी परिवर्तन करने से विभाग की कार्यकुशलता पर अनुचित प्रभाव पड़ता है, इसलिए उन्हें रोका जाय।

५. कर-विधानों में सभी बड़े परिवर्तन जहाँ तक सम्भव हो सके, विशिष्ट संशोधन अधिनियमों द्वारा लाये जायँ वित्त-विधेयकों द्वारा नहीं, जिससे संसद को उनपर विस्तृत रूप में विचार करने का अवसर मिल सके।

६. करारोपण-विधानों को सरल बनाना आसान काम नहीं है; फिर भी यदि विधानों में किये जाने वाले परिवर्तन कम से कम हों और उन के प्रावधानों को

अधिक युक्तिपूर्ण ढंग से स्पष्ट भाषा में रखा जाय तो उनमें वर्तमान द्विविधाओं को बहुत कुछ मिटाया जा सकता है ।

७. सरकार द्वारा करों से प्राप्य राशि वसूलने में सहायता देने वाले उपायों का अपनाया जाना आवश्यक है। इसके लिए कर-प्रशासन-व्यवस्था को ऐसा बनाना है ताकि सरकार बिना करदाताओं को कोई अनुचित असुविधा पहुंचाये करों को पूर्णतः वसूल सके।

(ब) कर-निर्धारण-पद्धति के सम्बन्ध में जाँच-समिति की संस्तुतियाँ

८. कर-निर्धारण वर्ष में ही सभी कर-निर्धारणों को यथासम्भव पूर्ण करने का प्रयास विभाग को करना चाहिए। असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर किसी भी कर-निर्धारण को दो वर्षों से अधिक के लिए नही टालना चाहिए।

कर निर्धारण के सम्पादन में शीघ्रता लाने के उपाय

९. व्यवसाय, पेशा अथवा उद्यम से आय प्राप्त करने वाले करदाताओं को अपना खाता वर्ष समाप्त होने के चार महीनों के भीतर अथवा खातावर्ष के पश्चात् ३० जून तक जो भी बाद में पड़े, अपनी आय का विवरण जमा करने के लिए विधान द्वारा बाध्य करना चाहिए। अन्य करदाताओं के लिए आय का विवरण जमा करने की अंतिम तिथि ३० जून हो, चाहे उनके खाता वर्ष कुछ भी हों। उचित मामलों में जहाँ कि व्यवसाय, पेशा अथवा वृत्ति के खातावर्ष ३१ दिसम्बर के पश्चात् समाप्त होते हों आय विवरण जमा करने के लिए उचित समय बढ़ाने का अधिकार कर-अधिकारी को होना चाहिए। लेकिन अतिरिक्त समय किसी भी प्रकार इतना न हो जो खाता वर्ष की समाप्ति के पश्चात् ६ महीने से अधिक हो। किसी अन्य परिस्थिति मे कर-निर्धारक अधिकारी को आयुक्त से पूर्व अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् ही समय बढ़ाना चाहिए और वह भी ऐसी शर्त पर जिसमे देय हो सकने वाले करके लिए पर्याप्त जमानत देने की व्यवस्था हो। अतिरिक्त समय देने की सभी परिस्थितियों में उस कर पर जो कर-निर्धारण के पश्चात् देय हो सके अनिवार्यतः छः प्रति सैकड़ा सालाना की दर से सूद लगाना चाहिए और इसके लिए विधान में उचित प्रावधान सम्मिलित किये जायँ। जो करदाता निश्चित अथवा बढ़ायी गयी तिथि तक आय-विवरण जमा नही करते उन्हें भारी दण्ड दिया जाय। त्रुटि की अवधि के अनुसार दण्ड परिवर्तनशील रहे।

१०. आय-कर-अधिनियम की धारा २२ (१) के अन्तर्गत दिये गये सर्व-साधारणीय नोटिस देने का प्रावधान समाप्त कर देना चाहिए। इसके बदले प्रत्येक कर-निर्धारण वर्ष के प्रारम्भ में जनता को नियत तिथियों के भीतर आय का विवरण प्रस्तुत करने के दायित्व का संस्मरण दिलाने के लिए साधारण विज्ञापन प्रकाशित कर देना चाहिए।

११. वर्तमान कर-दाताओं को सुविधा के लिए विभाग आय-विवरण का प्रपत्र साधारण डाक से डाक छोड़ने के प्रमाणपत्र के अन्तर्गत इस प्रकार भेजे कि ३० अप्रैल के पूर्व ही उन्हें प्राप्त हो जाय। यदि कोई व्यक्ति नियत समय अथवा बढ़े समय में आय-विवरण प्रस्तुत नहीं करता तो उसे कर्त्तव्य भंग का दोषी समझना चाहिए जब तक कि वह इस बात को प्रमाणित न करे कि उसने समय पर आय विवरण के प्रपत्र के लिए कर-अधिकारी को प्रार्थना पत्र भेजा था और उसे प्रपत्र नहीं प्राप्त हो सका।

१२. सभी प्राप्त हुए आय-विवरणों की प्रारम्भिक जाँच का उत्तरदायित्व इन्सपेक्टर अथवा हेड क्लर्क को देना चाहिए। इस जाँच में प्राविधिक दोषों को निकालना चाहिए जिनका कर-निर्धारण पर विशेष प्रभाव पड़ सकता हो।

१३. यद्यपि कर-निर्धारण की कार्यवाही करदाता की वास्तविक कठिनाइयों के कारण स्थगित करनी पड़ सकती है, फिर भी सामान्य क्रम में स्थगन नहीं होना चाहिए। केवल जहाँ उचित हो वहीं कार्यवाही-स्थगन होना चाहिए।

१४. कर-निर्धारक अधिकारियों को कर-निर्धारण का कार्यक्रम निश्चित करने की पूर्ण स्वच्छन्दता होनी चाहिए। फिर भी करदाताओं के प्रतिनिधियों की सुविधा के लिए उन्हें अपने कार्यक्रमों में परिवर्तन लाने के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए यदि प्रतिनिधि इसके लिए निवेदन करें।

१५. कर-निर्धारक अधिकारियों द्वारा नोटिस देने और उसपर कार्यवाही करने के बीच कम से कम आठ दिन का समय अवश्य देना चाहिए।

१६. कार्य की योजना बनाने और किसी मामले की सुनवाई निश्चित करने के पूर्व उसके अध्ययन की आवश्यकता आयकर-विभाग की अपेक्षा अन्यत्र कहीं भी अधिक नहीं है।

१७. महत्त्वपूर्ण उद्योगों, व्यापारों और पेशों के सम्बन्ध में "प्रभावी पृच्छापत्र" का उपयोग बड़े मामलों तक सीमित रखा जाय और मामलों के तथ्यों से वे सम्बद्ध हों।

१८. प्रत्येक कर-निर्धारक अधिकारी को वर्ष के प्रारम्भ में ही वर्ष भर के कार्य की योजना बना लेनी चाहिए। योजना बनाने में उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि अधिक राजस्व सुलभ कर सकने वाले और पिछड़े मामले वर्ष में काफी जल्दी ले लिए जाँय, किसी मामले के पिछले बाकी कर-निर्धारण-कार्य एक साथ लिये जायँ और विविध प्रत्यक्ष कर अधिनियमों के अंतर्गत किसी एक मामले के सम्बन्ध में किये जाने वाले कर-निर्धारण एक साथ सम्पादित हों।

१९. जहाँ एक ही प्रकार के व्यापार, व्यवसाय आदि के मामले काफी संख्या में सुलभ हों, प्रत्येक व्यापार, व्यवसाय आदि के मामलों को अलग-अलग देखने के लिए कार्यिक क्षेत्र संगठित किये जाने चाहिए।

लघु-आय वर्ग सम्बन्धी योजना

२०. विभिन्न वर्गों के मामलों पर लगाये जाने वाले श्रम और समय की मात्रा उनसे राजस्व की सुलभता के अनुरूप होनी चाहिए। छोटे मामलों पर लगने वाले समय और शक्ति की मात्रा उनसे प्राप्त राजस्व के अनुपात में नहीं होती। अस्तु विभाग को वर्तमान पद्धति हटानी चाहिए और लघु आय वाले मामलों के कर-निर्धारण के सम्बन्ध में बड़े परिवर्तन करने चाहिएँ। इन मामलों में प्राप्त आय-विवरण को प्रारम्भिक छानबीन के पश्चात् प्रायः स्वीकार कर लेना चाहिए और करदाता को कार्यालय में बिना बुलाये ही आयकर अधिनियम की धारा २३ (१) के अन्तर्गत करनिर्धारण कर लेना चाहिए। खातों की विस्तृत जांच और अन्य छानबीन चार वर्षों पर एक बार की जाय। इस नये क्रम का मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ेगा और विभाग तथा लगभग पाँच लाख करदाताओं के बीच अच्छा सम्बन्ध होगा। (इस नयी योजना का विस्तृत विवरण रिपोर्ट के दूसरे अध्याय के अन्तर्गत २७वें पैरा से ३२वें पैरा तक दिया हुआ है।

२१. करदाता के स्थान पर जाकर करनिर्धारण के प्रस्ताव के पक्ष में समिति नहीं है, फिर भी बड़े शहरों, जैसे—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और दिल्ली में लघु आय वाले मामलों को देखने वाले कर निर्धारक अधिकारी विविध मुहल्लों में अपने कार्यालय रखें, यदि मामलों की संख्या देखते हुए ऐसे स्थानीय कार्यालय खोलना उचित हो। देहातों का करदाता यदि अपने मामले की सुनवाई अधिकारी के मुख्य कार्यालय में किये जाने का निवेदन नहीं करता तो उसको उसके निकटतम ऐसे स्थान पर बुलाया जाना चाहिए जहां-कर निर्धारक अधिकारी वर्ष के अन्तर्गत जाता हो।

मध्यम और अधिक आयवाले वर्ग के करदाता

२२. अधिक आय वाले वर्ग से सम्बन्धित करदाताओं के मामलों को यथा-सम्भव अलग कर देना चाहिए और उन्हें अनुभवी तथा योग्य अधिकारियों के सुपुर्द करना चाहिए।

२३. जहां आय-विवरण अथवा खाते पहले स्वीकृत होते रहे हैं वहां प्रत्येक वर्ष उन्हें विस्तृत रूप में नहीं जांचा जाना चाहिए जबतक कि इन मामलों में आय छिपाने आदि के सम्बन्ध में निश्चित सूचना कर-निर्धारक अधिकारी को प्राप्त न हो।

२४. आयकर अधिनियम की धारा १३ के अन्तर्गत अनुमानित कर-निर्धारण के सम्बन्ध में दी हुई शर्त को समाप्त करने के प्रस्ताव के पक्ष में समिति नहीं है। फिर भी इस शर्त के प्रयोग में अनुभव की गयी विविध कठिनाइयों को दूर करने के लिए निम्नलिखित कदम उठाये जायं :—

(अ) स्थानीय परिस्थितियों और प्रथाओं के पर्याप्त अध्ययन के पश्चात् तथा विविध चेम्बरों और व्यापारिक संघों की सलाह से विभाग ऐसे न्यूनतम खातों और खातों के प्रकार को निर्धारित करने की व्यावहारिकता पर विचार करे जिसे प्रत्येक व्यापार, व्यवसाय अथवा वृत्ति के सम्बन्ध में रखा जाना चाहिए। यदि निर्धारित रूप में खाते रखे जायँ अथवा उचित रूप में विक्रयों और क्रयों के प्रमाणकों के साथ खातों को कायम रखा जाय तो उन्हें स्वीकार कर लिया जाय। यही ध्यान रहे कि उनमें भयंकर भूल न हो अथवा छिपाई बिक्री अथवा गुप्त खरीद का प्रमाण न मिलता हो।

(ब) जब भी खाता पुस्तकों द्वारा प्रदर्शित परिणामों को अस्वीकार करने का प्रस्ताव हो तो करदाता को अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करने का अवसर दिया जाय। कर-निर्धारण सम्पूर्ण करने के पहले कर-निर्धारण अधिकारी करदाता को सकल लाभ की उस दर के सम्बन्ध में संकेत दे जिसे अपनाने का प्रस्ताव है तथा उससे मिलते-जुलते मामलों के ऐसे संगत विवरणों को इस प्रकार प्रस्तुत करे ताकि वह व्यक्ति जिससे उन विवरणों का संबंध है पहचाना न जा सके।

(स) उन मामलों में जहां खाते केवल अंशतः विश्वसनीय हों केवल उस हिस्से के लिए अनुमान किये जायँ जो मान्य न हो।

(द) प्रत्येक कर-सर्किल तथा वार्ड में सकल लाभ की दरों के रजिस्टर व्यापार के क्रम द्वारा निर्धारित रूप में रखे जायँ।

(प) प्रत्येक कर-निर्धारक-अधिकारी द्वारा 'निरीक्षणकर्ता-सहायक आयुक्त' को उन मामलों की एक सूची प्रति पक्ष भेजी जानी चाहिए जिनमें आयकर अधिनियम की धारा १३ की शर्तें लागू की गयी हो।

(फ) अपीलीय अधिकारी को इस शर्तें के प्रयोग तथा सकल-लाभ की दरों को लागू करने के विरुद्ध की गयी अपीलों पर अपने आदेश देते समय उन छूटों पर उचित ढंग से पूर्ण विचार कर लेना चाहिए जो वे दे रहे हों।

२५. आय-कर अधिनियम में यह प्रावधान सम्मिलित कर लेना चाहिए कि सभी करदाता प्रत्येक चौथे वर्ष अपनी आय का विवरण प्रस्तुत करते समय अपने कुल धन का विवरण भी दें।

२६. कर-निर्धारण समाप्त करने के पूर्व कर-निर्धारक अधिकारी को कुल आय, कुल धन आदि की अनुमानित गणना कर लेनी चाहिए। यदि प्रस्तावित योग अथवा छूट की राशि कम हो तो अधिकारी मौखिक ढंग से करदाता अथवा उसके प्रतिनिधि से विचार-विमर्श कर सकता है और उस विमर्श का परिणाम आदेश पत्र पर लिख सकता है। फिर भी जब ठोस वृद्धियां प्रस्तावित की जाती हैं तो उसे करदाता को यह अवसर देना चाहिए कि वह लिखित रूप में एक पक्ष के भीतर अपना दृष्टिकोण दे।

२७. व्यवसाय, पेशा अथवा वृत्ति के उन सभी गैरकम्पनी मामलों में जहाँ पिछले तीन वर्षों में से किसी वर्ष ५०,००० रुपये से अधिक आमदनी हो, खातों का अंकेक्षण विधान द्वारा अनिवार्य कर देना चाहिए और अंकेक्षकों को निर्धारित रूप में अंकेक्षण प्रमाण पत्र देना चाहिए। इस प्रकार का अंकेक्षण व्यवसाय, पेशा अथवा वृत्ति के उन मामलों में भी अनिवार्य कर देना चाहिए जहाँ प्रथम वर्ष के आय विवरण में कुल आय ५०,००० रुपये से अधिक दिखायी गयी हो।

कार्य-प्रणाली में सुधार

२८. उन मामलों में जहाँ खाता पुस्तकों को पेश करना आवश्यक है और कर-निर्धारण एक ही सुनवाई में पूर्ण कर दिया जा सकता है, आयकर-विधान की धाराएँ २३ (२) और २२ (४) के अन्तर्गत एक साथ ही और संयुक्त रूप में नोटिसें निकाली जांय।

२९. खाता परीक्षकों की श्रेणी को उस रूप में पुनः चालू करना वांछनीय नहीं है जिसमें यह सन् १९४५ तक था। फिर भी खातों की सामान्य जाँच अथवा

विशिष्ट मामले पर विस्तृत जाँच के लिए कर निर्धारक अधिकारियों को निरीक्षकों की सहायता लेने की अनुमति होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त विविध आयुक्तों के क्षेत्रों के महत्त्वपूर्ण केन्द्रों पर अनुभवी परीक्षकों तथा अधिमान्य चार्टर्ड एकाउंटेन्टों का एक जत्था जटिल मामलोंकी जांच में अधिकारियों की सहायता पहुँचानेके लिये होना चाहिए।

३०. उचित प्रशासनिक निर्देश इस उद्देश्य के जारी किये जायँ कि सच्चे मामलों में बहुत विस्तार में न जाकर मोटे तौर पर छानबीन करके खर्चों के लिए छूट देनी चाहिए और सूद, कटौती और अन्य व्यापारिक बट्टे उन्हीं वर्षों में दिये जायँ जिनमें उनसे सम्बन्धित लेखे पुस्तकों में किये जायँ।

३१. कार्यकारिणी क्रियाओं द्वारा इस बात की व्यवस्था होनी चाहिए कि अन्तिम सुनवाई के पश्चात् कर-निर्धारक अधिकारी को यथाशीघ्र, लेकिन किसी भी परिस्थिति में ३० दिनों से अधिक नहीं, कर-निर्धारण-आदेश जारी कर देना चाहिए। सभी प्रत्यक्ष कर-अधिनियमों के अन्तर्गत ऐसे वैधानिक प्रावधान सम्मिलित कर लिये जायँ जिससे कर-निर्धारक अधिकारी कर माँग की सूचना के साथ कर-निर्धारण की एक प्रमाणित प्रति भी भेजी।

३२. करगणना की जटिलता कम करने के लिए निम्नलिखित कदम उठाये जायँ —

(अ) विधान में ही आयकर की मूल दरें सम्मिलित की जायँ।

(ब) समय-समय पर बजट की आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए वार्षिक वित्त अधिनियमों द्वारा अधिकर की दरों में परिवर्तन किये जायँ। फिर भी जहाँ आवश्यक हो मूल दरों में भी कमी या बेशी की जा सकती है।

(स) आयकर पर अधिकरों का वह अंश जो विभाज्य कोष में जाता हो आयकर की मूल दरों में इस प्रकार सम्मिलित कर लिया जाय कि वर्तमान छूटों पर उनका कोई प्रभाव न पड़े।

(द) कम्पनियों पर करारोपण के मामलों में अतिकर की दर को ५० प्रतिशत रखकर फिर उसमें विविध प्रकार की कम्पनियों के लिए कई छूटों की व्यवस्था करने की अपेक्षा प्रत्येक प्रकार की कम्पनी के लिए अतिकर की प्रभावी दरों को ही अधिनियम में स्पष्ट करना चाहिए।

(प) उन पंजीकृत फर्मों में जिनकी कुल आय ४०,००० रुपयों से अधिक हो, साझीदारों से छूट देने की पद्धति में उचित संशोधन इस प्रकार किये जायँ कि कर-

गणना आसान हो जाय और कराधान के भार अथवा मात्रा पर कोई प्रभाव न पड़े।

(फ) वित्त विधेयक के पारित होने के पश्चात् तत्काल ही विभागीय अधिकारियों को करों की गणना के लिए शीघ्र गणक (रेडीरेकनर) दिये जाने चाहिये।

(न) सभी कर-कार्यालयों में एक या अधिक आगणक यंत्र होना चाहिए।

३३. सभी आयुक्तों के क्षेत्रों में करगणना के पश्चात् अंकेक्षण के लिए 'आन्तरिक अंकेक्षण दल' स्थायी रूप से रखे जायँ। करदाताओं से कर की अधिक वसूली की गलतियों को बतलाने में उन्हें उतना ही उत्साह दिखाना चाहिए जितना कि वे कर के कम भुगतान का पता लगाने में दिखाते हैं। करगणना के प्रारम्भिक अंकेक्षण को आजकल की अपेक्षा अधिक व्यापक और अधिक व्यवस्थित बनाना चाहिए।

३४. कर-निर्धारक अधिकारी को दो अलग-अलग आदेश पत्र रखना चाहिए एक कर निर्धारण सम्बन्धी सभी कार्यवाहियों का संक्षिप्त विवरण रखने के लिए और दूसरा गोपनीय प्रकार के अन्तर्विभागीय पत्र व्यवहारों का विषय लेखाबद्ध करने के लिए।

३५. किसी भी परिस्थिति में केवल इस कारण कर-निर्धारण की कार्यवाही में विलम्ब नहीं होने देना चाहिए कि उसमें और कर वसूली सम्भव नहीं है अथवा उसमें कुछ कर वापसी करनी है।

३६. कर-निर्धारक अधिकारियों को अपने ऊंचे अधिकारियों के पास प्रशासनिक क्रम में उन मामलों की सूची भेजनी चाहिए जिनका कर निर्धारण आय-विवरण प्राप्त होने के १२ महीने के भीतर पूर्ण नहीं किया जा सका। विलम्ब के कारणों का भी उल्लेख होना चाहिये।

३७. विरल मामलों में ही जहाँ राजस्व की पूर्ण न हो सकने योग्य क्षति सम्भावित है सावधानी के लिए कर-निर्धारण किया जाना चाहिए।

३८. आय विवरण के वर्तमान प्रपत्रों को कुछ दृष्टियों से सरल बनाना चाहिए। उन्हें इस प्रकार पुनरीक्षित और अभिनवीकृत होना चाहिए कि वे खाने जो अधिकांशतः बेकार हैं हटा दिये जायँ, प्रत्येक करदाता को केवल उन्हीं मामलों के सम्बन्ध में पूर्ण विवरण देने की आवश्यकता हो जो उसके कर-निर्धारण से संगत हो और साधारण प्रकार की ऐसी पृच्छाएँ जो कर निर्धारण की कार्यवाही के क्रम में प्रायः की जाती हैं, इन प्रपत्रों में सम्मिलित कर ली जायँ।

३९. आय-कर अधिनियम की धारा ६० (२) के अन्तर्गत पूर्वनिश्चित

नियमों के अनुसार छूट देने की केन्द्रीय सरकार की शक्ति 'आयकर-आयुक्त' को विधानतः प्राप्त होनी चाहिए।

कर-वंचन और कर-दुराव के सम्बन्ध में त्यागी समिति के सुझाव

समिति ने इस तथ्य को स्पष्टतः कहा है कि कर-वंचन और कर-दुराव की समस्या सभी देशों में व्याप्त है। यह केवल भारत की ही विशेषता नहीं है और न यहाँ के लिए नयी समस्या ही। करदाता चाहे कर-वंचन करें अथवा कर-दुराव, उनकी क्रियाओं का परिणाम एक ही होता है अर्थात् सरकार को राजस्व सम्बन्धी क्षति पहुँचती है और उन कर-दाताओं पर अधिक कर-भार पड़ता है जो ऐसे व्यवहार नहीं अपनाते। समिति ने कर-वंचन की मात्रा को उतना विशाल नहीं माना जितना कि प्रो० काल्डर ने अपनी रिपोर्ट में संकेत किया था।

समिति ने कर-वंचन के कारणों पर सम्यक् विचार किया। उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया कि कर की दर जितनी ऊंची होगी कर-वंचन और कर-दुराव का लोभ भी उतना ही अधिक होगा। लेकिन भारत में कर-वंचन की अधिकता के लिए कर की दरों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। प्रत्यक्ष कर अधिनियमों के जटिल प्रावधानों को, जिनमें सभी सुबोध नहीं हैं, कर-वंचन और कर-दुराव के लिए कुछ हद तक जिम्मेदार कहा जा सकता है। कर-विभाग के कर्मचारियों की शक्तियों की अपर्याप्तता भी कर-वंचन का एक कारण है। कर-निर्धारण और अनुसन्धान कार्य के चालू तथा पिछले बकाया भाग को पूरा करने के लिए काफी संख्या में प्रशिक्षित तथा अनुभवी कर्मचारियों को विभाग के अन्तर्गत रखने की आवश्यकता है। इसके साथ ही विभाग की कार्य-पद्धति और संगठन को कुशलता की चरम सीमा पर लाना चाहिए। जब तक कि कर-वंचकोंको यह न समझा दिया जाय कि आय छिपाने के प्रयास केवल अलाभ-प्रद ही नहीं होंगे, बल्कि उन्हें जेल भी भिजवा सकते हैं तब तक कर-वंचन पर प्रभावपूर्ण प्रतिबन्ध नही लगाया जा सकता। कानूनी कार्रवाई न करने तथा भारी दण्ड न लगाने से निःसन्देह कर-वंचन को प्रोत्साहन मिला है। किसी भी अपराध का प्रमुख निरोधक जनमत का दबाव है और यदि प्रत्यक्ष कर अधिनियमों के गोपनीयता-सम्बन्धी प्रावधानों को सीमित रूप में भी ढीला कर दिया जाय तो उनसे कर-वंचन रोकने में बड़ी सहायता मिल सकेगी।

समिति के अनुसार खुदरा व्यापारियों द्वारा बिक्री-कर बचाने के लिए किए

गये प्रयास के क्रम में बिक्रियों का छिपाव आय-कर-वंचन भी लाता है। नागरिकों में नैतिक दृष्टिकोण जागृत करने तथा श्रेष्ठतर नागरिक भावना बढ़ा कर कर-वंचन बहुत कुछ मिटाया जा सकता है। कर-निर्धारक अधिकारी और करदाताओं के बीच पारस्परिक अविश्वास भी कर-वंचन को कुछ हद तक प्रोत्साहन देता है। इस सम्बन्ध में कर-प्रशासन को पहले कदम उठाना है और करदाताओं पर विश्वास करना है तथा न्याय और निष्पक्षता की ऊंची भावना के साथ अपने को आगे चलाना है। विभागीय अधिकारियों को केवल ईमानदार ही नहीं होना चाहिए बल्कि सन्देहों से परे होना चाहिए और अपने व्यक्तिगत तथा आर्थिक जीवन में उन्हें ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि उनके किसी भी कार्य का गलत अर्थ न लगाया जाय।

कर-वंचन के प्रमुख कारणों और उन्हें दूर करने के सामान्य उपायों पर विचार करने के पश्चात् समिति ने कर-वंचन मिटाने से सम्बन्धित निम्नलिखित तथ्यों के अन्तर्गत प्रमुख सुझाव प्रस्तुत किये—जाँच और अनुसन्धान की विधियां, अधिकारियों की शक्तियां, दड और कानूनी कार्रवाइयां, ऐच्छिक प्रकटीकरण, कर-विधान में संशोधन, प्रचार, जनता की नैतिक भावनाओं का उद्‌बोधन।

जांच और अनुसन्धान की विधियों के बारे में सुझाव

१. सर्वेक्षण क्षेत्रों को पुनर्गठित करके तथा उनमें कर्मचारियों की संख्या बढा कर बाह्य सर्वेक्षण कार्य को अधिक महत्त्व देना चाहिए। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और दिल्ली-जैसे बड़े शहरो मे एक 'निरीक्षणकर्ता-सहायक-आयुक्त' को केवल सर्वेक्षण कार्य के अधिकारी के रूप मे ही रखना चाहिए।

२. निरीक्षण के क्रम में विभिन्न 'निरीक्षणकर्ता-सहायक-आयुक्तों' का यह दायित्व होना चाहिए कि वे देखे कि सर्वेक्षण के अन्तर्गत संगृहीत सूचनायें कर-निर्धारक अधिकारियों द्वारा उचित ढंग से प्रयुक्त होती हैं। सर्वेक्षण में भवनों के निर्माण तथा उनसे मिलने वाले किराये की आय के विषय में सूचनाओं के संग्रह पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

३. निरीक्षणकर्ता अधिकारियों तथा आयुक्तों को सामयिक जाँच से यह देख लेना चाहिए कि आन्तरिक सर्वेक्षण कार्य की उपेक्षा नही हो रही है और न वह पिछड़ रहा है।

४. विशेष अनुसन्धान शाखाओं को पुनर्गठित किया जाय और उन्हें बम्बई,

तथा कलकत्ता में सहायक आयुक्तों के अधिकार में तथा अन्य क्षेत्रों में पुराने आयकर अधिकारियों के अधीन रखा जाय।

५. इस प्रकार के नियम बनाये जायँ जिनके अधीन ठेकेदारों आदि को किये जाने वाले भुगतानों की सूचना 'आयकर-विभाग की मिलान करनेवाली शाखा को भेजने का दायित्व सरकारी तथा अर्द्ध सरकारी विभागों पर रहे।

६. मिलान करने वाली शाखा को 'अनुसन्धान और खुफ़िया-निदेशक' के नियन्त्रण में रखा जाय और इसका प्रमुख अधिकारी निरीक्षण उप-निदेशक हो।

७. यह देखना 'निरीक्षणकर्ता सहायक आयुक्त' का दायित्व होना चाहिए कि मिलान करने वाली शाखा से कर निर्धारक अधिकारियों को जो सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं उनका उचित उपयोग होता है।

८. जैसे और जब आवश्यक हो अन्य विशेष क्षेत्र कायम किये जायँ।

९. कार्यस्थल पर ही श्रेष्ठ प्रकार का कार्य संचालन कराने, स्थानीय ज्ञान का अधिक उपयोग कराने तथा कार्य अधिक शीघ्रता से पूरा कराने के लिए विशेष क्षेत्रों का नियन्त्रण--जिसमें कर-निर्धारण तथा अनुसन्धान-जैसे प्राविधिक कार्य भी सम्मिलित हों--आयकर के प्रदेशीय आयुक्तों को सौप देना चाहिए।

१०. कर-वंचन सम्बन्धी मामलों को सँभालने में केन्द्रीय हलके पर्याप्त प्रभावपूर्ण सिद्ध हुए हैं, इसलिए इन्हें रखा जाय। लेकिन इन हलकों में पिछड़ा कार्य बहुत अधिक है और चूकि राजस्व की बड़ी राशियां इनमें सन्निहित हैं इसलिए कर-निर्धारण कार्य वर्तमान वर्ष तक पूर्ण करने पर विशेष जोर देना चाहिए। ज्यों ही संबंधित अवधि के अनुसन्धान पूर्ण होते हैं और कर-निर्धारण कार्य वर्तमान वर्ष तक आ जाता है इन मामलों को प्रादेशिक हलकों को पुनः हस्तान्तरित कर दिया जाय और नये मामले जिनमें अनुसन्धान की आवश्यकता हो केन्द्रीय हलकों द्वारा ले लिये जायँ।

११. निरीक्षण (अनुसन्धान) निर्देशनालय (डाइरेक्टरेट आव इन्सपेक्शन इन्वेस्टिगेशन) को 'अनुसन्धान और गुप्त वार्ता निर्देनशनालय' के नाम से पुनर्गठित करना चाहिए। इस निर्देशनालय को स्वयं उपयोगी सूचनाओं तथा विभाग के अनुसन्धान कार्यो का निर्देशन करते हुए अधिक ठोस ढंग से कार्य करना चाहिए।

१२. करदाताओं को सही करदायित्व निश्चित करने में जो सूचनाएँ उपयोगी हों उन्हें संगृहीत करने, उनका मिलान करने तथा उनका वितरण करने की व्यवस्था निर्देशनालय करे और उसके लिए उत्तरदायी रहे।

१३. विभिन्न आयुक्तों के हलकों में किये जाने वाले अनुसन्धानों को निर्देशनालय केवल समन्वित ही न करे, बल्कि विशेष जटिल मामलों के अनुसन्धानों में पटु प्राविधिक सहायता प्रदान करे।

१४. निर्देशनालय तथा कुछ आयुक्तों के कार्यालयों को आधुनिक यान्त्रिक साधनों, जैसे—फोटोस्टैट मशीन, इन्फ्रारेड फोटोग्राफिक यंत्र और अल्ट्रावायलेट यंत्र से युक्त होना चाहिए।

१५. विशेषज्ञों की ऐसी परिषद की, जिसमें गैर सकारी व्यक्ति भी हों, स्थापना करवंचन रोकने में विशेष सहायक नहीं होगी फिर भी अनुसंधान और गुप्त वार्ता निर्देशनालय में ऐसे कर्मचारियों को जिनकी कार्य-कुशलता प्रमाणित हो चुकी हो और जो विशेष उद्योग और व्यापारों के कर-निर्धारण में अनुभव रखते हों विशेषज्ञों के रूप में नियुक्त किया जाय। अभी छः विशेषज्ञ नियुक्त किये जायँ, प्रत्येक निम्नलिखित उद्योगों और संबंधित व्यापारों में से एक-एक के लिए हो—(१) सूती वस्त्रोद्योग, (२) कृत्रिम रेशम के सहित अन्य वस्त्रोद्योग तथा कागज उद्योग, (३) चीनी और संबंधित उद्योग, (४) लोहा और इस्पात तथा इंजीनियरिंग उद्योग, (५) सीमेन्ट उत्पादन तथा भवनों के ठेकेदार, (६) खान और खदाना पेट्रोल और सम्बन्धित पदार्थ।

१६. आय-कर अनुसन्धान सम्बन्धी मामलों की समाप्ति के पश्चात् निरीक्षण (विशेष अनुसन्धान) निर्देशनालय-जैसे विशेष निकाय की आवश्यकता नहीं रह जायगी।

१७. वर्तमान परिस्थितियों में बड़े पैमाने पर कर-वंचन के मामलों को तय करने के लिए आय-कर-अनुसन्धान आयोग-जैसे अलग निकाय की रचना न तो व्यावहारिक है और न आवश्यक ही है।

१८. ग्रूप सहायक आयुक्त के हलकों की प्रणाली अन्य सुविधाओं के अतिरिक्त कर-वंचन रोकने में भी सहायक होगी।

१९. कर-निर्धारण पद्धतियों के सम्बन्ध में कुल धन का विवरण देने के लिए जो सुझाव दिया गया है उसे कार्यान्वित करने से कर-वंचन को भी सफलतापूर्वक रोका जा सकता है।

२०. व्यवसाय, पेशा अथवा वृत्ति से ५०,००० रुपये से अधिक आय वाले मामलों में लेखा पुस्तकों का अनिवार्य अंकेक्षण कराने से कर-निर्धारक अधिकारियों को आय के छिपाव तथा खातों के पटु-प्रबन्ध का पता हो सकता है।

कर-अधिकारियों की शक्ति के सम्बन्ध में सुझाव

इस सम्बन्ध में अपने सुझाव देने के पूर्व समिति ने दूसरों से प्राप्त विचारों का विश्लेषण किया। इस सुझाव को कि सभी व्यापारियों को अपना खाता व्यावसायिक सिद्धान्त के आधार पर रखने को विधानतः बाध्य किया जाय, समिति ने वर्तमान स्थिति में कार्यान्वित करने योग्य नहीं माना। इसी प्रकार ऐसी कोई योजना जिसमें करदाताओं को अपना खाता ऐसी पुस्तकों में रखने को कहा जाय जिस पर विभाग के अधिकारियों के हस्ताक्षर और उनकी मुहर पहले से हो, समिति के अनुसार सन्तोषप्रद ढंग से नही चल सकती और इससे लाभ के बदले हानि की विशेष सम्भावना है। इस सुझाव को भी समिति ने व्यावहारिक नहीं समझा कि एक निश्चित सीमा से अधिक राशि का भुगतान चेक से ही किये जाने के लिए वैधानिक अनिवार्यता लायी जाय। समिति के अपने सुझाव निम्नांकित हैं—

१. करदाताओं की असुविधाएँ दूर करने के लिए उनके चालू खातों की जाँच आयुक्त की अनुमति लेकर उनके व्यवसाय भवन में ही करनी चाहिए।

२. तलाशी और पकड़ सम्बन्धी प्रस्तुत वैधानिक प्रावधान पर्याप्त है, इनमें किसी बड़े परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है, लेकिन सामयिक कार्रवाई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

३. बैंक और अन्य साख-संस्थाएँ अपने ऐसे ग्राहकों का नाम और पता दें जिनकी प्रतिवर्ष की जमा या निकासी एक लाख रुपये से अधिक हो। इस पर सरकार रिजर्व बैंक आव इंडिया की सलाह लेते हुए विचार करे।

४. जीवन बीमा प्रमण्डल को विधानतः इसके लिए बाध्य किया जाना चाहिए कि वह ऐसे प्रत्येक व्यक्ति का नाम और पता दे जो ५०,००० रुपये तक या अधिक के लिए अपने नाम में अथवा किसी अन्य के साथ संयुक्त नाम में जीवन बीमा पालिसी लिये हों। साधारण बीमा कम्पनियो को भी विधानतः बाध्य किया जाना चाहिए कि वे पांच लाख रुपये अथवा अधिक मूल्य वाली उन सामान्य बीमा पालिसियों का संक्षिप्त विवरण दें जो एक ही व्यक्ति द्वारा अकेले अथवा बहुसांख्यिक रूप में ली गयी हों।

५. यह आवश्यक है कि करवंचन रोकने के सम्बन्ध में विविध राजस्व विभागों द्वारा की जाने वाली कार्रवाइयों को उचित ढंग से समन्वित किया जाय और इसके लिए विभिन्न विभागों की सुलभ उपयोगी सूचनायें नियमित और व्यवस्थित ढंग से आपस में अदली बदली जांय। विभिन्न विभागों में पारस्परिक सम्पर्क सम्बन्धी

वर्तमान प्रबन्धों में सुधार लाना चाहिए और उन्हें अधिक व्यवस्थित आधार पर रखना चाहिए।

६. एक निश्चित सीमा से अधिक मूल्य वाली सम्पत्तियों के हस्तांतरण के पंजीकरण के पूर्व पंजीयन करने वाले अधिकारियों द्वारा कर-निर्धारक अधिकारियों से प्राप्त कर चुकता करने का प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करने की बाध्यता लगाने का प्रस्ताव अनावश्यक है।

७. प्रो० काल्डर द्वारा अपनी रिपोर्ट में प्रस्तावित अपने आय विवरण प्रस्तुत करने की व्यवस्था (सिस्टम ऑव ऑटोमैटिक रिपोर्टिंग) लागू करने से कार्य मात्रा में अत्यधिक वृद्धि होगी और भारत की वर्तमान स्थिति में यह कार्यान्वित होने योग्य नही है।

८. कर-वंचकों को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए बेनामी सौदे करने से रोकने के लिए उन वयानों की प्रतिलिपि मामले से सम्बन्धित किसी पक्ष को उनके निवेदन पर देना चाहिए जो सम्पत्ति के स्वामित्व के बारे में प्रत्यक्ष कर अधिकारियों के सम्मुख ऐसे सौदे के किसी पक्ष द्वारा दिये गये हो। इसके लिए प्रत्यक्ष कर अधिनियमों में दिये गये गोपनीयता सम्बन्धी प्रावधानों में परिवर्तन करना चाहिए।

९. अंशों के निरंक हस्तान्तरों के माध्यम से बेईमान करदाता विभाग से अपनी आय छिपा लेते है और यदि किसी प्रकार छिपावों का पता चल भी जाता है तो करों की अदायगी से वे बच जाते हैं, क्योंकि अंश उनके नामों में रजिस्टर्ड नहीं होते इसलिए उन्हें जब्त नहीं किया जा सकता और न (कर वसूली के लिए) बेंचा ही जा सकता है। निरंक हस्तांतरों को रोकने का प्रभावी ढंग ऐसे हो सकता है कि हस्तांतरकर्त्ता द्वारा लिखे गये हस्तांतर विलेख स्कन्ध विपणि (स्टाक इक्सचेन्ज) द्वारा रजिस्टर्ड किये जांय और साथ ही उन पर तारीख भी डाल दी जाय। विधान में इस प्रकार की व्यवस्था की जाय कि उपर्युक्त तारीख के बाद ६ महीने तक ही हस्तान्तरविलेख चालू माने जांय और इन ६ महीनों की अवधि में ही बहु हस्तान्तरण की अनुमति रहे।

१०. उपर्युक्त सस्तुति के नियन्त्रण निम्नलिखित मामलों में लागू न किये जायें :—

(अ) जहां जमानत के रूप मे अथवा सुरक्षित रखे जाने के लिए किसी बैंकिंग कम्पनी को अंश हस्तांतरित किये जायँ।

(ब) जहां निरंक हस्तान्तरों पर एक कम्पनी के संचालकों द्वारा अथवा

एक रजिस्टर्ड फर्म के साझेदारों द्वारा अथवा प्रत्ययी रूप में न्यासधारियों द्वारा अंश रखे जांय।

फिर भी बैंक इसके लिए बाध्य रहें कि वे अपने यहाँ निरंक हस्तांतरों पर रखे गये अंशों का संक्षिप्त विवरण वार्षिक लेखे द्वारा कर-अधिकारी को दें।

११. सूचना देने वालों को इनाम देने की वर्तमान प्रथा चालू रखी जाय, लेकिन गलत सूचना देने वालों पर दण्ड लगाना चाहिए। विभाग को यह शक्ति दी जानी चाहिए कि वह उन व्यक्तियों को दण्ड सम्बन्धी कार्यवाहियों अथवा कानूनी कार्रवाइयों से छुटकारा दे सके जो इस प्रकार के अपराध में सहायक होते हुए भी करदाता के विरुद्ध गवाही देते हैं। किसी गुमनाम अथवा गलत नाम से आने वाली अर्जी पर तब तक कोई कार्रवाई न की जाय जब तक कि उसमें कुछ विशिष्ट सूचनाएँ न दी हुई हों।

१२. ठेकेदारों तथा आयात-निर्यात के लाइसेन्सों के प्रार्थियों को कर-निर्धारक अधिकारियों से प्राप्त कर चुकता करने का प्रमाणपत्र प्रस्तुत करने की वर्तमान व्यवस्था तथा उन पत्रों के निर्गमित करने से सम्बन्धित शर्तें कर-वंचन तथा कर-भुगतान की अवलेहना रोकने में प्रभावी रही हैं। ऐसे व्यक्तियों को करचुकता का प्रमाण-पत्र देने से इन्कार नहीं होना चाहिए जिन्होंने पहले कभी कर-वंचन किया हो अथवा कर-भुगतान न किया हो, लेकिन जो कम से कम लगातार तीन वर्षों से कर-अधिकारियों के यहाँ स्पष्ट लेखा रखते हों।

दण्ड और कानूनी कार्रवाई के सम्बन्ध में सुझाव

१. आयकर अधिनियम की धारा २८ और अन्य प्रत्यक्ष कर-अधिनियमों की समानपदी धाराओं के बदले दण्डों की विस्तृत अनुसूची तैयार करायी जानी चाहिए और उसे विधानों में सम्मिलित कराना चाहिए। इस अनुसूची में जान-बूझकर किये गये छिपावों अथवा भारी या मनसापूर्ण असावधानियों को भूल अथवा जानबूझकर न की हुई असावधानियों से अलग मानना चाहिए तथा दूसरी कोटि के लिए पहली की अपेक्षा हलके दंड दिये जाने की व्यवस्था हो। छिपाव अथवा जानबूझकर गलत विवरण देने पर अधिकतम दण्ड छिपायी जाने वाली कर्रराशि से १५० प्रति सैकड़ा तक ही रहे।

२. प्रत्यक्ष कर-अधिनियमों के दण्ड प्रावधानों को यूनाइटेड किंगडम के सन् १९५२ वाले आयकर अधिनियम की धारा ४९ (१) के अनुरूप कर देना चाहिए

ताकि आय, धन आदि बताने की भूल किसी छल अथवा जानबूझकर की गयी असावधानी का परिणाम नहीं, यह प्रमाणित करने का दायित्व करदाता पर ही रहे।

३. दण्ड लगाने में 'निरीक्षणकर्ता सहायक आयुक्तों' का अनुमोदन पहले प्राप्त करने की बाध्यता ऐसे गम्भीर अपराधों में ही होनी चाहिए जहाँ लगाया जाने वाला दण्ड भारी हो। इसके अतिरिक्त विधान में ऐसी व्यवस्था हो कि निरीक्षणकर्ता ऐसे मामलों में लगाये जाने वाले दण्ड को अनुमोदित करने के पूर्व करदाताओं का दृष्टिकोण सुने। कानून इस प्रकार सशोधित किया जाय कि कर-निर्धारण आदेश अथवा अपीलीय सहायक आयुक्त या अपीलीय ट्रिब्यूनल के अपीलीय आदेश अथवा आयुक्त के पुनरीक्षण आदेश जारी करने के एक वर्ष के भीतर दण्ड सम्बन्धी कार्रवाई पूरी होनी चाहिए।

४. कर-वंचन के स्पष्ट मामलों में कानूनी कार्रवाई न करना उचित नहीं कहा जा सकता। जानबूझकर किये जाने वाले छिपाव के सभी मामलों में, जहाँ पर्याप्त प्रमाण सुलभ है, नियमतः अपराध सम्बन्धी कानूनी कार्रवाई करनी चाहिए।

५. सरकार इस पर विचार करे कि क्या भारतीय दण्ड संहिता की १७७, १९१, १९२, १९९, और सम्भवतः १८१ धाराएँ प्रत्यक्ष कर-अधिनियमों में भी विशिष्टतः निर्देशित हो सकती है। भारतीय दण्ड सहिता के प्रावधानों का उपयोग करारोपण विधानों के प्रावधानों की अपेक्षा अधिक किया जाना चाहिए और प्रत्यक्ष-कर-अधिनियमों में ऐसे विशिष्ट प्रावधान होने चाहिए जिनसे विभाग (कर-प्रशासन) को भारतीय दण्ड सहिता के अन्तर्गत कार्रवाई करने की स्वतन्त्रता रहे। आय, धन आदि के जानबूझकर किये गये छिपाव को आयकर अधिनियम की धारा ५२ और अन्य प्रत्यक्ष कर-अधिनियमों के समानपदी प्रावधानों के अन्तर्गत दण्डनीय अपराध बना देना चाहिए। आय-विवरण प्रपत्र मे ही इस मन्तव्य का एक लेखा होना चाहिए कि कोई भी झूठा या असत्य कथन आयकर अधिनियम की २८ और ५२ धाराओं या अन्य प्रत्यक्ष कर-अधिनियमो के समानपदी प्रावधानों और भारतीय दण्ड सहिता की धारा १७७, और १९९ के अन्तर्गत दण्डनीय होगा। सम्बन्धित धाराएँ भी विवरण प्रपत्र में पूर्ण रूपेण उद्धृत होनी चाहिए।

६. कारावास की अधिकतम अवधि बढ़ाने मात्र से इस समय कोई लाभ नहीं होगा जब कि पिछले कई वर्षों में इस सम्बन्ध में अपराधी ठहराने के लिए कोई कानूनी कार्रवाई नहीं की गयी है। वर्तमान स्थिति में कारावास की न्यूनतम अवधि निश्चित करना भी आवश्यक नहीं है, लेकिन अब से यदि विभाग यह पावे कि न्यायालय

कारावास दण्ड देने के विरुद्ध है तो प्रस्तुत विधान में इस प्रकार के संशोधन लाने के प्रश्न पर विचार किया जा सकता है जिससे अपराधी करार किये जाने पर न्यूनतम कारावास दण्ड की व्यवस्था हो।

७. प्रत्येक आयुक्त के हलके में एक "एनफोर्समेंट ब्रांच" होना चाहिए जिसके विशिष्ट दायित्व कानूनी कार्रवाई किये जाने योग्य मामलों की जाँच करना, कानूनी कार्रवाई प्रारम्भ करना तथा उसे चलवाना हो। आय-कर अधिनियम की धारा ५१ तथा अन्य प्रत्यक्ष कर-अधिनियमों के तदनुरूप प्रावधानों के अन्तर्गत उल्लिखित अपराधों के सम्बन्ध में की जाने वाली कानूनी कार्रवाई आयुक्त का अनुमोदन प्राप्त करके प्रारम्भ करनी चाहिए। आयकर अधिनियम की धारा ५२ और अन्य प्रत्यक्ष कर-अधिनियमों, तदनुरूप प्रावधानों अथवा भारतीय दंड संहिता के किसी भी प्रावधान के अन्तर्गत उल्लिखित अपराधों के सम्बन्ध मे की जाने वाली कानूनी कार्रवाई सेन्ट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू का अनुमोदन पहले प्राप्त करके प्रारम्भ करनी चाहिए ताकि इस सम्बन्ध में समान नीति अपनायी जा सके।

८. जिन अपराधों के लिए कानूनी कार्रवाई की जा रही है उनमे सुलह करने की वर्तमान शक्तियाँ कायम रखी जाय। लेकिन इनका प्रयोग सामान्यतः नही, बल्कि असाधारण परिस्थितियों में किया जाय। किसी भी अपराध में सुलह करने का प्रयास विशेषतः केवल इसलिए न किया जाना चाहिए कि सुलह के लिए दिये जाने वाले शुल्क की राशि बड़ी है। किसी भी मामले में कानूनी कार्रवाई करने की अनुमति देने वाले अधिकारी से अनुमोदन प्राप्त करने के पश्चात् ही सुलह होनी चाहिए।

९. आयकर अधिनियम की धारा २८(४) के उन प्रावधानों तथा अन्य प्रत्यक्ष कर-अधिनियमों के तदनुरूप प्रावधानों को निकाल दिया जाय जिनमे वैसे तथ्यों के लिए कानूनी कार्रवाई वर्जित की गयी है जिनके आधार पर एक बार आर्थिक दण्ड लगाया जा चुका है।

१०. कर-वंचन मे सहायक होना भी कर-विधानों के अन्तर्गत दण्डनीय बना दिया जाना चाहिए। सन् १९५१ वाले आय-कर (संशोधन) विधेयक मे दिये गये इस सम्बन्ध के प्रावधान के अनुरूप व्यवस्था अन्य प्रत्यक्ष कर अधिनियमों में की जानी चाहिए।

११. बीस हजार रुपये से अधिक आय के सम्बन्ध में दिये जाने वाले आय-विवरण प्रपत्र में तथा अन्य प्रत्यक्ष कर-अधिनियमों के अन्तर्गत दिये जाने वाले

विवरण प्रपत्र में करदाता के उस प्रतिनिधि का, जो करदाता के लिए विवरण प्रपत्र तैयार करता है अथवा उसकी तैयारी में सहायता पहुँचाता है, प्रमाण पत्र तथा उसकी घोषणा नियत रूप में होनी चाहिए।

करदाता द्वारा ऐच्छिक स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में सुझाव

सन् १९५१ में लोगों को स्वेच्छा से अपनी छिपायी आयों के स्पष्टीकरण की सुविधा देने के लिए जो आन्दोलन चलाया गया था उसे त्यागी-समिति ने वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल नहीं समझा। इस संबंध में उसका यह सुझाव था कि ऐसे विशेष प्रकार के मामलों में समझौते के लिए आयकर अधिनियम में जो सीमित शक्तियाँ सुलभ हैं उन्हें विस्तृत कर देना चाहिए। प्रत्यक्ष कर अधिनियमों के अन्तर्गत की जाने वाली कानूनी कार्रवाइयों के किसी भी स्तर पर करदाताओं से समझौता करने का अधिकार सेन्ट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू को होना चाहिए। प्रशासनिक ढंग से यह व्यवस्था होनी चाहिए कि प्रत्यक्षीकरण के वे मामले जहाँ दो लाख रुपये या उससे कम कर आता है आयकर आयुक्त द्वारा निबटाये जायँ। लेकिन जिसमें कर-राशि दो लाख रुपये से अधिक आती हो ऐसे मामले एक ऐसी समिति द्वारा निबटाये जायँ जिसमें सेन्ट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू के अध्यक्ष तथा दो सदस्य हों।

विधान में संशोधन लाने के सुझाव

समिति ने कर-वंचन रोकने के लिए कर विधान में कुछ प्रमुख संशोधन लाने का सुझाव दिया है। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है—

१. आयकर अधिनियम की धारा ४ (१) (ब) (iii) के अन्तर्गत विदेशी लाभ से भेजी गयी जो राशि कर-मुक्त मानी जा रही है उसे कर योग्य बना दिया जाय।

२. आयकर अधिनियम की धारा ४ (३) (i) के अन्तर्गत दातव्य प्रन्यासों की आय को कर-मुक्त बनाने से सम्बन्धित वर्तमान प्रावधानों को निम्नांकित ढंग से सशोधित किया जाय—

(अ) अन्य किसी विधान अथवा विनियमन के अन्तर्गत जिन दातव्य संस्थाओं के खातों के अंकेक्षण की व्यवस्था की जाती है उन्हें छोड़कर अन्य सभी ५००० रुपये या अधिक आय वाली ऐसी संस्थाओं के खाते अनिवार्यतः अकेक्षित कराये जायँ और अंकेक्षक द्वारा निर्धारित रूप में एक प्रमाण पत्र कर-निर्धारक अधिकारी को कर-विमुक्ति के दावे को प्रमाणित करने के लिए दिया जाय।

(ब) जो प्रन्यास ऐसा व्यवसाय चलाता हो जिसे प्रन्यास के प्राथमिक उद्देश्य की पूर्ति के क्रम में नहीं माना जा सकता उसे आयकर अधिनियम की धारा ४ (३) (।) के अन्तर्गत कर-मुक्ति नहीं मिलनी चाहिए। इस बात को धारा के प्रमुख अंश में ही स्पष्ट कर देना चाहिए।

(स) जहाँ प्रन्यास विलेख में ऐसा वाक्यांश हो कि प्रन्यास के कोषों का उपयोग दान देने वाले के परिवार के सदस्यों अथवा सम्बन्धियों के लिए किया जायगा या प्रन्यास के दातव्य उद्देश्यों के निर्वाह में ऐसे सम्बन्धियों या सदस्यों को प्राथमिकता दी जायगी तो धनकर अधिनियम की धारा ५ (१) (।) के अन्तर्गत कर-मुक्ति नहीं दी जानी चाहिए।

(द) यदि किसी दातव्य प्रन्यास द्वारा गत वर्ष के अन्तर्गत किसी समय ऐसी औद्योगिक अथवा व्यावसायिक संस्था की पूंजी या अंशों में, जिसमें दाता स्वयं स्वत्व रखता हो, संस्था की कुल चुकता पूजी के पाँच प्रतिशत से अधिक राशि विनियोजित की गयी हो तो ऐसे विनियोग से सुलभ लाभांश को करमुक्त नहीं होना चाहिए और न्यासधारियों पर उसके लिए कर लगना चाहिए।

(य) प्रन्यासों की अन्य आयें कर-विमुक्त होंगी यदि आयकर अधिनियम की धारा ४ (३) (।) में दी हुई शर्तें पूरी होती हों, लेकिन यदि प्रन्यास की कुल आयों के २५ प्रति सैकड़ा से अधिक राशि आगे चलकर दातव्य उद्देश्यों के लिए खर्च किये जाने को अलग रख ली जाय तो २५ प्रतिशत से जितना अधिक रखा जाता है उस पर रखे जाने वाले वर्ष में कर लगाया जायगा। उपर्युक्त परिस्थितियों में इस प्रतिशत को बढ़ाने की शक्ति सेन्ट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू को होनी चाहिए।

(फ) यदि दातव्य प्रन्यासों की सम्पत्तियों के उपयोग की जांच करने से कर-निर्धारक अधिकारी को यह मालूम हो कि (१) उनका उपयोग दाता अथवा उसके मनोनीतों अथवा उसके परिवार के सदस्यों द्वारा किया जा रहा है या (२) प्रन्यासी या उसके मनोनीत व्यक्ति अथवा उसके परिवार द्वारा किया जा रहा है तो धनकर अधिनियम की धारा ५ (१) (।) के अन्तर्गत ऐसी सम्पत्तियों पर कर-मुक्ति नहीं मिलनी चाहिए। लेकिन जब सम्पत्तियों का प्रन्यासी द्वारा प्रयोग प्रन्यास के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक हो तो कर-मुक्ति दी जाय। अन्तिम स्थिति को छोड़कर अन्य उपर्युक्त व्यक्तियों द्वारा प्रन्यास सम्पत्ति का उपयोग किये जाने पर कर-निर्धारक अधिकारी को यह पता लगा लेना चाहिए कि इनके सम्बन्ध में अर्पण कर वसूला जा चुका है अथवा नहीं।

३. आयकर अधिनियम की धारा १० (१) में ऐसा संशोधन करना चाहिए जिससे यह, धारा १० (२) (VII) में दी हुई दूसरी शर्त के अनुरूप हो जाय और इसमें यह प्रावधान आ जाय कि जब करदाता अपना व्यवसाय, पेशा अथवा वृत्ति समाप्त भी कर चुका हो तो उसके यंत्र अथवा अन्य सम्पत्तियों के बेचने से जो आय प्राप्त हो उस पर कर लगाया जाय। व्यवसाय समाप्त करने के पश्चात् जो खर्चे हुए हों उन्हें भी मान लेना चाहिए।

४. उन सहकारी समितियों को जो परिवहन सेवाएँ प्रस्तुत कर रही हैं अथवा बड़ी व्यावसायिक तथा औद्योगिक संस्थाओं को नियंत्रित कर रही हैं कर-विमुक्त रखने में कोई तुक नहीं है क्योंकि इस प्रकार इनके व्यवहार अधिकांशतः गैर सदस्यों से होते हैं। आयकर अधिनियम की धारा १४(३) में इसकी स्पष्ट व्यवस्था होनी चाहिए कि उन सहकारी समितियों को कर-विमुक्ति एकदम नहीं मिलेगी जिनकी कुल आय २०,००० रुपये से अधिक है। इन परिवर्तनों से सच्ची सहकारी समितियों की वृद्धि पर अनुचित प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि आयकर अधिनियम की धारा १५ सी के अन्तर्गत नयी औद्योगिक संस्थाओं को "कर-छुट्टी" दी जाती है और विविध राज्यों के विधानों में सहकारी समितियों के लाभ-वितरण पर सीमाएँ लगायी गयी हैं।

५. आय-कर अधिनियम की धारा १६ (३) के समान एक प्रावधान और लागू किया जाना चाहिए जिससे पत्नी से पति को हस्तांतरित की गयी सम्पत्ति को वैसे ही माना जाय जैसे पति से पत्नी को हस्तांतरित हुई सम्पत्ति को माना जाता है। धारा १६ (३) को इस प्रकार संशोधित कर दिया जाय कि इसमें माता द्वारा अल्पवयस्क बच्चों को हुए सम्पत्तियों के हस्तांतरण सम्मिलित हो जायँ।

६. आयकर विधान में इस प्रकार का परिवर्तन किया जाय कि यदि कोई पिता अपनी अल्प-वयस्का पुत्री के हित के लिए कोई प्रन्यास स्थापित करता है और उसमें यह शर्त रहती है कि प्रन्यास की आयें उसके अन्तर्गत सम्पत्तियों में जुड़ती रहेगी और इन आयों को पुत्री वयस्का होने के पश्चात ही प्राप्त कर सकेगी तो अल्प-वयस्का की ऐसी आयों पर कर लगाया जाय।

७. आयकर अधिनियम की धारा ९ (२) को इस प्रकार संशोधित किया जाय कि आवास सम्पत्ति के स्वामित्व को बिना पर्याप्त प्रतिफल के यदि कोई अपनी पत्नी अथवा अल्पवयस्क बच्चे को हस्तांतरित करके उसमें उनके साथ स्वयं भी रहता हो तो इस हस्तान्तरण से उसके कर-दायित्व में कोई अन्तर न आवे।

८. आयकर अधिनियम की धारा '४६ ए' को इस प्रकार संशोधित किया जाय कि इसके अन्तर्गत धनकर अधिनियम, व्ययकर अधिनियम और अर्पण कर अधिनियम में होने वाले दायित्व भी सम्मिलित हो जायँ।

९. जहाँ पति और पत्नी दोनों अलग-अलग करदाता हैं वहाँ दोनों का विवाह और बच्चोंवाली छूट देने में कोई तुक नहीं है। इसके लिए विधान में उचित संशोधन किये जाने चाहिए।

१०. किसी राज्य-सरकार के एक विभाग के रूप में चलने वाली औद्योगिक अथवा जनोपयोगी संस्था पर कर लगाया जाना चाहिए। इसके लिए संविधान के अनुच्छेद २८९ (२) में दी हुई व्यवस्था के अनुरूप एक प्रावधान विधान में सम्मिलित किया जाना चाहिए।

११. विधान में इस प्रकार का संशोधन किया जाय कि करदाता के व्यवसाय बन्द कर देने, पेशा से निवृत हो चुकने अथवा मर जाने पर भी बन्द, निवृत्ति अथवा मृत्यु के पश्चात होने वाली आय पर कर लगाया जाय।

१२. ऐसी कम्पनियों में जिसमें जनता ठोस स्वत्व नही रखती, पिछले वर्षो की हानियों को अगले लाभों से अपलिखित करने की व्यवस्था तभी करनी चाहिए जब कि लाभ वाले वर्ष में मुख्यतः वे ही अंशधारी हों जो हानि वाले वर्ष में रहे।

आय, धन आदि की सूचनाएँ प्रकाश में लाने के सम्बन्ध में समिति के सुझाव

त्यागी समिति का यह मत रहा है कि यदि करदाताओं द्वारा अपनी आय, धन आदि के बारे में दी गयी सूचनाएँ प्रकाश में लायी जायँ तो इससे कर-वचन रोकने में बड़ी सहायता मिल सकती है। इसके लिए सरकार निम्नांकित दो विधियों में से कोई अपना सकती है और उसके लिए आवश्यक प्रणाली निर्धारित कर सकती है—

(१) नियत शुल्क देने पर जनता के किसी भी सदस्य को किसी भी व्यक्ति द्वारा अपने आय अथवा धन-विवरण प्रपत्रों में घोषित आय, धन आदि की राशि बताने की व्यवस्था।

(२) सभी करदाताओं अथवा एक निश्चित सीमा से ऊपर वाले कर-दाताओं के नाम और पता तथा उनके द्वारा घोषित आय, धन, व्यय आदि को छपी हुई पुस्तिका के रूप में प्रतिवर्ष प्रकाशित कराया जाय।

इसके अतिरिक्त समिति का यह भी सुझाव है कि आयुक्तों द्वारा गजट में तथा समाचार-पत्रों में उन व्यक्तियों के नाम, पता तथा उन पर लगाये गये आर्थिक दण्ड की राशि प्रकाशित की जाय जिनपर ५,००० रुपये अथवा अधिक राशि की आय, धन, व्यय आदि छिपाने के कारण आर्थिक दण्ड लगाया गया है। यदि सम्बन्धित करदाता कम्पनी या फर्म है तो कम्पनी के सभी संचालकों तथा फर्म के सभी साझेदारों के नाम और पते प्रकाशित किये जाने चाहिए। लेकिन यदि यह प्रमाणित हो जाय कि कोई विशेष संचालक या साझेदार ही कर-वंचन के लिए जिम्मेदार है तो उसी का नाम और पता प्रकाशित किया जाना चाहिए। यह प्रकाशन तभी होना चाहिए जबकि अपील आदि के बाद अन्तिम दण्ड निश्चित हो जाय। उपर्युक्त मामलों में नामों का प्रकाशन रोकने का निर्णय सेन्ट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू करे, लेकिन जिन मामलों में नामों का प्रकाशन रोक लिया गया हो उनकी संख्या प्रकाशन रोकने के कारणों के साथ प्रशासन की वार्षिक रिपोर्ट में दी जानी चाहिए। इन व्यक्तियों के नाम न दिये जायँ।

जनता की नैतिक भावना को उभाड़ना

समिति ने कर-वंचन रोकने के सम्बन्ध में जनता के नैतिक-ज्ञान को व्यापक बनाना आवश्यक बतलाया। इस दिशा में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्होंने कुछ प्रमुख विधियों का उल्लेख किया है। वे निम्नांकित है :—

१. प्रेस, रेडियो और चलचित्रों की सहायता से जनता को प्रत्यक्ष करों के संग्रह के वास्तविक उद्देश्यों के बारे में शिक्षित किया जाना चाहिए।

२. कर-दाताओं को यह विश्वास दिलाने के लिए कदम उठाये जाने चाहिए कि करों से जो राशि संगृहीत होती है उसका अपव्यय नही होता, बल्कि सदुपयोग किया जाता है।

३. उन व्यक्तियों को जिन पर आय आदि छिपाने के लिए दण्ड लगाया जा चुका हो अथवा जिनके मामले में कानूनी कार्रवाई की गयी हो कोई सरकारी प्रश्रय, प्रतिष्ठा अथवा पुरस्कार नही दिये जाने चाहिए। ऐसे व्यक्ति को सरकार द्वारा नियुक्त किसी समिति अथवा आयोग का सदस्य भी नही बनने देना चाहिए।

४. भविष्य में कर-वंचकों पर विभाग द्वारा कड़ी कार्रवाई की जानी चाहिए ताकि जनता में फैली यह धारणा कि कर-वंचन लाभप्रद है और कर-वंचकों के

प्रति नरमी का व्यवहार किया जाता है दूर की जा सके। जहाँ भी आवश्यक हो कानूनी कार्रवाई अवश्य की जानी चाहिए।

५. वाणिज्य मण्डलों और अन्य पेशेवर संस्थाओं, जैसे—बारअसोसियेशन, मेडिकल असोसियेशन आदि का सहयोग कर-वंचन समाप्त करने में लिया जाना चाहिए।

६. जीवन के विविध क्षेत्रों के नेताओं के सहयोग द्वारा विशेष आन्दोलन किया जाना चाहिए जिससे जनमत कर-वंचन रोकने के पक्ष में लाया जा सके।

प्रत्यक्ष-कर-प्रशासन के वर्तमान ढाँचे के सम्बन्ध में समिति के विचार

समिति ने प्रत्यक्ष-कर-प्रशासन के वर्तमान ढाँचे पर विधिवत् विचार किया और उसे अधिक उपयुक्त बनाने के लिए विशिष्ट सुझाव भी दिये। कर-प्रशासन के लगभग सभी अंग इसके विश्लेषण क्रम में आये। सेन्ट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू के सम्बन्ध में समिति ने यह सुझाव दिया कि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों के लिए अन्ततोगत्वा दो अलग बोर्ड होने चाहिए। लेकिन लागत की दृष्टि से इस ओर शीघ्रता करने की आवश्यकता नहीं है, अभी इसी बोर्ड में एक ही अध्यक्ष के अन्तर्गत प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों के लिए दो विलग शाखाएँ कायम कर लेनी चाहिए। बोर्ड के अध्यक्ष के पद में तथा बोर्ड की रचना में बार-बार परिवर्तन न किये जायँ। राजस्व विभाग के लिए एक अलग सचिव होना चाहिए जो सेन्ट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू का अध्यक्ष भी रहे। प्रत्यक्ष करों के सामान्य प्रशासन तथा संगठन सम्बन्धी मामलों की देख-रेख करने के लिए सेन्ट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू में एक और सदस्य रखा जाना चाहिए। प्रत्यक्ष-करों से सम्बन्धित जितने भी सदस्य बोर्ड में हों उनके कम से कम आधे कर विभाग के अधिकारियों में से चुने जांय। प्रत्येक सदस्य की नियुक्ति सामान्यतः पांच वर्षों के लिए की जायँ। बोर्ड के प्रशासनिक और टेक्निकल भागों में अधिकारियों और अन्य कर्मचारियों की नियुक्तियाँ यथासम्भव ऐसे विभागीय कर्मचारियों में से की जायँ जिन्हें कार्य क्षेत्र का अनुभव हो। बोर्ड को दैनिक कार्यों में पटु कानूनी सलाह सुलभ करने के लिए प्रत्यक्ष करों के मामलों में पर्याप्त अनुभव रखने वाले ऐडवोकेट की नियुक्ति बोर्ड के कार्यालय में कानूनी सलाहकार के रूप में होनी चाहिए। इस अधिकारी को उचित पद तथा वेतन दिया जाय।

निरीक्षण के वर्तमान तीन निर्देशनालयों के सम्बन्ध में समिति का यह सुझाव रहा कि इन्हें निम्नलिखित चार निर्देशनालयों के रूप में पुनर्गठित किया जाय– (१) निरीक्षण निर्देशनालय, (२) अनुसन्धान और गुप्तवार्ता निर्देशनालय, (३) देखभाल करने वाला निर्देशनालय, और (४) प्रशिक्षण सांख्यिकी अन्वेषण तथा प्रकाशन निर्देशनालय। इनमें से प्रत्येक विभाग के कार्यों की व्याख्या भी समिति ने की है।

आयकर आयुक्तों के सम्बन्ध में समिति का यह सुझाव रहा कि इनके दूसरे ग्रेड को समाप्त करके सभी आयुक्तों को एक ही ग्रेड में समान वेतन पैमाने पर रखा जाय। पश्चिमी बंगाल, बम्बई शहर और उत्तरी बम्बई के लिए एक एक आयुक्त और रखा जाय। उप-आयुक्तों की जगहें न बनायी जायँ। निरीक्षणकर्ता सहायक आयुक्तों के विषय में प्रमुख सुझाव यह रहा कि सामान्यतः ये कर-निर्धारण कार्य न करें। महत्त्वपूर्ण मामलों में, जहाँ राजस्व की बड़ी राशियाँ सम्बद्ध हों, जहाँ विस्तृत अनुसन्धान करना हो और तथ्यों तथा कानून के जटिल प्रश्न विचारणीय हों, कर निर्धारण कार्य सम्पादित करने के लिए लगभग दस सहायक आयुक्त रखे जायँ।

कर-निर्धारक अधिकारियो के सम्बन्ध में समिति ने यह सुझाव दिया कि इनकी प्रथम और द्वितीय श्रेणियाँ रखी जायँ, पर प्रथम श्रेणी में दो ग्रेडों के स्थान पर एक ही ग्रेड रहे और उनका वेतन भी एक ही कर दिया जाय। प्रथम श्रेणी के अधिकारियों की संख्या बढ़ा दी जाय और दूसरी श्रेणी की संख्या उसी अनुपात मे घटा दी जाय। कर-निर्धारक अधिकारियों के कार्यों पर नियन्त्रण रखने के लिए मामलों का वर्गीकरण तथा प्रमाणित इकाइयो मे कार्य सम्पादन का निश्चय आवश्यक है। करनिर्धारक अधिकारियों को सामान्य प्रशासनिक कार्यों से मुक्त कर देना चाहिए। इसकी देख-रेख कार्यालय के सुपरवाइजर करे।

समिति ने कर-प्रशासन के अन्य मामलों, जैसे कर्मचारियों के चुनाव, प्रशिक्षण, पदोन्नति, उनके कार्य करने की हालतों आदि पर भी विचार किया और उनमें सुधार के लिए सुझाव प्रस्तुत किये। कर-प्रशासन विभाग द्वारा की जाने वाली शिथिलता और कर्तव्य-विमुखता के सम्बन्ध में समिति बड़ी जागरूक रही है क्योंकि चारित्रिक दृढ़ता, ईमानदारी और निष्पक्षता का उच्चतम स्तर रखना इस विभाग के लिए अनिवार्य है। यहाँ प्रशासन-यंत्र के सुदृढ़ और प्रभावपूर्ण होने के साथ ही कार्यप्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिससे करदाताओं को किसी भी प्रकार असुविधाओं

का सामना करने अथवा सताये जाने का भय न हो। इन तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए समिति ने यह सुझाव दिया कि देखभाल करने वाले निर्देशनालय के अतिरिक्त हर आयुक्त के हलके में देखभाल का कार्य संगठित और समन्वित करने, प्राप्त हुई शिकायतों की जल्दी जाँच करने और अनुशासन सम्बन्धी कार्रवाई शीघ्रता से पूरी कराने के लिए देखभाल का एक सेक्शन होना चाहिए। आय-कर विभाग के सभी अधिकारियों को हर चौथे वर्ष अपने कुल चल और अचल धन का सम्पूर्ण विवरण देना चाहिए। इसमें पत्नी, बच्चों और परिवार के अन्य सदस्यों के नाम में भी जो संपत्तियां हों उनका विवरण दिया जाय। विभाग के गजटेड अफसरों का आय-कर-निर्धारण हेड क्वार्टरों के एक सर्किल में केन्द्रित हो। विभाग के कर्मचारियों द्वारा विवाह और अन्य अवसरों पर अपने सम्बन्धियों और घनिष्ठ मित्रों को छोड़कर अन्य किसी से उपहार स्वीकार करना अथवा जनता के किसी भी सदस्य का आतिथ्य स्वीकार करना अथवा उससे और किसी प्रकार उपकृत होना पूर्णतः वर्जित होना चाहिए। लेकिन गुमनामी शिकायतों अथवा गलत नामों से प्राप्त शिकायतों को अनावश्यक महत्त्व नही देना चाहिए और कोई भी ऐसा कदम न उठाया जाय जिससे कर्मचारियों की कर्त्तव्य-निष्ठा पर अनुचित प्रभाव पड़े।

करदाताओं के मामलों की पैरवी करने का अधिकार केवल चार्टर्ड एकाउन्टेंटों अथवा वकीलों तक सीमित रखने से छोटे करदाताओं को विशेष असुविधा हो सकती है। इस सम्बन्ध में समिति ने यह सुझाव दिया कि आय-कर के अन्तर्गत करदाताओं के दृष्टिकोण कर-अधिकारियों के सम्मुख अच्छे ढंग से रखने के लिए पैरबीकारों का किसी स्वीकृत विश्वविद्यालय से कामर्स की उपाधि रखना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उन्हें विभाग द्वारा संचालित कर कानून और खाता पद्धति की परीक्षा भी पास करनी चाहिए। लेकिन आय-कर में इस समय जो लोग प्रैक्टिस कर रहे हैं उन्हें इन प्रतिबन्धों से मुक्त रखा जाय।

विभाग में कार्य करने वाले कर्मचारी अवकाश ग्रहण करने अथवा त्यागपत्र देने के पश्चात् दो वर्षों तक सेन्ट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू से अनुमति पत्र प्राप्त किये बिना प्रैक्टिस न करें। लेकिन किसी भी स्थिति में अवकाश प्राप्त अथवा त्यागपत्र दिये व्यक्ति को उस राज्य अथवा आयुक्त के हलके में प्रैक्टिस करने की अनुमति न दी जाय जहाँ वह अवकाश ग्रहण करने या त्यागपत्र देने के तीन वर्ष पूर्व किसी भी समय तक कार्य करता रहा हो। जिन कर्मचारियों का कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण भारत

रहा हो उनके सम्बन्ध में एक और शर्त लगानी चाहिए कि वे उन करदाताओं की पैरवी नही करेंगे जिन के मामले वे अपने अवकाश ग्रहण करने अथवा त्यागपत्र देने के पूर्व वाले तीन वर्षों की अवधि में देखते रहे। कर-विभाग विविध प्रकार के पेशेवर विशेषज्ञों को अपने अन्तर्गत पैरवी करने की सुविधा विभाग के अन्तर्गत रजिस्टर्ड होने के पश्चात् दे। इन पैरवीकारों पर अनुशासन-सम्बन्धी कार्रवाई करने का अधिकार जो इस समय आयुक्तों को सुलभ है कायम रहना चाहिए।

यदि कोई कर-विशेषज्ञ प्रत्यक्षकर अधिनियमों के अन्तर्गत कानूनी कार्रवाई के परिणामस्वरूप कर-वंचन के लिए अपराधी ठहराया जाता है तो उसे करदाताओं का पैरवीकार होने के अयोग्य घोषित कर दिया जाय और उसका नाम विभाग के रजिस्टर से हटा दिया जाय। इसी प्रकार यदि कोई कर-विशेषज्ञ प्रत्यक्षकर अधिनियमों के अन्तर्गत अपने मुवक्किल को कर-वंचन में सहायक बनाने का अपराधी ठहराया जाता है तो उसे भी पैरवीकार होने के अयोग्य करार देना चाहिए। यदि कोई कर-विशेषज्ञ प्रत्यक्ष-कर अधिनियमों के अन्तर्गत आय, धन, सम्पत्ति, अर्पण अथवा व्यय छिपाने के लिए दण्डित होता है तो उस पर अनुशासन-हीनता-सम्बन्धी कार्रवाई करके उसे पैरवीकार होने के अयोग्य घोषित कर दिया जाय।

समिति ने जनता और विभाग के बीच सद्भावपूर्ण सम्बन्ध रखने को अपूर्व महत्ता दी है। सुखद जन-सम्पर्क के लिए उसने कई सुझाव भी दिये हैं जिनका मुख्य मन्तव्य यही है कि कर-प्रशासन को करदाताओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार रखना चाहिए और उनके संशयों, कठिनाइयों आदि को दूर करने तथा कर-विधान में उन्हें सुलभ छूटें और सुविधाएं दिलाने का प्रयत्न करना चाहिए। आवश्यक प्रमाणपत्र पाने, कर निर्धारित कराने और कर-राशि जमा करने में उन्हें कठिनाइयों और विलम्ब का सामना न करना पड़े। किसी सम्बन्ध में यदि उनकी शिकायत हो तो उसे सुनने और यथासम्भव दूर करने की व्यवस्था हो।

करदाताओं की जानकारी के लिए करारोपण की विविध शाखाओं से सम्बन्धित तथ्यों और नियमों की पुस्तिकायें प्रकाशित की जायँ। विभाग द्वारा एक कर-पत्र प्रकाशित कराया जाय। सेन्ट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू द्वारा जारी की गयी उन विविध विज्ञप्तियों और सूचनाओं से जनता को परिचित कराया जाय जो करारोपण के प्रयोग को प्रभावित करती है और करदाताओं के स्वत्वों पर भी असर डालती

हैं। जहाँ जनसम्पर्क अधिकारी न हों वहाँ "पूछ-ताछ खिड़की" खोली जाय जिससे करदाताओं की कठिनाइयाँ, संशय आदि दूर किये जा सकें। वाणिज्य-मण्डलों द्वारा अपने सदस्यों को करों के मामलों में जानकारी कराने की सुविधाएँ और बढ़ायी जायँ और कर प्रशासन विभाग उनके इस कार्य में योग देने के लिए उनसे सम्पर्क स्थापित करे। प्रत्येक आय-कर आयुक्त के हलके में एक जनसम्पर्क अधिकारी होना चाहिए। बम्बई, कलकत्ता-जैसे महत्त्वपूर्ण स्थानों में यह अधिकारी सहायक आयुक्त की कोटि का हो और अन्य स्थानों में प्रथम श्रेणी का आय-कर-अधिकारी हो। सेन्ट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू का एक सदस्य "जनसम्पर्क" की देखरेख के लिए होना चाहिए।

समिति ने कर-प्रशासन में जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिए प्रत्यक्ष कर-सलाहकार-समिति की स्थापना की संस्तुति दी है। एक ऐसी समिति केन्द्र मे हो जिसके अध्यक्ष राजस्व और सिविल व्यय के संघ मंत्री हों। विभिन्न क्षेत्रों में स्थापित की जाने वाली ऐसी समितियों के अध्यक्ष आयुक्त हों। इन समितियों में समाज के विविध वर्गों का प्रतिनिधित्व हो। इनमें लोक-सभा सदस्य, केन्द्रीय और राज्य-सरकारों के प्रतिनिधि, वाणिज्य-उद्योग और अन्य संगठनों के प्रतिनिधि, पेशेवर कर-विशेषज्ञ सम्मिलित किये जायँ। करदाताओं और विभाग के बीच पारस्परिक समझौता और सहयोग बढ़ाने की विधियों पर कर-प्रशासन को सलाह देना इन समितियों का मुख्य कर्त्तव्य हो।

समिति की संस्तुतियों को कार्यान्वित करने के प्रयास

सरकार द्वारा समिति के कर प्रशासन सम्बन्धी विश्लेषणों और सुझावो की बड़ी सराहना की गयी। प्रत्यक्ष कर-अधिनियमो विशेषतः आय-कर-अधिनियम को उनकी संस्तुतियों के अनुरूप संशोधित करने के प्रयास प्रारम्भ कर दिये गये है। १९६० के वित्त-अधिनियम के कुछ प्रावधान उसी के परिणाम माने जा सकते हैं। सहकारी समितियों के कुछ आयो के १५ हजार रुपये से अधिक वाले हिस्से पर कर लगाने की व्यवस्था, आयकर-अधिनियम की धारा १५ सी के अन्तर्गत सहकारी समितियों को विशेष छूट देने का नया क्रम इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। गत सितम्बर में सरकार ने समिति के निम्नलिखित सुझावों को मान लिया और उनके लिए लोकसभा के सम्मुख आवश्यक विवरण रखे गये –

१. लघु आय के सम्बन्ध में कर-निर्धारण का नया क्रम जो समिति ने

प्रस्तावित किया था उसे मान लिया गया। व्यवसाय से ७,५०० रुपये तक की आय रखने वाले करदाताओं पर आय-कर अधिनियम की धारा २३ (१) के अन्तर्गत आय-विवरण के साथ भेजे गये लाभ-हानि खाते और आर्थिक चिट्ठे के आधार पर ही कर-निर्धारण करने का क्रम अपनाया गया है।

२. यदि कोई दातव्य-प्रन्यास कोई ऐसा व्यवसाय करे जो इसके प्राथमिक उद्देश्य की पूर्ति के क्रम में न आता हो तो उसे आयकर अधिनियम की धारा ४ (३) (।) के अन्तर्गत छूट न दी जाय।

३. इसी प्रकार यदि प्रन्यास-विलेख में एक ऐसा वाक्यांश हो जिसके अन्तर्गत प्रन्यास के कोष का उपयोग दान देने वाले का कोई सम्बन्धी अथवा परिवार का सदस्य कर सकता हो तो इस प्रन्यास को भी उपर्युक्त धारा के अन्तर्गत छूट न दी जाय।

४. यदि किसी प्रन्यास की आय का कोई हिस्सा दातव्य-उद्देश्यों के लिए भविष्य में खर्च किये जाने को अलग निकाल लिया गया हो तो कुल आय के २५ प्रतिशत से अधिक जितनी राशि निकाली गयी हो उस पर कर न लगाया जाय। प्रन्यास की अन्य आयें कर-मुक्त होंगी यदि आयकर अधिनियम की धारा ४ (३) (।) में दी हुई शर्तें पूर्ण हो जाती हैं।

कर-वंचन रोकने के सम्बन्ध में समिति ने जितने सुझाव दिये हैं वे अधिकांशतः सरकार द्वारा मान लिये गये हैं। कम्पनियों के कर-वंचन में जो भी सहायक हो उसे अपराधी मानने और उस पर दण्ड लगाने का सुझाव था। समिति द्वारा प्रस्तावित इस सिद्धांत को स्वीकृत कर लिया गया है, लेकिन इसे अभी लागू करने की आवश्यकता नहीं समझी गयी है। कम्पनी करारोपण से सम्बन्धित जो नयी योजना सन् १९५९ के वित्त-अधिनियम द्वारा निकाली गयी है उसे लागू करने के क्रम में अंशधारियों को कोई कठिनाई न हो इसके लिए आय-कर विभाग आवश्यक कर-छूट सम्बन्धी प्रमाणपत्र देने में विलम्ब न करे, समिति के इस सुझाव को भी व्यवहार में लाया जा रहा है।

समिति का यह सुझाव कि विभाग को यह शक्ति रहे कि वह उन व्यक्तियों को कानूनी कार्रवाई से मुक्त कर सके जो कर-वंचन सम्बन्धी किसी अपराध में सहायक होकर भी कर-वचन के विरुद्ध साक्षी देते है, पूर्णतः स्वीकृत हो चुका है।

धन-कर और व्यय-कर अधिनियमों में आय-कर अधिनियम की धारा २३वीं के समान अस्थायी कर-निर्धारण की व्यवस्था करने के लिए आवश्यक संशोधन दिये जाने का जो सुझाव समिति ने दिया है उसे भी मान लिया गया है।

कर-वंचन के विरुद्ध जनमत उभारने के लिए समिति ने जो सुझाव दिये हैं उन्हें सरकार ने सिद्धांततः मान लिया है और उनके कार्यान्वित किये जाने के क्रम पर विचार हो रहे हैं।

समिति के कुछ सुझावों को सरकार ने स्वीकार भी कर दिया है। इनमें सबसे प्रमुख अपीलीय ट्रिब्यूनल को सेन्ट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू से हटाकर विधि मन्त्रालय में लाने से सम्बन्धित सुझाव हैं। सरकार ने इस ट्रिब्यूनल को अनिवार्यतः कायम रखने के सुझाव को तो स्वीकार कर लिया है, लेकिन उसे सेन्ट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू के नियन्त्रण से अलग करने के विचार को प्रश्रय नहीं दिया है। इस ट्रिब्यूनल को यह नया अधिकार देने के लिए कि यदि किसी अपील में कोई ऐसा वैधानिक प्रश्न हो जिस पर विभिन्न उच्च न्यायालयों के निर्णय असमान रहे हैं तो इसे ट्रिब्यूनल का अध्यक्ष सीधे सर्वोच्च न्यायालय को भेज सकता है। समिति ने जो सुझाव दिया है उसे भी सरकार ने मान लिया है।

समिति के उन प्रमुख सुझावों को जो सरकार द्वारा मान लिये गये हैं, सम्बन्धित अधिनियमों, विशेषतः आय-कर अधिनियम, में सम्मिलित करने के लिए आय-कर विषयक एक समेकित विधेयक सदन के सम्मुख लाया जाकर स्वीकृत हो चुका है। स्पष्ट है कि भारतीय आय-कर अधिनियम के प्रावधानों में एक बार आमूल परिवर्तन पुनः कराने में त्यागी-समिति का बड़ा योग रहा है। परिशिष्ट (इ) में नये आय-कर अधिनियम के प्रावधान दिये गये है।

परिशिष्ट (द)

वित्त वर्ष १९६१-६२ का केन्द्रीय बजट

सामान्य रूप-रेखा

वित्तवर्ष १९६१-६२ तृतीय पंचवर्षीय आयोजन का प्रथम वर्ष है। केन्द्र और-राज्य सरकारों ने इस वर्ष के अपने बजट में आगामी पंचवर्षीय अवधि के अन्तर्गत किये जाने वाले विस्तृत विकास-व्ययों के अनुरूप राजस्व के संकलन में पर्याप्त तत्परता दिखायी है। केन्द्र सरकार का प्रस्तुत बजट केवल राजस्व और व्यय की विशालता की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि बढ़े हुए व्ययों के लिए आवश्यक राजस्व के संकलन की विधि की दृष्टि से भी गम्भीर विचार का विषय बन गया है। इस वर्ष के बजट के पिछले वर्ष के करारोपण के आधार पर ९६२ करोड़ ९२ लाख रुपये का राजस्व अनुमानित रहा है। व्ययों का आगणन लगभग १०२३ करोड़ ५२ लाख रुपये किया गया है। इस प्रकार राजस्व-बजट में लगभग ६० करोड़ ६० लाख रुपये का घाटा अनुमानित रहा है। इसकी पूर्ति के लिए अतिरिक्त करारोपण के जो प्रस्ताव बजट पेश करते समय किये गये उनसे लगभग ६० करोड़ ८७ लाख रुपये संग्रहीत होने की सम्भावना रही। इससे राजस्व बजट के घाटे को २७ लाख रुपये की बचत में परिवर्तित करने का अनुमान रहा। निम्नलिखित तालिका में १९६०-६१ बजट, पुनरीक्षित आगणन तथा १९६१-६२ बजट के राजस्व सम्बन्धी आंकड़े दिखाये गये हैं—

१. यहां यह स्मरणीय है कि इस वर्ष सुरक्षा व्यय में ही लगभग १६·२ करोड़ रुपयों की बढ़ोतरी कर दी गयी है।

राजस्व के स्रोत	राजस्व			(लाख रुपयोंमें)
	१९६०-६१ बजट	१९६०-६१ पुनरीक्षित आगणन	१९६१-६२ बजट	अतिरिक्त करारोपण से
सीमा शुल्क	१६२५०	१६३००	१६४००	२९२७
केन्द्रीय उत्पादन शुल्क	३७९६१	३९४९८	४०६२४	२८६०
निगम कर	१३५००	१३७५०	१४०००	१००
निगम कर के अतिरिक्त अन्य आयों पर कर	५२९४	४०५२	५०२१	२००
सम्पत्ति शुल्क	१०	९	९	
धन-कर	७००	७५०	७००	
रेल भाड़े पर कर	११	१२		
व्यय कर	९०	९०	८०	
उपहार कर	८०	८०	८०	
अफीम	५६९	६८२	६२५	
सूद	१५७१	१४८७	१३८४	
प्रशासनिक सेवाएँ	८४	९९	९७	
सामाजिक और विकासवादी सेवाएँ	५२३५	५१४६	४७००	
करेंसी और मिंट	५७२२	५७८५	६०६३	
सिविल वर्क्स	३०४	३३८	३७५	
अन्य स्रोत	३९७३	३८६६	३९२८	
डाक और तार विभाग से सामान्य राजस्व में योग	४७	४६	७७	
रेलवे से सामान्य राजस्व में योग	५६४	५०६	२१२९	
कुल राजस्व	९१९६५	९२३७२	९६२९२	६०८७

निम्नलिखित तालिका में व्ययों की व्याख्या की गयी है—

व्यय	१९६०-६१ बजट	पुनरीक्षित बजट	१९६१-६२ बजट
करों, शुल्कों एवं अन्य प्रमुख राजस्वों के संग्रह का व्यय	३२८१	३२२०	३०४६
सिंचाई	१७	१३	१५
ऋण संबंधी देयता	७४५९	७२३५	८१९०
प्रशासनिक सेवाएँ	६०५९	६१५३	५८३७
सामाजिक और विकासवादी सेवाएँ	२०७१७	१९८५२	१७३४६
करेंसी और मिंट	१०२७	१०८७	११९६
सिविल वर्क्स और अन्य सार्वजनिक विकास	२०३२	२१५९	२१७३
पेन्शन	१०११	१०२३	१०४१
विविध			
विस्थापित जनों पर व्यय	२०२८	२०२८	११२८
अन्य व्यय	१११७०	१०७०७	४२७५
राज्यों को अनुदान	५१८१	५१८७	२१०९३
केन्द्रीय उत्पादन-शुल्क में राज्यों का हिस्सा	७४५२	७५१०	७६३३
असाधारण मद	३३७५	२८८२	१०८७
सुरक्षा व्यय	२७२२६	२६६७२	१८२९२
योग—	९८०३५	९५७३८	१०२३५२

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि १९६०-६१ बजट में राजस्व संबंधी घाटे का जितना अनुमान था वास्तविक घाटा उससे कम रहा।[1] इस कमी में राजस्व की वृद्धि और व्ययों की कमी दोनों का योग रहा। सीमा शुल्क, उत्पादन शुल्क, निगम-कर, धनकर से होने वाली प्राप्तियों में पर्याप्त वृद्धि हुई। व्ययों में कमी विशेषतः

१. १९६०-६१ बजट के अनुसार राजस्व घाटे की राशि ६० करोड़ ७० लाख रुपये थी लेकिन पुनरीक्षित आगणन के आधार पर घाटे की राशि केवल ३३ करोड़ ६६ लाख रुपये रही।

करों, शुल्कों और अन्य प्रमुख राजस्वों के संग्रह व्यय, सिंचाई, ऋण संबंधी देयता, सामाजिक तथा विकासवादी सेवाओं आदि के अन्तर्गत हुई। वर्तमान वर्ष में अतिरिक्त करारोपण को छोड़कर राजस्व बजट का घाटा गत वर्ष के बजट-घाटे से लगभग १० लाख रुपये कम आता है जबकि गत वर्ष की अपेक्षा कुल राजस्व की राशि ४३ करोड़ २७ लाख रुपये अधिक अनुमानित है। इसका प्रमुख कारण व्ययों में गत वर्ष की अपेक्षा वृद्धि है। व्ययों की यह वृद्धि विशेषत: ऋण सम्बन्धी देयताओं, राज्य-सरकारों को दिये जाने वाले अनुदानों तथा सुरक्षा सम्बन्धी सेवाओं के अन्तर्गत की गयी है।

अप्रत्यक्ष करों के अन्तर्गत बजटीय प्रस्ताव

नये कर सम्बन्धी प्रस्तावों की दृष्टि से प्रस्तुत वर्ष का बजट महत्त्वपूर्ण तो है ही, साथ ही बड़ा विवादास्पद भी बन गया है। इन प्रस्तावों को कार्यान्वित करने से कुल ६० करोड़ ८७ लाख रुपये प्रति वर्ष उद्‌गृहीत होने की आशा की गयी है। इनमें प्रत्यक्ष करों से केवल ३ करोड़ रुपये, पर अप्रत्यक्ष करो से ५७ करोड़ ८७ लाख रुपये वसूलने का प्रस्ताव रहा है। जब से पंचवर्षीय आयोजनों का प्रारम्भ देश में हुआ है इतने बड़े पैमाने पर अतिरिक्त अप्रत्यक्ष करो के प्रयोग द्वारा राजस्व-संग्रह का प्रयास कभी नही हुआ था। सीमा-शुल्क के अन्तर्गत अतिरिक्त करा-रोपण से २९ करोड़ २७ लाख रुपये और उत्पादन-शुल्क के अन्तर्गत २८ करोड़ ६० लाख रुपये संग्रहीत करने का प्रस्ताव रहा है। यहा उन वस्तुओं का संक्षिप्त उल्लेख उपादेय होगा जिनपर अतिरिक्त उत्पादन-शुल्क और अतिरिक्त सीमाशुल्क लगाने का प्रस्ताव हुआ है। उसी प्रकाश में उनकी उपयुक्तता अथवा अनुपयुक्तता पर विचार प्रकट किया जा सकता है।

अतिरिक्त उत्पादन-शुल्कों और उनसे उद्‌गृहीत हो सकने वाली राशियो का उल्लेख निम्नलिखित तालिका में किया गया है।

वस्तुएँ	उत्पादन शुल्क की दरो मे वृद्धि	अतिरिक्त राजस्व
चाय (खुली)	५ नये पैसे प्रति किलोग्राम से बढ़ाकर ८ नये पैसे प्रति किलोग्राम	१९८ लाख रुपये प्रतिवर्ष
चाय (बँधी)	६ नये पैसे प्रति किलोग्राम की कमी	

वस्तुएँ (१)	उत्पादन शुल्क की दरों में वृद्धि (२)	अतिरिक्त राजस्व (३)
कहवा	३३ प्रतिशत की वृद्धि	३८ लाख रुपये प्रतिवर्ष
सुर्ती और तम्बाकू का पत्ता	शुल्क की दर में इस प्रकार की वृद्धि ताकि २५८ लाख रुपये की अतिरिक्त प्राप्ति	२८४ लाख रुपये
मिट्टी का तेल (लाल तेल को छोड़कर)	४६ प्रतिशत की वृद्धि	
डीज़ल	२८ रु० १५ नये पैसे प्रति मीट्रिक टन पर वृद्धि	३३ लाख रुपये
रेयन	६६ प्रतिशत की वृद्धि	१६९ लाख रुपये
वनस्पति	प्रति १०० किलोग्राम पर २ रु० ८० नये पैसे की वृद्धि	८० लाख रुपये
रंग रोगन पर	२५ प्रतिशत की वृद्धि	३० लाख रुपये
कागज और कागज के गत्तो पर	३६ प्रतिशत से बढ़ाकर ५९ प्रतिशत	२३७ लाख रुपये
सूती वस्त्रो पर —		
(१) मीडियम 'ए' ग्रे	२५ प्रतिशत, वर्तमान दरों	
(२) वैज्ञानिक ढंग से तैयार किये गये	की दो-तिहाई	४७२ लाख रुपये
छोटे पैमाने पर चलाये जाने वाले वस्त्रो के सम्बन्ध में दी जाने वाली छूटो में कमी		३३ लाख रुपये
दियासलाई	५७ नये पैसे प्रति हजार काड़ियाँ से बढ़ाकर ६५ नए पैसे प्रति प्रति हजार काड़ियाँ (यह वृद्धि उन दियासलाइयों पर नही लागू होती जो ५० काड़ियों की डिब्बियों में बँधी हों)	३०० लाख रुपये

(१)	(२)	
सायकिल के पुर्जे	१० लाख रिम तक प्रति वर्ष बनाने वाले उद्योगों को अधिक छूट की व्यवस्था	इससे लगभग १० लाख रुपये प्रति वर्ष की क्षति
सोडा ऐश	२ रु० प्रति क्विंटल	
कास्टिक सोडा (यदि ठोस रूप में हो)	४ रु० प्रति क्विंटल	
कोलतार से बने रंग	१५ प्रतिशत	६७ लाख रुपये
पेटेण्ट औषधियां (आयुर्वेदिक और यूनानी दवाओं को छोड़कर)	१० प्रतिशत	२० लाख रुपये
प्रसाधन की तथा सुगन्धित सामग्रियां	२५ प्रतिशत	४० लाख रुपये
सेलोफोन, प्लास्टिक पाउडर और प्लास्टिक की अन्य अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं पर	२० प्रतिशत	५० लाख रुपये

उत्पादन-शुल्क में किये जाने वाले इन परिवर्तनों और परिवर्द्धनों से कुल लगभग ३०९० लाख रुपये संगृहीत होने की सम्भावना रही है। इसमें से २३० लाख रुपये राज्यों को उनके हिस्से के रूप में दिये जाने का प्रस्ताव रहा और शेष २८६४ लाख रुपये केन्द्र सरकार को सुलभ होने का अनुमान है।

उत्पादन-शुल्क की भाँति सीमा-शुल्क के अन्तर्गत भी अतिरिक्त करारोपण के प्रस्ताव रहे हैं। सुपारी, सूखा फल, ब्राण्डी, तम्बाकू के पत्ते, गन्धक, रासायनिक पदार्थ, रंग और रँगने वाली सामग्रियां, कच्चा रबर, सभी प्रकार के कागज, लोहे, इस्पात, एल्युमिनियम से बनी वस्तुएँ, बिजली के औजार, रेलवे की सामग्रियाँ, अखबारी कागज, बड़े यंत्र और पुर्जे आदि वे वस्तुएँ हैं जिन पर अतिरिक्त सीमाशुल्क लगाने का प्रस्ताव रहा है। नीचे दी गयी तालिका में इनका विस्तृत विवरण दिया गया है—

वस्तुएँ	सीमाशुल्क में वृद्धि	वृद्धि के परिणाम-स्वरूप अतिरिक्त राजस्व
(१)	(२)	(३)
सुपारी	८० नये पैसे प्रति किलो०	५७ लाख रुपये
तम्बाकू के पत्ते	५० प्रतिशत	८९ लाख रुपये
वस्त्र	१०० प्रतिशत (५० प्रतिशत मूल्यानुसार शुल्क को १०० प्रतिशत मूल्यानुसार बना दिया गया)	१०० लाख रुपये
लोहा और इस्पात से बने सामान	४३ प्रतिशत (३५ प्रतिशत मूल्यानुसार दर को ५० प्रतिशत मूल्यानुसार कर दिया गया)	७७६ लाख रुपये
यंत्र और उनके पुर्जे	५० प्रतिशत (१०० प्रतिशत मूल्यानुसार को १५ प्रतिशत मूल्यानुसार कर दिया गया)	२४ लाख रुपये
स्पिरिट, शराब आदि	७० प्रतिशत (१०० प्रतिशत मूल्यानुसार को १७० प्रतिशत मूल्यानुसार बना दिया गया)	
बिजली के औजार आदि	१० प्रतिशत	१४८ लाख रुपये
रेलवे सामग्रियां	५ प्रतिशत	
अन्य वस्तुओं पर लगने वाला सीमा-शुल्क	२५ प्रतिशत (४० प्रतिशत मूल्यानुसार दर को बढ़ाकर ५० प्रतिशत मूल्यानुसार बना दिया गया)	२४३ लाख रुपये
अखबारी कागज	१० प्रतिशत	३८ लाख रुपये
चाय	९ नये पैसे प्रति किलो० की कमी	(२००लाख रुपये की राजस्व क्षति)

(१)	(२)	(३)
मिट्टी का तेल, कागज, रेयन कृत्रिम सूत, सोडा ऐश, कास्टिक सोडा, कोलतार से बने रंग, पेटेन्ट दवाइयां, सभी प्रकार के प्लास्टिक, रेफ्रीजरेटर, उसके पुर्जे, वातानुकूलक यन्त्र।	इन पर लगाये गये उत्पादन शुल्क के अनुरूप सीमा शुल्क में वृद्धि	१२३२लाख रुपये

सीमा-शुल्क के अन्तर्गत अतिरिक्त करारोपण के इन प्रस्तावों से प्रतिवर्ष लगभग २९२७ लाख रुपये अतिरिक्त राजस्व के रूप में प्राप्त होने की सम्भावना रही है।

अतिरिक्त अप्रत्यक्ष करारोपण की समीक्षा

अप्रत्यक्ष करों के अन्तर्गत अतिरिक्त करारोपण के ये प्रस्ताव राजस्व संग्रह की दृष्टि से उचित अवश्य प्रतीत होते हैं। इनसे केन्द्र सरकार को प्रतिवर्ष ५७८७ लाख रुपये सुलभ हो सकेंगे और सामान्य अनुमानों के आधार पर भी तृतीय पंचवर्षीय आयोजन काल में २८९३५ लाख रुपये इनसे सुलभ होने की आशा की जा सकती है। इन वस्तुओं की प्रकृति देखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि राजस्व की इतनी बड़ी राशि के संग्रह में केवल कुछ ही वर्गों का योग नही होगा, बल्कि साधारण जनता बढ़े हुए विकास तथा सुरक्षा व्यय का भार वहन करेगी। इस प्रकार कर के ये नये प्रस्ताव भारतीय कर ढाँचे को विस्तीर्ण आधार देने में सहायक होंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। आवश्यक उपभोग तथा उत्पादन सम्बन्धी वस्तुओं से सम्बन्धित होने के कारण इनसे सम्भावित राजस्व में भी निश्चितता है। पर इनसे कुछ प्रमुख बाधाएँ भी उत्पन्न हो सकती है जो इनकी घोषणा के बाद से ही धीरे धीरे-प्रगट होने लगी हैं।

वस्तुओं की कीमत-तल पर सीमा-शुल्क और उत्पादन-शुल्क दोनों का प्रायः समानुपाती प्रभाव पड़ता है। आवश्यक उपभोग सामग्रियों की कीमत में वृद्धि होने से जीवन-निर्वाह-व्यय का स्तर उठ जाता है, फलस्वरूप पारिश्रमिक स्तर को उठाने की मांग बढ़ती है जिससे औद्योगिक शान्ति घटती जाती है। उत्पादन क्रम में प्रयुक्त कच्चे और अर्द्धनिर्मित मालों तथा यंत्रों की कीमत बढ़ने से उत्पादन-

लागत अधिक हो जाती है। इससे भी विविध [illegible] की कीमत बढ़ जाती है। चालू वर्ष के बजट में नये कर सम्बन्धी उपर्युक्त प्रस्ताव प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ढंगों से कीमत-तल बढ़ाने की क्षमता रखते हैं। उपभोग-सामग्रियों पर, जिनमें से कई आवश्यकताओं की कोटि में आती हैं, लगने वाले शुल्कों से कीमत तल प्रत्यक्षतः प्रभावित होगा। उत्पादन-क्रम में प्रयुक्त कच्चे तथा अर्द्धनिर्मित मालों तथा यंत्रों, पुर्जों आदि पर लगने वाले शुल्क से लागत-स्तर उठेगा। फलतः परोक्ष ढंग से सामान्य कीमत-तल प्रभावित होगा। इस प्रकार कीमत तल बढ़ाने की क्षमता रखने वाले ये कर-प्रस्ताव विकासवादी आयोजनों के संचालन क्रम में अपनायी गयी नीतियों के प्रतिकूल हैं। प्रारम्भ से ही हमारे ऐसे प्रयास रहे हैं ताकि विकास व्ययों की वृद्धि के साथ कीमत-तल बढ़ता न जाय । हमारी करारोपण नीति का यह एक प्रमुख उद्देश्य रहा है कि अतिरिक्त आय का अधिकांश कर रूप में लौटा लिया जाया ताकि समग्रियों की मांग बहुत बढ़ न सके और सामान्य कीमत-तल के उचित सीमाओं के अन्तर्गत रखा जा सके। कीमत-तल बढ़ने से अतिरिक्त अर्जित आय अधिकांशतः उपभोग में प्रयुक्त हो जाती है जबकि उत्पादन-क्रम के व्यापक और अधिक गतिशील बनाने के लिए उसका प्रयोग विनियोगों में होना चाहिए। इस प्रकार सामान्य कीमत-तल की वृद्धि राष्ट्र की कुल बचत तथा पूंजी निर्माण की गति को अनुचित ढंग से प्रभावित करती है। फलस्वरूप विकास का क्रम अवरुद्ध हो जाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि अप्रत्यक्ष करों से सम्बन्धित नये प्रस्ताव राजस्व की अधिक मात्रा सुलभ करके विकास क्रम में जितने सहायक होंगे उससे अधिक कीमत-तल को लगातार बढ़ाने की क्षमता रखने के कारण बाधक हो सकते हैं। यद्यपि वित्त मंत्री का ऐसा विश्वास है कि कीमत-तल की वृद्धि नियत सीमाओं में रखी जा सकती है। लेकिन कीमत तल को उत्तरोत्तर बढ़ाते रहने की इनकी क्षमता को कैसे निष्क्रिय किया जा सकता है?

ये प्रस्ताव करारोपण के समता-सिद्धान्त के भी प्रतिकूल हैं क्योंकि इनसे कर-देय-योग्यता के आधार पर कर नही लगता। सामान्य आय वालों पर अधिक आय वालों की अपेक्षा करभार अधिक पड़ेगा। इससे वास्तविक आय-वितरण-सम्बन्धी असमानता बढ़ाने की प्रवृत्ति रहेगी जो हमारे आयोजनों के प्रमुख उद्देश्य, समाजवादी सामाजिक ढाँचे के निर्माण, के प्रतिकूल है।

उत्पादन-शुल्क और सीमा-शुल्क के अन्तर्गत नये करारोपण सम्बन्धी प्रस्तावों

में पायी जाने वाली उपर्युक्त असंगतियाँ अधिकांश विचारकों द्वारा मान्य रही हैं। संसद में उन्हें सीमित करने की मांग भी बड़े पैमाने पर होती रही है। फलस्वरूप वित्त मंत्री को कुछ छूट देनेके लिए राजी होना पड़ा। ये छूटें सूती, रेयन अथवा सिल्क वस्त्रों के उत्पादन, सूती और ऊनी धागों, शीशा और शीशे के बर्तन, चीनी मिट्टी के बर्तन और पोर्सलेन के बर्तन बनाने वाले लघु उद्योगों, तांबा और जस्ता की चादरों और चक्कों, कुछ औषधियों, अखबारी कागजों तथा खाद्य सामग्रियों की सुरक्षा हेतु मँगाये जाने वाले वातानुकूलक यंत्रों से सम्बन्धित रहीं हैं। इन छूटों तथा प्रत्यक्ष करों के सम्बन्ध में भी प्रस्तावित कुछ छूटों से राजस्व की प्राप्ति में लगभग ६ करोड़ १५ लाख रुपये की कमी सम्भावित है। क्या ये छूटें अतिरिक्त करारोपण के नये प्रस्तावों के अनुचित प्रभावों को निष्क्रिय कर सकेंगी? यह पूर्णतः सन्देहास्पद है। लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि इस बजट ने अब तक बहुत सीमित ढंग से प्रयुक्त अप्रत्यक्ष करों के क्षेत्र का उन्मुक्त प्रयोग प्रारम्भ किया है जिससे राजस्व की बड़ी राशि का संग्रह सरल हो जाता है।

प्रत्यक्ष करों के सम्बन्ध में बजटीय प्रस्ताव

प्रत्यक्षकरों के अन्तर्गत भी इस बजट में महत्वपूर्ण प्रस्ताव रखे गये हैं। यद्यपि राजस्व की दृष्टि से ये अप्रत्यक्ष करों से सम्बन्धित प्रस्तावों के अनुरूप नहीं है क्योंकि इनसे कुल ३ करोड़ रुपये की अतिरिक्त प्राप्ति सम्भावित है। लेकिन गत वर्ष तक चालू कई बड़े नियमों में परिवर्तन लाने का श्रेय इसको है। अब उपार्जित और अनुपार्जित आयों में कर-भार का अन्तर केवल १,००,००० रुपये तक ही रखा जायगा। १ लाख रुपये से अधिक उपार्जित आय पर लगने वाले विशेष अधि-कर की दर को ५ प्रतिशत से बढ़ाकर अनुपार्जित आयों के समकक्ष १० प्रतिशत तक कर दी गयी है। इस सम्बन्ध में वित्त मंत्री का यह मत रहा है कि एक लाख रुपये की आय के पश्चात् उपार्जित आय को प्रोत्साहन देने के लिए अनुपार्जित आय की अपेक्षा कम कर-भार रखना उचित नहीं है क्योंकि उस स्तर पर ऐसे प्रोत्साहन की आवश्यकता नहीं रह जाती। यहां पर स्मरणीय है कि गत वर्ष तक चालू क्रम के अनुसार १ लाख रुपये से अधिक उपार्जित आय पर कर-भार ७७ प्रतिशत पड़ता रहा जबकि अनुपार्जित आय पर ८४ प्रतिशत भार रहा है।

कम्पनियों पर लगने वाले अतिकर के सम्बन्ध में भी कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं जिनका मुख्य उद्देश्य कम्पनियों द्वारा पूंजी निर्माण को प्रोत्साहन देना

तथा विदेशी और भारतीय कम्पनियों के बीच पाये जाने वाले कर-भार सम्बन्धी अन्तरों को कम करना रहा है। १ अप्रैल १९६१ को अथवा उसके पश्चात् स्थापित और पंजीकृत भारतीय कम्पनी से किसी भी भारतीय अथवा विदेशी कम्पनी को मिलने वाले लाभांश पर समान दर (२० प्रतिशत) से अतिकर लगाने का क्रम लागू किया गया है। इसमें एकमात्र अपवाद यह है कि यदि लाभांश पाने वाली कम्पनी ऐसी है जिसमें जनता का विशेष हित सन्निहित है और जिसकी आय २५००० रुपये वार्षिक से अधिक नहीं है तो अतिकर की दर १५ प्रतिशत ही होगी। इस प्रकार भारतीय और विदेशी कम्पनियों द्वारा प्राप्त लाभांश पर अतिकर की दरों की विभिन्नता केवल उन्हीं परिस्थितियों में रह गयी है जहाँ लाभांश घोषित करने वाली भारतीय कम्पनी लाभांश पाने वाली कम्पनी की सहायक भारतीय कम्पनी न हो और जिसकी स्थापना १ अप्रैल, १९६१ के पूर्व हो चुकी हो। यहाँ यह स्मरणीय है कि यदि लाभांश घोषित करने वाली भारतीय कम्पनी १ अप्रैल १९५९ के बाद और १ अप्रैल १९६१ के पहले बनी हो तो लाभांश पाने वाली विदेशी कम्पनी को उस लाभांश पर ३३ प्रतिशत की दर से अतिकर देना पड़ता रहा है और यदि वह १ अप्रैल १९५९ के पहले बनी हो तो लाभांश पाने वाली कम्पनी को ४३ प्रतिशत की दर से अतिकर देना पड़ता रहा है।

इसके अतिरिक्त यदि कोई विदेशी कम्पनी किसी भारतीय संस्था के साथ १ अप्रैल १९६१ को अथवा उसके पश्चात् किये गये किसी ऐसे समझौते के आधार पर, जिसका अनुमोदन केन्द्रीय सरकार ने किया हो, कोई प्रतिशुल्क की राशि प्राप्त करती है तो उस पर अतिकर की दर ४३ प्रतिशत से घटाकर ३० प्रतिशत कर दी गयी है।

बजट के कर-सम्बन्धी प्रस्तावों में वित्त मंत्री ने जब लोक सभा के सम्मुख कुछ संशोधनों की घोषणा की तो अप्रत्यक्ष करों में दी जाने वाली छूटों के साथ विदेशी कम्पनियों द्वारा भारतीय कम्पनियों से प्राप्त लाभांश पर लगने वाले अतिकर में भी कुछ और छूट देने की व्यवस्था की गयी। ३१ मार्च, १९५९ के बाद स्थापित किसी गैर सहायक भारतीय कम्पनी से विदेशी कम्पनी को मिलने वाले लाभांश पर भी २० प्रति सैकड़ा अतिकर लगाने की व्यवस्था लागू की गयी। इस प्रकार अब केवल १ अप्रैल १९५९ के पूर्व स्थापित गैर सहायक भारतीय कम्पनियों से मिलने वाले लाभांश पर ही विदेशी कम्पनियों को देशी कम्पनियों की अपेक्षा अतिकर की अधिक दर देनी पड़ेगी।

लोक सभा में कुछ सदस्यों का यह भी सुझाव रहा कि विदेशी कम्पनियों को भारतीय संस्थाओं से मिलने वाले प्रतिशुल्क पर भी अतिकर की समान दर रखी जाय, चाहे केन्द्र सरकार द्वारा अनुमोदित प्रतिशुल्क सम्बन्धी समझौता १ अप्रैल १९६१ के पहले हुआ हो अथवा बाद में। लेकिन वित्त मंत्री ने इस सुझाव को कार्यान्वित करना उचित नहीं समझा। इन विवरणों से स्पष्ट है कि विदेशी कम्पनियों के प्रति कर-सम्बन्धी विशेष उदारता दिखायी गयी है ताकि वे भारतीय कम्पनियों और संस्थाओं में अपनी सम्पत्तियां अधिक मात्रा में लगाने को प्रोत्साहित हों। निम्नांकित तालिका में विदेशी कम्पनियों को भारत में विविध स्रोतों से प्राप्त सूद और लाभांशों पर देय कर-भार का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इन्हीं दरों पर ऐसी विदेशी कम्पनियों को जिन्होंने भारत में लाभांश घोषणा की व्यवस्था नहीं की है, देय लाभांश में से आय-कर घटवाने की व्यवस्था चालू वित्तवर्ष में की जायगी।

आय के प्रकार	प्रस्तावित नयी दरें		
	आय-कर की दरें	अतिकर की दरें	योग
(१)	(२)	(३)	(४)
(१) केन्द्रीय सरकार की कर-मुक्त प्रतिभूतियों पर सूद	—	४३ प्रतिशत	४३ प्रतिशत
(२) आयकर अधिनियम की धारा ५६ 'ए' में उल्लिखित कम्पनियों से प्राप्त लाभांश पर।	२० प्रतिशत	—	२० प्रतिशत
(३) १ अप्रैल, १९६१ से पूर्व संस्थापित और पंजीयित किसी सहायक भारतीय कम्पनी से सुलभ लाभांश पर।	२० प्रतिशत	१० प्रतिशत	३० प्रतिशत
(४) किसी ऐसी भारतीय कम्पनी से, जो सहायक कंपनी न हो और जिसकी स्थापना तथा			

(१)	(२)	(३)	(४)
पंजीयन १ अप्रैल, १९५९ को अथवा उसके पश्चात् पर १ अप्रैल, १९६१ के पूर्व हो चुका हो, सुलभ लाभांश पर।	२० प्रतिशत	२० प्रतिशत	४० प्रतिशत
(५) १ अप्रैल, १९५९ के पूर्व स्थापित और पंजीयित किसी गैर सहायक भारतीय कम्पनी से सुलभ लाभांश पर।	२० प्रतिशत	४३ प्रतिशत	६३ प्रतिशत
(६) १ अप्रैल, १९६१ को अथवा उसके पश्चात् स्थापित और पंजीयित किसी भारतीय कम्पनी से सुलभ लाभांश पर।	२० प्रतिशत	२० प्रतिशत	४० प्रतिशत
(७) १ अप्रैल, १९६१ को अथवा उसके पश्चात् किसी भारतीय संस्था से हुए ऐसे समझौते के आधार पर प्राप्त प्रतिशुल्क पर जिसका अनुमोदन केन्द्र सरकार ने किया हो।	२० प्रतिशत	३० प्रतिशत	५० प्रतिशत
(८) अन्य आय पर।	२० प्रतिशत	४३ प्रतिशत	६३ प्रतिशत

कंपनियों को अपने लाभ से पूजी-निर्माण के लिए प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से अधिलाभाश अशों के निर्गमन पर लगाये जाने वाले अतिकर की दर ३० प्रतिशत से घटाकर १२ प्रतिशत कर दी गयी है। लोक सभा में कुछ सदस्यों का आग्रह था कि यह अति-कर पूर्णतः समाप्त कर दिया जाय। लेकिन ऐसे अंशों के निर्बाध निर्गमन के फलस्वरूप तद्वर्गीय अंशों के मूल्यों पर परिकल्पना सम्बन्धी अनुचित प्रभाव पड़ने के भय से इस अतिकर को पूर्णतः हटाना उचित नहीं समझा गया।

आय-कर में उपार्जित आयों तथा कम्पनियों से सम्बन्धित उपर्युक्त संशोधनों के अतिरिक्त खेल-कूद कराने वाले संघों, नये भवनों तथा होटलों के निर्माण को

प्रोत्साहन देने के लिए कुछ और परिवर्तन किये गये हैं। भारत में टेनिस, हाँकी, क्रिकेट, फुटबाल और केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित इस प्रकार के अन्य खेलों की देखरेख करने और उन्हें नियंत्रित तथा प्रोत्साहित करने के लिए स्थापित संघों अथवा संस्थाओं को आय-कर से मुक्त कर दिया गया है। यदि ऐसे संघ केन्द्र सरकार द्वारा अनुमोदित हों तथा निर्दिष्ट नियमों का पालन करते हों। इसी प्रकार विदेशी शिल्पियों को भारत में आने के बाद से ३६ महीनों तक आय-कर से मुक्त कर दिया गया है। इस अवधि के पश्चात् भी २४ महीने तक इनके नियोक्ता द्वारा इनके लिए दिए जाने वाला कर इनकी आय में नहीं जोड़ा जायगा।

नये आवासों, गृहों तथा होटलों के निर्माण को प्रोत्साहित करने के लिए भी इस वर्ष के बजट में विशेष छूट देने की व्यवस्था प्रारम्भ की गयी है। ऐसे भवनों जिनका निर्माण ३१ मार्च, १९६१ के पश्चात् किराये पर उठाये जाने के लिए किया गया हो, के वार्षिक मूल्य में ६०० रु० से अथवा वार्षिक मूल्य से इन दोनों में जो भी कम हो, कमी कर दी जायगी। यह क्रम निर्माण पूर्ण होने के बाद तीन वर्षों तक चलता रहेगा। इसी प्रकार यदि कोई नियोक्ता २०० रु० तक मासिक वेतन पाने वाले अपने कर्मचारियों के रहने के लिए ३१ मार्च, १९६१ के बाद भवन बनवाये तो जिस वर्ष 'भवन' का निर्माण पूर्ण होता है उस वर्ष भवन के वास्तविक लागत का २० प्रतिशत प्राथमिक छूट के रूप में दिया जायगा। आगामी वर्षों के लिए भवन के ह्रासित मूल की गणना करते समय छूट घटायी नहीं जायगी।

कम्पनियों के अन्तर्गत चलाये जाने वाले ऐसे नये होटलों को, जिनकी स्थापना १ अप्रैल, १९६१ अथवा उसके पश्चात् की गयी हो, धारा '१५सी' के अनुसार नयी औद्योगिक संस्थाओं की तरह कार्यारम्भ करने से लेकर पांच वर्षों तक कर-मुक्ति देने की व्यवस्था की गयी है। होटल चलाने वाली ऐसी कम्पनी के अंशधारियों को होटल के लाभ से मिलने वाले लाभांशों को भी उक्त अवधि मे कर-मुक्त रखा जायगा।

विकास सम्बन्धी छूट की व्यवस्था संयत्रों के सम्बन्ध में २५ प्रति सैकड़ा से घटा कर २० प्रति सैकड़ा कर दी गयी जब कि नये जलयानों पर विकास-छूट की पूर्ववत् दर कायम रखी गयी है।

इनके अतिरिक्त आमोद-व्यय आदि के सम्बन्ध में भी छोटे-मोटे संशोधन किये गये हैं।

प्रत्यक्ष करों के अंतर्गत संशोधन सम्बन्धी ये प्रस्ताव आर्थिक क्षेत्र में विकास आयोजन के अनुरूप किये जाने वाले प्रयत्नों को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से अनुप्राणित है। विदेशी कम्पनियों और विदेशी शिल्पियों के प्रति आय-कर सम्बन्धी उदारता इसीलिए दिखायी गयी है कि वे हमारी आर्थिक प्रगति में प्रत्याशित योग देने के लिए आकृष्ट हो सकें। नये होटलों को दी जाने वाली कर-छूटें विदेशी यात्रियों की सुविधा बढ़ाने की दृष्टि से दी गयी हैं ताकि अधिक संख्या में आने वाले विदेशी यात्रियों से विदेशी विनिमय की अधिक राशि कमायी जा सके। किराये पर उठाये जाने के उद्देश्य से और विशेषतः व्यावसायिक क्षेत्र में लघु-आय वाले कर्मचारियों की आवास-व्यवस्था के लिए किये जाने वाले भवन-निर्माण को कर-छूट सम्बन्धी प्रोत्साहन देना सामान्य आय वालों के आवास की विकट समस्या को देखते हुए बड़ा ही सराहनीय पग है। इस प्रकार आय-कर के अन्तर्गत नये प्रस्ताव विवेकपूर्ण है, लेकिन अप्रत्यक्ष करों के अन्तर्गत नये प्रस्ताव, जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, राजस्व-संग्रह की दृष्टि से उपयुक्त होते हुए भी समाजवादी सामाजिक ढाँचा लाने के उद्देश्य से संचालित विकासवादी अर्थव्यवस्था की प्रगति के अनुकूल नहीं हैं।

परिशिष्ट (इ)

आय-कर विधान १९६१

महत्त्वपूर्ण संशोधन

१९६१ का आय-कर विधान भारतीय कानून के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। इसका महत्त्व यह है कि भारत का आय-कर नियम जो समय-समय पर किये गये अनेक संशोधनों द्वारा बहुत जटिल हो गया था सुव्यवस्थित और सरल रूप में ले आया गया है। आय-कर बिल के उद्देश्यों और कारणों की व्याख्या करते हुए वित्त मंत्री ने कहा था—

"१९२२ के आय-कर में, जब से वह पास हुआ है, बहुत से संशोधन किये गये हैं। १९३९ के विधान ७ द्वारा, १९३९ में, इसे विस्तृत रूप से संशोधित किया गया और १९३९ के विधान ७ के पास होने से लेकर १९५६ तक विधान को २९ बार से अधिक संशोधित किया गया। इनमें से प्रत्येक संशोधन बहुत महत्त्वपूर्ण था। इन संशोधनों का नतीजा यह हुआ कि विधान को पूर्णतः नया रूप देने की आवश्यकता हुई जिससे इसे सरल और तर्क पूर्ण रूप दिया जा सके। इसलिए सरकार ने १९५६ में इसे ला कमीशन के समक्ष रक्खा। ला कमीशन की रिपोर्ट सरकार को सितम्बर, १९५८ में मिली लेकिन इस बीच डाइरेक्ट, टैक्सेज एडमिनिस्ट्रेशन इन्क्वायरी कमेटी (Direct Taxes Administration Enquiry Committee नामक एक नयी समिति कर-दाताओं की असुविधाओं को कम करने और आय-कर के बचाव को रोकने के उपाय ढूँढ़ने के लिए, स्थापित की जा चुकी थी। इस समिति की रिपोर्ट १९५९ में प्राप्त हुई।

ला कमीशन और डाइरेक्ट टैक्सेज एडमिनिस्ट्रेशन इन्क्वायरी कमेटी की सिफारिशों की जाँच सेंट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू (Central Board of Revenue) के ऊँचे अफसरों की एक विशेष समिति ने, कानून विभाग के सहयोग से की। इस समिति ने उन सुझावों को भी ध्यान में रखा जो समय-समय पर जनता, चेम्बर आफ कामर्स तथा अन्य व्यक्तियों से सरकार को प्राप्त हुए थे।

१९६१ का विधान इसी छान-बीन की उपज है और इसे ला कमीशन द्वारा प्रस्तुत किये गये ढाँचे पर तैयार किया गया है।

नये विधान में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं वे निम्नलिखित बातों से सम्बन्धित हैं। कर की वसूली सम्बन्धी कार्रवाई, बकाया कर की वसूली और कर अधिकारियों को दिये गये अधिकार। इस विधान में फर्म की रजिस्ट्री सम्बन्धी नियम भी अधिक सुविधाजनक बना दिये गये हैं।

त्यागी-समिति की सिफारिश के अनुसार कर की वसूली के लिए एक नया नियम बनाया गया है। इसके अनुसार कर-दाता प्रत्येक वर्ष एक निश्चित तारीख तक अपना आय सम्बन्धी ब्योरा आय-कर अधिकारी को दे सकता है। यदि इसमें देर होगी तो उसे आय-कर की रकम पर ६ प्रतिशत प्रतिवर्ष के हिसाब से ब्याज देना होगा। इसके साथ ही सरकार ने कर-अधिकारियों पर भी यह बोझ लादा है कि यदि वे किसी लौटायी जानेवाली रकम का भुगतान ६ महीने के अन्दर न करें तो सरकार कर-दाताओं को चार प्रतिशत प्रतिवर्ष के रूप में ब्याज देगी।

आय-कर की वसूली शीघ्रतापूर्वक करने के ध्येय से नये विधान ने आय-कर अधिकारियों को विशेष अधिकार दिये हैं। उदाहरणार्थ आय-कर अधिकारी को यह अधिकार है कि वह बकाया कर के सम्बन्ध में एक प्रमाण पत्र (Certificate) कर वसूली अधिकारी को, जिसके दायरे में कर-दाता रहता है, भेज सकता है। इस प्रमाण-पत्र को जारी करने पर कर की वसूली उसी प्रकार की जा सकती है जैसे जमीन के लगान की। नया विधान छिपायी गयी आय के सम्बन्ध में भी कड़ा रुख दिखलाता है। आय-कर अधिकारी ऐसी आय के सम्बन्ध में आय की श्रेणी के अनुसार चार, आठ या १६ वर्ष पहले तक की आय पर कर वसूल कर सकता है। उसी प्रकार प्रतिभूतियों में किये गये व्यापार तथा हस्तान्तरित ब्याज और लाभ के सम्बन्ध में भी नया विधान आय-कर अधिकारियों को विशेष अधिकार प्रदान करता है जिससे कोई व्यक्ति कर का बचाव न कर सके।

नये विधान के अनुसार यदि किसी व्यक्ति ने आय का झूठा विवरण बनाया हो या बनाने में सहायता दी हो तो उसे ६ महीने तक की साधारण सजा और १,००० रु० तक जुर्माने की सजा दी जा सकती है। सरकार ने समिति की सिफारिश के अनुसार कर बचाने वाले व्यक्तियों के नाम सरकारी गजट में छापने का सुझाव भी मंजूर कर लिया है। नये विधान में दान-सम्बन्धी ट्रस्टों के बारे में भी विशेष नियम बनाये गये हैं। यदि ऐसे ट्रस्ट कोई ऐसा व्यापार कर रहे हों जो उनका

प्रधान उद्देश्य न हो तो उस आय पर कर से छूट नहीं मांगी जा सकती। उसी प्रकार यदि ट्रस्ट के नियमों के अनुसार ट्रस्ट की आय का कुछ भाग ट्रस्ट के निर्माता के कोई सम्बन्धी प्राप्त करते हों तो उस आय को भी कर से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

नये विधान में सहकारी संस्थाओं को भी कर के दायरों में घसीट लिया गया है। इसके अनुसार यदि कोई सहकारी संस्था प्रदिष्ट कार्य के अतिरिक्त कोई व्यापार करती हो अथवा उसकी आय १५,००० रुपयों से अधिक हो तो उसे उस आय पर कर देना होगा।

कम्पनी का अपाकर्म होते समय यदि कम्पनी अपनी पूंजी-परिसम्पद बांटे तो उसे प्राप्त करने वाले व्यक्ति को पूंजी-लाभ शीर्षक के अन्तर्गत उस प्राप्ति पर कर देना होगा। उसी प्रकार "लाभांश" की नयी परिभाषा के अनुसार विनियोजकों को बोनस के रूप में प्राप्त पूर्वाधिकारी अंशों पर भी कर देना होगा।

नये विधान में वेतन की परिभाषा में भी कुछ ऐसे परिवर्तन किये गये हैं जिससे वेतन के अन्दर गिनी जाने वाली आय का क्षेत्र कुछ और विस्तृत कर दिया गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आय-कर का नया विधान कर-सम्बन्धी कानून को सरल, युक्तिसंगत और कड़ा बनाता है। आशा है कि इस विधान द्वारा कर-दाता एक ओर तो कर का बचाव न कर सकेंगे और दूसरी ओर पहले वाली कुछ परेशानियों से भी मुक्त हो जायेंगे।

सहायक पुस्तकों की सूची

अडारकर, बी० पी०,	"इंडियन फिस्कल पालिसी"
	"दि प्रिंसिपल्स ऐंड प्राब्लेम्स आफ़ फेडरल फाइनान्स"
अम्बेडकर, बी० आर०,	"दि इवोल्यूशन आफ प्राविंशियल फाइनान्स इन ब्रिटिश इंडिया"
आर्थर, स्मिथिज,	"दि बजटरी प्रोसेस इन दि युनाइटेड स्टेट्स"
ऐडम्स, एच० सी०,	"सायन्स आफ फाइनान्स"
ऐलेन और ब्राउन्ली,	"इकनामिक्स आफ पब्लिक फाइनान्स"
काल्डर, निकोलस,	"ऐन एक्सपेंडिचर टैक्स"
	"इंडियन टैक्स रिफार्म" (ए सर्वे रिपोर्ट)
केन्स, जे० एम०,	"हाउ टु पे फार दि वार"
	"मीन्स टु प्रास्पेरिटी"
	"दि जनरल थियरी आफ एम्प्लवायमेंट', इंटरेस्ट ऐंड मनी"
गैडगिल, डी० आर,	"फेडरेटिंग इंडिया"
	"दि फेडरल प्राब्लेम इन इंडिया"
गैडगिल, एन.वी. और वी० बिट्ठल बाबू	"स्टडीज इन डेथ ड्यूटीज"
ग्रेगरी, टी० ई० और नाटू डब्ल्यू० आर०,	"दि बर्डेन आफ दि इंडियन टैरिफ"
ग्रोव्ज, एच० एम०,	"ट्यूप्वाइट्स आन पब्लिक फाइनान्स"
	"पोस्ट वार टैक्सेशन ऐंड इकनामिक प्रॉग्रेस"

ज्ञानचन्द, "लोकल फाइनान्स इन इंडिया"
"दि फाइनेन्सियल सिस्टम आफ इंडिया"
"सम आस्पेक्ट्स आफ फिस्कल रिकान्स्ट्रक्शन इन इंडिया"
"दि एसेन्शियल्स आफ फेडरल फाइनान्स"
गुलाटी, आई० एस०, "केपिटल टैक्सेशन इन ए डेवलपिंग इकॉनॉमी"
चेस्टर, डी० एन०, "सेन्ट्रल एन्ड लोकल गवर्नमेंट फाइनैंसियल ऐंड ऐडमिनिस्ट्रेटिव रिलेशंस"
टामस, पी० जे०, "दि ग्रोथ आफ फेडरल फाइनान्स इन इंडिया"
टेलर, पी० ई०, "दि इकनामिक्स आफ पब्लिक फाइनांस"
डाल्टन, एच०, "प्रिंसिपल्स आफ पब्लिक फाइनान्स"
"सम आस्पेक्ट्स आफ दि इन्इक्वैलिटी आफ इन्कम्स इन माडर्न कम्यूनिटीज्"
डेवी, डी० आर०, "फाइनैंसियल हिस्ट्री आफ दि यूनाइटेंड स्टेट्स"
डे, एच० एल०, "इडियन टैरिफ प्राब्लेम"
दासगुप्त, बी० "प्राविंशियल टैक्सेशन अन्डर अटॉनॉमी"
पिन्टो, पी० जे० जे०, "दि सिस्टम आफ फाइनैंशियल ऐडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया"
पीगू, ए० सी०, "ए स्टडी इन पब्लिक फाइनान्स"
पोदुवाल, आर० एन०, "फाइनान्स आफ दि गवर्नमेंट आफ इंडिया सिन्स १९३५"
फिलिप्स जेल्ड, "इन्टर गवर्नमेन्टल फिस्कल रिलेशंस"
फिलिप्स, पी० ए० एम०, "पब्लिक फाइनान्स ऐंड लेस् डेवलप्ड इकॉनॉमी विद् स्पेशल रिफरेन्स टु लैटिन अमेरिका"

फिशर, इरविंग हर्बर्ट, डब्ल्यू०,	"कान्स्ट्रक्टिव इनकम टैक्सेशन"
बनर्जी, पी० एन०,	"प्राविन्शियल फाइनान्स इन इंडिया"
बर्च, ए० एच०,	"फेडरलिज्म, फाइनान्स ऐंड सोशल लेजिसलेशन इन कैनेडा, आस्ट्रेलिया ऐंड युनाइटेड स्टेट्स"
बैस्टेब्ल, सी० एफ०,	"पब्लिक फाइनान्स"
बिटरमन एच० जे०,	"स्टेट ऐंड फेडरल ग्रान्ट-इन-एड"
भार्गव, आर० एन०,	"दि प्रिंसिपल्स ऐंड प्राब्लेम्स ऑफ इनहेरिटेन्स टैक्स"
	"थियरी ऐंड वर्किंग आफ यूनियन फाइनान्स इन इंडिया"
	"पब्लिक फाइनान्स—इट्स थियरी ऐंड वर्किंग"
डि मार्को डे विटि,	"फर्स्ट प्रिन्सिपल्स आफ पब्लिक फाइनान्स" (ई० पी० मार्गेट द्वारा अनुवादित)
मिश्र, बी० आर०	"इंडियन प्राविन्शियल फाइनॉन्स"
	"इंडियन फेडरल फाइनॉन्स"
	"इकनामिक ऑस्पेक्ट्स आफ इंडियन कॉन्टिट्यूशन"
मेहता, जे० के०,	"दि नेचर, क्लासिफिकेशन ऐंड प्रिन्सिपल्स आफ पब्लिक रेवेन्यू ऐंड एक्सपेन्डिचर"
मेहता, जे० के० और अग्रवाल,	"पब्लिक फॉइनान्स"
एस एन० मैकग्रेगर, डी० एच०,	"सम आस्पेक्ट्स आफ फाइनान्स"
मैक्सवेल, जे० ए०,	"फिस्कल इम्पैक्ट आफ फेडरलिज्म इन दि युनाइटेड स्टेट्स"
राव, बी० के० आर० वी०,	"टैक्सेशन आफ इनकम इन इंडिया"
	"वार ऐंड इंडियन इकॉनॉमी"
रंगस्वामी ऐयंगर, के० बी०,	'सम ट्रेंड्स आफ माडर्न पब्लिक फाइनान्स

लंकासुन्दरम् और वी० बिट्ठल बाबू,	"यूनियन फाइनान्सेज"
लैकडावाला, डी० टी०,	"जस्टिस इन टैक्सेशन इन् इंडिया"
लुज , एच० एल०	"पब्लिक फाइनान्स"
लिडोम्, आर० डबल्यू०,	"इन्ट्रोडक्शन टु फिस्कल पालिसी"
वकील, सी० एन०,	"फाइनैन्शियल बर्डेन आफ वार इन इंडिया"
वकील, सी० एन० और पटेल, एच० एम०	"फाइनान्सेज अन्डर प्राविन्शियल अटॉनामी"
वाटल, पी० के०,	"फाइनेन्शियल ऐडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया"
	"ए० बी० सी० आफ इंडियन गवर्नमेंट फाइनान्स"
बल्लिक, एच० सी० और एडलर, जे० ए०,	"पब्लिक फाइनान्स इन ए डेवलपिंग कन्ट्री"
वाइनर, जे०	"इनफ्लेशन ऐज़ ए पॉसिबल रेमेडी फॉर दि डिप्रेशन"
विलर्ड ए० एच०, विलर्ड, एच० जी० और	"डेफिसिट स्पेंडिंग ऐंड दि नेशनल इनकम"
विल्लबी डब्ल्यू० डब्ल्यू०	"दि कैनेडियन बजॅटरी सिस्टम"
विक्रे, विलियम,	"एजेन्डा फॉर प्रॉग्रेसिव टैक्सेशन"
वेजवुड, जे०	"इकनामिक्स आफ इनहेरिटेन्स"
सरजोशिया स्टैम्प,	"वेल्थ ऐंड टैक्सेबल कैपेसिटी"
स्टुडेंस्कि,	"मेजरमेन्ट्स आफ वैरियेशन इन स्टेट इकानामिक ऐंड फिस्कल कैपेसिटी"
शर्मा, के० के०,	"पब्लिक फाइनान्स"
सम्पत्, ऐयंगर, ए० सी०,	"दि इंडियन इनकम टैक्स ऐक्ट"
सलिगमैन, ई० आर० ए०,	"डबल टैक्सेशन ऐंड इन्टरनेशनल कारपोरेशन्स"
	"एसेज़ इन टैक्सेशन"

	"स्टडीज़ इन पब्लिक फाइनान्स"
	"दि शिफ्टिंग ऐंड इन्सिडेन्स आफ टैक्सेशन"
शाह, के० टी०,	"फेडरल फाइनान्स इन इंडिया"
	"फेडरल स्ट्रक्चर"
	"प्राविन्शियल अटॉनामी"
	"सिक्सटी ईयर्स आफ इंडियन फाइनांस"
शिराज, जी० फिन्ड्ले,	"सायन्स आफ पब्लिक फॉइनॉन्स"
	"फेडरल फाइनान्स थ्रू पीस एन्ड वार"
सिंह, बी०,	फेडरल फाइनान्स एन्ड अन्डर-डेवलप्ड इकॉनामी"
हिक्स, यू० के०,	"पब्लिक फाइनान्स"
	"ब्रिटिश पब्लिक फाइनान्स"
	"दि पब्लिक फाइनान्स सर्वे ऑफ इंडिया"
हिक्स, जे० आर० श्रीमती हिक्स और डा० रोस्टस,	"दि टैक्सेशन ऑफ वार वेल्थ"
ह्यूबर्ड, जे० सी०,	"क्रियेशन आफ इनकम बाई टैक्सेशन"
हैन्सन, ए० एच०,	"फिस्कल पालिसी ऐंड बिज़िनेस साइकिल्स"
हेन्सन, ए० एच० और पेर्लाफ़ एच० एस०,	"स्टेट ऐंड लोकल फाइनान्स इन दि नेशनल इकॉनॉमी"
हैरिस, सी० एल०,	"गिफ्ट टैक्सेशन इन दि युनाइटेड स्टेट्स"
त्रिपाठी, आर० एन०,	"फिस्कल पालिसी ऐंड इकॉनॉमिक डेवलपमेन्ट इन इंडिया"
	"फेडरल फॉइनान्स इन डेवलपिंग इकॉनॉमी"

संयुक्त राष्ट्र संघ प्रकाशन

"मेथड्स आफ फाइनान्सिन्ग इकनॉमिक डेवलपमेंट इन अन्डर-डेवलप्ड कन्ट्रीज"
"डोमेस्टिक फाइनान्सिंग आफ इकनॉमिक डेवलपमेन्ट"
"मेजर्स फार दि इकनामिक डेवलपमेन्ट आफ अन्डर डेवलप्ड कन्ट्रीज"

भारत सरकार के प्रकाशन और रिपोर्ट

स्टैटिस्टिकल ऐब्स्ट्रैक्ट आफ इंडिया
प्रथम पंचवर्षीय आयोजन
द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन
तृतीय पंचवर्षीय आयोजन का प्रारूप
रिब्यू आफ दि फर्स्ट फाइव ईयर प्लॉन
रिजर्व बैंक आफ इंडिया द्वारा प्रकाशित "करेंसी एन्ड फाइनान्स" पर वार्षिक रिपोर्टें।
एक्सप्लेनेटरी मेमोरेन्डम ऑन दि बजट आफ दि सेन्ट्रल गवर्नमेन्ट
भारत का संविधान
इंडियन इनकम टैक्स ऐक्ट
" वेल्थ टैक्स ऐक्ट
" एक्सपेन्डिचर टैक्स ऐक्ट
" गिफ्ट टैक्स ऐक्ट
" इस्टेट ड्यूटी ऐक्ट
" सी कस्टम्स ऐक्ट
" लैण्ड कस्टम्स ऐक्ट
विविध राज्यों के सेल्स टैक्स ऐक्ट्स
वार्षिक फाइनान्स ऐक्ट्स

रिपोर्ट

आयकर अनुसंधान आयोग की प्रशासन रिपोर्ट (इनकम टैक्स इन्वेस्टिगेशन कमीशन की एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट),
सर ओटो नेमियर द्वारा इंडियन फाइनैन्सियल इन्क्वायरी रिपोर्ट, (१९३६,)

रिपोर्ट आफ दि इक्स्पर्ट कमिटी ऑन दि फाइनैन्सियल प्रॉविजन्स ऑफ दि यूनियन कॉन्स्टिट्यूशन, (१९४७)
फेडरल फाइनान्स कमिटी की रिपोर्ट, (१९३२)
फाइनान्स कमीशन की रिपोर्टें, (१९५२), (१९५७,)
राजकोषीय आयोग (फिस्कल कमीशन) की रिपोर्ट, (१९२२,)
" " " " " १९४९-५०,
इंडियन स्टेट्स फाइनान्स इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट (१९४८-४९)
दि लोकल फाइनान्स इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट (१९४९-५०)
दि टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी की रिपोर्ट (१९२४-२५)
दि टैक्सेशन इन्क्वायरी कमीशन रिपोर्ट (१९५३-५४)
दि कस्टम रिआर्गनाइजेशन कमिटी रिपोर्ट (१९५८)
दि डाइरेक्ट टैक्सेज ऐडमिनिस्ट्रेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट (१९५८-५९)

पारिभाषिक शब्दावली

A

Account	लेखा, खाता
Account, Public	लोक-लेखा, सरकारी लेखा
Additional Taxation	अतिरिक्त करारोपण
Additional Grant	अतिरिक्त अनुदान
Advance	अग्रिम
Agricultural Income Tax	कृषि-आय-कर
Annual Financial Statement	वार्षिक वित्तविवरण
Appropriation Bill	नियोजन विधेयक
Appellate Tribunal	अपीलीय ट्रिब्यूनल, या अपीलीय न्यायाधिकरण
Arbitral Tribunal	मध्यस्थ-न्यायाधिकरण
Arbitration Board	विवाचन मंडल
Assess	कर-निर्धारण करना
Assessing Officer	कर-निर्धारक अधिकारी
Assessee	कर-दाता
Assessment	कर-निर्धारण
Assets	सम्पत्तियाँ
Assets, Circulating	चल सम्पत्तियाँ
Assets, Fixed	स्थायी सम्पत्तियाँ
Assets, Floating	चल सम्पत्तियाँ
Audit	अंकेक्षण, लेखा-परीक्षण
Auditor	अंकेक्षक, लेखा-परीक्षक
Auditor-General	महालेखा-परीक्षक
Audit-Report	अंकेक्षण-प्रतिवेदन

Award	निर्णय, पंचाट

B

Balance	सन्तुलन
Balanced Budget	सन्तुलित बजट
Balanced Distribution	सन्तुलित वितरण
Balance of Payment	भुगतान-शेष
Betterment Levy	सुधार-कर
Bill	विधेयक
Bill of Exchange	विनिमय-पत्र
Bill of Lading	वहन-पत्र
Bonus	अधिलाभांश
Borrowing	उधार, ऋण
Budget	बजट, आय-व्ययक
Budget, Deficit	घाटे (कमी) का बजट
Budget, Revised	पुनरीक्षित बजट
Budget, surplus	बेशी का बजट
Budgetary Control	बजटीय नियंत्रण
Business Profit Tax	व्यावसायिक लाभकर
By-Product	गौण उत्पादन

C

Capital	पूंजी
Capital Gain	पूंजीगत लाभ
Capital Expenditure	पूंजीगत व्यय
Capital Gain Tax	पूंजी-लाभ कर
Capital Receipts	पूंजीगत प्राप्तियाँ
Capital-Tax	पूंजी-कर
Community Development Project	सामुदायिक विकास योजना

Commerce	वाणिज्य
Commerce, Chamber of	वाणिज्य-मण्डल
Commission	कमीशन, आयोग
Commissioner, Income Tax	आयकर आयुक्त
Company	कम्पनी
Company, Private	निजी या खासगी कम्पनी
Company, Public	सार्वजनिक कम्पनी
Compensation	क्षतिपूर्ति, हानिपूर्ति
Competition	प्रतियोगिता
Concurrent List	समवर्ती सूची
Consolidated Fund	संचित निधि
Consolidation of Holding	चकबन्दी
Consumption	उपभोग
Contingency Fund	आकस्मिकता निधि
Co-operative society	सहकारी समिति
Co-partnership	सह-साझेदारी
Corporation	निगम
Corporation Tax	निगम-कर
Cost	लागत
Cost, Marginal	सीमान्त लागत
Cost, Diminishing	घटती लागत
Cost, Increasing	बढ़ती लागत
Cost, Fixed	बँधी लागत
Cost, Nominal	नकद लागत
Cost, Real	असली लागत
Cost, Variable	घटती-बढ़ती लागत
Cost of Living	जीवन-निर्वाह खर्च
Cost of Living Index	जीवन निर्वाह खर्च सूचक
Cost of Production	उत्पादन लागत
Credit	साख, उधार

Credit, Expansion of	उधार-विस्तार
Cultivation, Marginal	सीमान्त खेती
Cultivator	कृषक, किसान
Currency	करेंसी, चलन
Customs Duty	सीमा-शुल्क
Customs House	सीमा शुल्क प्रशासनगृह

D

Date of Maturity	परिपाक-तिथि, भुगतान-दिवस
Days of Grace	रियायती दिन
Death-Duty	मृत्यु-कर
Debenture	डिबेंचर, ऋणपत्र
Debenture, Irredeemable	अशोधनीय ऋणपत्र
Debenture, Redeemable	शोधनीय ऋणपत्र
Debt, Public	लोक-ऋण
Deflation	अवस्फीति
Deflationary Tendency	अवस्फीति-प्रवृत्ति
Demand	माँग
Demand, Abnormal	असाधारण माँग
Demand, Contraction of	माँग का संकुचन
Demand, Direct	प्रत्यक्ष मांग
Demand, Effective	प्रभावी माँग
Demand, Elastic	मूल्य सापेक्ष माँग
Demand, Elasticity of,	माँग की लोच या माँग की मूल्यसापेक्षता
Demand, Inelastic	मूल्य-निरपेक्ष-माँग
Demand, Indirect	परोक्ष माँग
Demand, Law of	माँग का नियम
Demand, Marginal	सीमान्त माँग
Directive	निदेशन
Directive Principles of State Policy	राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्त

Directorate	निदेशनालय
Disutility	तुष्टिहीनता, अनुपयोगिता
Dividend	लाभांश
Duty	शुल्क, कर
Duty, Customs	सीमा-शुल्क
Duty, Death	मृत्यु-कर
Duty, Estate	सम्पत्ति-शुल्क
Duty, Excise	उत्पादन-शुल्क
Duty, Export	निर्यात-शुल्क
Duty, Import	आयात-शुल्क
Duty, Stamp	मुद्रांक-शुल्क

E

Earned Income	उपार्जित आय
Earning, Gross	कुल उपार्जन
Earning, Net	निबल या शुद्ध उपार्जन
Economic	आर्थिक
Economic Effort	आर्थिक प्रयास
Economic Freedom	आर्थिक स्वातन्त्र्य
Economic Incentive	आर्थिक प्रेरणा
Economic Motive	आर्थिक प्रयोजन
Economic Policy	आर्थिक नीति
Economy	अर्थ-व्यवस्था, मितव्ययिता
Economy, Mixed	मिश्रित अर्थव्यवस्था
Economy, Planned	आयोजनाबद्ध अर्थव्यवस्था
Economy, Underdeveloped	अर्द्ध विकसित अर्थव्यवस्था
Elasticity (of Demand or Supply)	मूल्य-सापेक्षता
Employment	रोजगार
Employment, Full	पूर्ण रोजगार

Enterprise	उद्यम, साहस, संस्था
Enterprise, Co-operative	सहकारी उद्यम
Enterprise, Private	खासगी या निजी उद्यम
Enterprise, Public	सार्वजनिक उद्यम
Enterprise, State	सरकारी उद्यम
Equilibrium	सन्तुलन
Equity	समत्व
Equity, Law of	समत्व का नियम
Equitable	समान, न्यायोचित
Equality	समानता
Equality of Income and Wealth	आय और धन की समानता
Estate Duty	सम्पत्ति-शुल्क, सम्पदा-कर
Estimates	मूल्यांकन, प्राक्कलन, अनुमान
Exchange	विनिमय
Exchange, Foreign	विदेशी विनिमय
Exchange, Produce	मंडी
Exchange, stock	स्कन्ध-विपणि, शेयर बाजार
Excess Profit Tax	अधिलाभ-कर
Excise Duty	उत्पादन-शुल्क
Executive	कार्य-पालिका
Exemption from Tax	कर-छूट, कर-विमुक्ति
Expenditure, Revenue	आगम-व्यय
Expenditure, Capital	पूँजी-व्यय
Expenditure, Development	विकास-व्यय
Exploitation	उपयोग, शोषण
Export	निर्यात
Export Duty	निर्यात शुल्क
Export, Invisible	अदृश्य निर्यात
Export, Visible	दृश्य निर्यात

Famine Relief	दुर्भिक्ष-सहायता
Farming, Cooperative	सहकारी खेती
Farming, Collective	सामूहिक खेती
Favourable Balance of Trade	अनुकूल व्यापार शेष
Favourable Rate of Exchange	अनुकूल विनिमय दर
Federal Finance	संघीय अर्थ-प्रबन्धन
Fee	फीस, शुल्क
Fee, Court	न्यायालय की फीस
Fiduciary	प्रत्ययी
Finance	वित्त
Finance Commission	वित्त आयोग
Finance, Local	स्थानीय वित्त
Finance, Public	राजवित्त
Financial Administration	वित्तीय प्रशासन
Financial Bill	वित्त विधेयक
Finance Act	वित्त अधिनियम
Firm, Partnership	साझेदारी फर्म
Firm, Representative	प्रतिनिधि फर्म
Fiscal Commission	राजकोषीय आयोग
Fiscal Policy	राजकोषीय नीति
Foreign Capital	विदेशी पूंजी
Foreign Investment	विदेशी विनियोग
Foreign Trade	विदेशी व्यापार
Fund	निधि, कोष
Fundamental Rights	मूल अधिकार
Future Market	वादा बाजार

G

Gains	लाभ

Gift-tax	अर्पण-कर, उपहार-कर
Gold-Reserve	स्वर्ण-प्रारक्षण
Goods, Economic	आर्थिक पदार्थ
Goods, Material	भौतिक पदार्थ
Goods, Non-material	अभौतिक पदार्थ
Goods, Non-transferable	अहस्तान्तरणीय पदार्थ
Goods, Transferable	हस्तान्तरणीय पदार्थ
Grants	अनुदान
Grants, Additional or Excess	अतिरिक्त अनुदान
Grants, Basic	मूल अनुदान
Grants, Exceptional	असामान्य अनुदान
Grants, Recurring	आवर्त्तक अनुदान
Grants, Supplementary	अनुपूरक अनुदान
Grants in Aid	सहायक अनुदान
Graduated Tax Rates	क्रमवर्द्धित कर की दरें

H

Hereditary Property	वंशानुगत सम्पत्ति
Holding	जोत
Holding, Uneconomic	घाटे की जोत
Holding, subdivision	जोतों का उपविभाजन

I

Import Duty	आयात-शुल्क
Impost	महसूल
Incentive to Produce	उत्पादन-प्रेरणा
Incidence of Tax	कर-भार
Income, Additional	अतिरिक्त आय
Income, Gross	कुल आय
Income, National	राष्ट्रीय आय

Income, Net	निवल या शुद्ध आय
Income Tax	आय-कर
Industrial Development	औद्योगिक विकास
Industrial Efficiency	औद्योगिक कुशलता
Industries, Infant	शिशु उद्योग
Industries, Key	मूल उद्योग
Industries, Nationalisation of	उद्योगों का राष्ट्रीयकरण
Inelasticity (of Demand and Supply)	मूल्य-निरपेक्षता
Inequality	असमानता
Inflation	स्फीति
Inflationary Tendency	स्फीति-प्रवृत्ति
Inheritance Tax	उत्तराधिकार-कर
Insurance Policy	बीमा पालिसी
Insurance Premium	बीमे की किस्त
Investment; Private	व्यक्तिगत विनियोग
Investment, Institutional	संस्थागत विनियोग
Irrigation Projects	सिंचाई योजनाएं
Irrigation Rate	सिंचाई-कर

J

Joint Hindu Family	संयुक्त हिन्दू परिवार

L

Labour Welfare	श्रमिक कल्याण
Laissez Faire	अबन्ध नीति, अहस्तक्षेप नीति
Land, Commission	भू-आयोग
Land Marginal	सीमान्त भूमि
Land Record	भू-अभिलेख
Land Reforms	भूमि-सुधार

Land Revenue	भू-राजस्व
Levy	उगाही, कर लगाना
Loan, Public	सार्वजनिक कर्जा, सरकारी कर्जा
Loan, Long term	दीर्घकालीन कर्जा
Loan, Short term	अल्पकालीन कर्जा
Loss, Gross	कुल हानि
Loss, Net	निवल या शुद्ध हानि

M

Market Rate	बाजार दर
Market Value	बाजार मूल्य
Means of Subsistence	जीवन-निर्वाह के साधन
Money Bill	धन-विधेयक
Mortgage	बन्धक
Mortgage, Land	भूमि बन्धक
Mortgagee	बन्धक ग्राही
Mortgager	बन्धक दाता

N

National Income	राष्ट्रीय आय
Nationalisation	राष्ट्रीयकरण
Necessaries, Absolute	अत्यावश्यक वस्तुएँ
Necessaries, Conventional	रूढ़ आवश्यकताएँ
No Rent Land	निरधिशेष भूमि, अभाटक भूमि
Net Proceeds	शुद्ध आगम

O

Octroi Duty	चुंगी
Optimum	इष्टतम
Overhead Cost	बंधी लागत
Overhead, Economic	आर्थिक आधारभूत मद

Overhead, social	सामाजिक आधारभूत मद
Overhead Expenses	बँधे खर्च

P

Partnership Deed	साझेदारी विलेख
Passing of Bill	विधेयक का पारण
Per annum	वार्षिक, प्रतिवर्ष
Per Capita	प्रति व्यक्ति
Per Cent	प्रतिशत
Policy, Commercial	व्यावसायिक नीति
Policy, Economic	आर्थिक नीति
Policy, Fiscal	राजकोषीय नीति या प्रशुल्क नीति
Policy, Monetary	मौद्रिक नीति
Policy, Taxation	कराधान नीति
Price, Actual	वास्तविक कीमत
Price, Average	औसत कीमत
Price, Controlled	नियंत्रित दाम या कीमत
Price, Fair	उचित कीमत
Price, Marginal	सीमान्त कीमत
Price, Market	बाजार-कीमत
Principle of Adequacy	पर्याप्तता का सिद्धान्त
Principle of Suitability	उपयुक्तता का सिद्धान्त
Principle of Transferability	हस्तान्तरण का सिद्धान्त
Produce, Gross	कुल पैदावार
Produce, Net	निवल या शुद्ध पैदावार
Productivity, Marginal	सीमान्त उत्पादकता
Profit, Abnormal	असामान्य लाभ
Profit, Gross	कुल लाभ
Profit, Marginal	सीमान्त लाभ
Profit, Net	शुद्ध लाभ

Profit and Loss Account	लाभ-हानि खाता
Prohibition	नशा-निषेध, मद्य-निषेध
Property, Immovable	अचल सम्पत्ति
Property, Landed	भू-सम्पत्ति
Property Movable	चल सम्पत्ति
Property Tax	सम्पत्ति-कर
Protective Duty	संरक्षण-शुल्क
Proxy	प्रतिपत्र
Public Utility Concern	जनोपयोगी संस्था
Public Debt	सरकारी ऋण

R

Rate	कर, दर
Redemption of Capital	पूंजी का शोधन या प्रतिदान
Redemption of Debit	ऋण का शोधन या प्रतिदान
Reflation	प्रत्यवस्फीति
Refund	धनवापसी
Refund, Tax	कर-वापसी
Rent, Economic	अधिशेष
Rent, Gross	कुल किराया
Rental Value	जमाबन्दी मूल्य
Reserve Fund	संचित कोष, प्रारक्षित निधि
Revenue	आय, राजस्व
Revenue, Net	शुद्ध राजस्व
Revenue, sources of,	राजस्व के स्रोत
Royalty	रायल्टी

S

Sales Tax	विक्री-कर
Savings	बचत

Sector, Private	गैर सरकारी क्षेत्र
Sector, Public	सरकारी क्षेत्र
Security	जमानत
Settlement	बन्दोबस्त
Settlement, Permanen t	स्थायी बन्दोबस्त
Settlement, Temporary	अस्थायी बन्दोबस्त
Shifting of Tax	करान्तरण
Sinking Fund	शोधन-निधि
Soil Conservation	मिट्टी का संरक्षण
Speculation	सट्टा
State Interference	सरकारी हस्तक्षेप
State List	राज्य सूची
Stock	स्कन्ध, रहतिया
Subsidy	उपदान
Succession Duty	उत्तराधिकार-कर
Super Tax	अतिकर
Surcharge	अधिकर

T

Tariff	टैरिफ, शुल्क-दर-सूची
Tax	कर
Tax Authority	कर-प्राधिकारी
Tax, Ad Valorem	मूल्यवार कर
Tax, Assessment of	कर-निर्धारण
Tax, Collection	कर-संग्रह
Tax, Commodity	वस्तु पर कर
Tax, Direct	प्रत्यक्ष कर
Tax Evader	कर-वंचक
Tax Evasion	कर-वंचन
Tax Exemption	करविमुक्ति, करछूट

Tax Free	कर-मुक्त
Tax, Indirect	अप्रत्यक्ष कर
Tax Limit	कर-सीमा
Tax, Multi	बहु कर
Tax, Multipoint	बहुस्तरीय कर
Tax-payer	करदाता
Tax, Progressive	प्रगामी या आरोही कर
Tax, Property	सम्पत्ति-कर
Tax, Purchase	क्रय कर
Tax, Rate of	कर की दर
Tax, Regressive	अवरोही कर
Tax, Revenue	कर-राजस्व
Tax, Single	एक कर
Tax, Singlepoint	एकस्तरीय कर
Tax, Terminal	चुंगी, सीमाकर
Tax, Toll	टोल
Taxable	करदेय
Taxable Capacity	करदेय योग्यता या करदान सामर्थ्य
Taxable Income	करयोग्य आय
Taxation	करारोपण या कराधान
Taxation, Canons of	कराधान के सिद्धान्त
Taxation, Slab System of	कराधान की शिला-पद्धति
Taxation, Step System of	कराधान की सोपान-पद्धति
Tenant	काश्तकार, रैयत
Tenancy	काश्तकारी, रैयतदारी
Tenure	पट्टा
Tenure, Land	भूमि-पट्टा, भूधृति
Trade Discount	व्यापारिक बट्टा
Trade, Interstate	अंतर्राज्यिक व्यापार
Trade, Free	मुक्त व्यापार

Treasury	राजकोष, ट्रेजरी
Treasury Bill	राजकोष पत्र
Trust, Charitable	दातव्य प्रन्यास
Trustee	प्रन्यास-धारी
	U
Unearned Income	अनुपार्जित आय
Union List	संघ सूची
	V
Valuation	मूल्यांकन, मूल्य-निर्धारण
Value, Face	पृष्ठ मूल्य, अंकित मूल्य
Value, Intrinsic	यथार्थ मूल्य
Vocation	वृत्ति, उद्यम
Voucher	प्रमाणक, वाउचर
	W
Wants	आवश्यकताएँ
Ways and Means Advance	अर्थोपाय पेशगी
Wealth, Net	शुद्धधन
Wealth Tax	धन-कर
Welfare State	कल्याण राज्य
Wear & Tear	घिसाव, टूट-फूट
Winding up	समापन
	Y
Yield	उपज
Yield, Gross	कुल उपज
Yield, Net	शुद्ध उपज
Yield, Marginal	सीमान्त उपज
	Z
Zamindari Abolition	जमींदारी-उन्मूलन
Zamindari System	जमींदारी प्रथा